प्रकाशक—
मूलचंद किसनदास कापड़िया
ऑ० प्रकाशक जैनमित्र व मालिक दिगम्बर जैन
पुस्तकालय, चंदावाड़ी-सूरत।

मुद्रक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया—
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चकला-सूरत।

भूमिका।

यह श्री प्रवचनसार ग्रन्थ जैनागमका सार है। इसमें तत्व-ज्ञान और चारित्रका तत्वरसगर्भित विवेचन है। इसमें तीन अधिकार हैं-ज्ञानतत्त्व, ज्ञेयतत्त्व और चारित्र जिनमेंसे इस खंडमें ज्ञानतत्त्व प्रतिपादक खण्डका उल्था विस्तारपूर्वक इसीलिये किया गया है कि भाषाके जाननेवाले सुगमतासे इसके भावको जान सकें। इसके मूलकर्ता श्री० कुंदकुंदाचार्य हैं जिन्होंने प्राकृत गाथाएं रचीं हैं। इसपर दो संस्कृत टीकाएं मिलती हैं-एक श्री अमृतचंद्राचार्य कृत, दूसरी श्री जयसेनाचार्यकृत। पहलेकी टीकाके भावको आगरा निवासी पं० हेमराजजीने प्रगट किया है जो मुद्रित होचुका है, परन्तु जयसेनकृत वृत्तिका हिंदी उल्था अबतक कहीं जाननेमें नहीं आया था। तब जय०नाचार्यके भावको प्रगट करनेके लिये हमने विद्याबल न होते हुए भी इसका हिंदी उल्था किया है सो पाठकगण ध्यानसे पढ़ें। तथा जहां कहीं भ्रम मालूम पड़े मूल प्रति देखकर शुद्ध करलें। हमने अपनी बुद्धिसे प्रत्येक गाथाका अन्वय भी कर दिया है जिससे पढ़नेवालोंको शब्दोंके अर्थका बोध होजावे। वृत्तिकारके अनुसार विशेष अर्थ देकर फिर हमारी समझमें जो गाथाका भाव आया उसे भावार्थमें खोल दिया है।

श्री कुंदकुंदाचार्यका समय विक्रम सं० ४९ है ऐसा ही

दि० जैन पट्टावलियोंसे प्रगट है तथा इनके शिष्य श्री तत्वार्थ-सूत्रके कर्ता श्रीमदुमास्वामी महाराज थे, जिनका समय विक्रम सं० ८१ है। उनकी मान्यता जैन संघमें श्री गौतमस्वामी तथा श्री महावीरस्वामीके तुल्य है इसीसे हर ग्राममें जब जैन शास्त्र सभा होती है तब आरम्भमें यह श्लोक पढ़ा जाता है—

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं॥

श्री पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार, षट्पाहुड़, रयणसार, द्वादशानुप्रेक्षा आदि कई ग्रंथोंके कर्ता श्री कुंदकुंदाचार्यजी हैं। श्री जयसेनाचार्यका समय श्री अमृतचन्द्रके पीछे मालूम होता है। श्री अमृतचन्द्रका समय दशवीं शताब्दी है। इनके लगभग श्री जयसेनाचार्यका समय होगा। यह टीका शब्दबोध समझानेके लिये बहुत सरल है। पाठकगणोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकको अच्छी तरह पढ़कर हमारे परिश्रमको सफल करें। तथा ग्रन्थका प्रचार शास्त्रसभा द्वारा व्याख्यान करके करते रहें।

इन्दौर
आषाढ वदी १२
ता० १८-७-२१

जैनधर्मका प्रेमी—
ब्र० सीतलप्रसाद।

—⊱※⊰—

विषयसूची ।

संक्षिप्त परिचय-

सेठ गिरधारीलाल चंडीप्रसादजी।

सीकर (राजपूताना) जयपुरका मण्डलवर्ती राज्य तथा शेखावाटीका एक परिगणनीय भाग है। सीकरकी राज्य व्यवस्था सात परगनोंमें विभक्त है जिसमें तहसील फतहपुर एक बहुत बड़ा और प्रख्यात शहर है। यह सीकर (राजधानी) से १६ कोशकी दूरीपर बसा हुवा है। वर्तमान सीकर-नरेश रावराजा कल्याणसिंहजी हैं। फतेहपुरमें दिगम्बर भाइयोंके १५०-२०० घर हैं तथा दो मंदिर भी हैं जिनमें एक मंदिर अति प्राचीन है।

इसी नगरमें सेठ गुलाबरायजी सरावगी (श्रावक) अग्रवाल गर्गगोत्रीके संवत् १९२८ में एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुवा जिनका नाम गिरधारीलालजी था। पाठक, जिन दो भाइयोंका चित्र देख रहे हैं वे आपहीके पुत्र हैं।

गिरधारीलालजी फतेहपुरसे १४ वर्षकी अवस्थामें कलकत्ते आये उस समय आपकी आर्थिक अवस्था साधारण थी। अतः आप एक परिचित व्यापारीके यहां कार्य सीखते रहे। ८-१० वर्ष बाद आपके शुभ कर्मोंका उदय हुवा और आपने कपड़ेकी दलाली करनी आरंभ की। तभीसे आपकी स्थिति दिनों दिन बढ़ने लगी और आप भगवान जिनेन्द्रकी कृपासे लक्षाधिपति बन गये।

स्वर्गीय सेठ गिरधारीलालजीके पुत्र–

सेठ चंडीप्रसादजी तथा चि० देवीप्रसादजी–कलकत्ता।

"जैनविजय" प्रेस–सूरत।

आपके तीन संतान हुईं जिनमें प्रथम श्रीयुत चंडीप्रसाद-जीका जन्म संवत् १९४४ में हुवा। द्वितीय संतान आपके एक कन्या हुई और तृतीय संतान चि० देवीप्रसादका जन्म संवत १९६२ में हुवा।

सेठ गिरधारीलालजी बड़े मिलनसार तथा पर दुःख सुखमें सहयोग देनेवाले थे। धार्मिक नियमोंको भी आप यथासाध्य पालते थे। योंतो आप श्री सम्मेदाचलकी यात्रा ३–४ वार कर आये थे पर संवत १९७७ में अर्थात् स्वर्गारोहण (सं० १९७८) के ८–९ मास पूर्व ही आपको पुनः एकाएक तीर्थयात्रा करनेकी लालसा हुई। सो ठीक ही है, जिसकी गति अच्छी होनेको होती है उसके विचार धर्मकी ओर ऋजु हो जाते हैं। अतएव आप कर्मकी निर्जरा हेतु सपरिवार प्रायः सारे तीर्थोंके दर्शनकर आये और यथाशक्ति दान भी किया तथा श्री सम्मेदशिखरजीमें यात्रियोंके लिये एक कमरा भी बनवा आये। आपने कलकत्तेके रथोत्सवपर एकवार श्री जिनेन्द्र भगवानका रथ भी हांका था। मृत्यु समयमें भी आपने ५०००) का दान किया था।

आपके दोनों पुत्र (चित्रमें) पिताके जीवन कालहीमें व्यापारनिपुणता प्राप्तकर चुके थे और अपने पिताको उनकी मृत्युके दो वर्ष पूर्व ही व्यापारसे मुक्तकर धर्मध्यानमें लगा दिया था। "यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्" की कहा कहावतके अनुसार ये दोनों भाई धर्माचरण करनेवाले, सरलस्व-भावी, मिलनसार, परोपकारार्थ धन लगानेवाले और सदाचारी हैं।

पूजनपाठ, शास्त्रश्रवण तथा स्वाध्याय व्रतादि भी यथाशक्ति करते हैं। आपकी माताजी भी बड़ी धर्मात्मा हैं। क्यों न हो, जिनके पुत्रादि इस प्रकारके सज्जन हों उस माताका क्या कहना!

वीर निर्वाण संवत् २४४८ में जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजी महाराज जब कलकत्तेमें चातुर्मास (वर्षाकाल) विता रहे थे उस समय ब्रह्मचारीजीने जो यह टीका लिखी थी उसको प्रकाशन तथा "जैनमित्र" के ग्राहकोंको वितरण करनेके लिये श्रीयुत चंडीप्रसादजीसे आदेश किया कि आप अपने स्वर्गीय पिताकी स्मृति स्वरूप यह श्री जिनवाणी रक्षा तथा धर्म-प्रसादका कार्यकर लेवें। तब आपने तत्क्षण ब्रह्मचारीजीकी आज्ञाको शिरो-धार्य किया और यह ग्रंथ-रत्न आज पाठकोंके कर-कमलोंमें धर्मपथ प्रदर्शनार्थ इन्हीं भाइयोंकी सहायतासे सुशोभित हो रहा है। परिवर्तनरूप संसारमें इसी प्रकारका दान साथ देता है। हां, इतना अवश्य है कि इस प्रकार शुभ और धार्मिक कार्योंमें उन्हीका द्रव्य लग सकता है जिनका द्रव्य अहिंसा और सत्य व्यापारसे उपार्जित हो।

भगवान् श्री जिनेन्द्र देवसे प्रार्थना है कि आप दोनों भाइ-योंको चिरायु प्राप्त हो तथा आपके धार्मिक विचार दिनोंदिन उन्नति करें।

स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम्
परिवर्तिनि संसारे, मृतः को वा न जायते ॥

विनीत-**छोटेलाल जैन**,-कलकत्ता।

शुद्धयशुद्धि ।

पत्रे	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
१	११	करते हैं	करके परम चारित्रका आश्रय करता हूं ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं
३	१८	कम्म लं	कम्ममलं
१५	१२	ओ	जो
१८	७	उवसंप मि	उवसंपयामि
२८	१९	आत्मा	वीतराग तथा सराग भावमें परिणमन करता हुआ आत्मा
३०	११	काया	कार्यों
३१	२	अशुभोपयोग	शुभोपयोग
३६	१०	अपरिणामीके	अपरिणामीक
,,	१२	उसमें घी	उसमेंसे घी
४३	११	अतीन्दिय	अतीन्द्रिय
४८	११	हस्तावकम्न	हस्तावलम्बन
४९	२३	ग सिद्धानाम्	ग प्रसिद्धानाम्
५०	१८	मुख	सुख
५४	२	ह	हर्ष
५६	१८	तौ	जाय तौ

पत्रे	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
„	२१	हैं	रखते हैं
„	२२	करता	करता है
५६	२३	जब तक	है जबतक
७८	२	१	१९
८९	१९	स्थित्व्यर्थ	स्थित्यर्थे
९८	१४	तक	यहां तक
„	१७	योंकी	लिये इन्द्रियोंकी
९९	१९	ज्ञान	आत्मा ज्ञान
१०३	१	जह	जहां
„	६	रते	करते
„	१८	जो	जो आत्माको
१०४	९	न	हीन
१०६	८	आत्मज्ञान	आत्मा ज्ञान
„	१२	कामका	कामको
१०७	७	सुखसे	गुणसे
११५	८	व्यक्तता	व्यक्तृतामें
१२५	५	कि धर्म जैसे	कि जैसे
१२८	२०	आनात्मा	अनात्मा
१३१	१५	तथा	है तथा
१४३ नीचेसे	१	और और	और
१४६	३	प्रवण	द्रवण
१४७	११	आगामी	भूत

पत्रे	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
१४८	२	स्कुरायमान	स्फुरायमान
१६९	१७	बंधका बंध	बंधका
१६७	८	कर्मों	कर्मोंका
,,	२१	यदि	यदि राग
१७३	१	करते	न करते
१७५	१	किंतु भीतर	भीतर
१७६	१०	मोहाहिभिः	मोहादिभिः
१७८	१९	बन रहो	न रहो
१८९	नीचे २	परिणमता	परिणमाता
१९२	७	वह	सत्ता वह
१९६	७	अशक्ति	आशक्ति
२०३	१६	ज्ञान	ज्ञान होता है
२०५	१६	जाल	लाल
,,	२१	बन्द	बन्ध
२०६	१२	परिणमति	परिणति
२०८	नीचेसे २	अभुत्तो	अमुत्तो
२१९	४	करण	कारण
,,	१९	पच्चक्ख	पच्चक्खं
२३१	१६	दष्ट	इष्ट
२३४	१९	श्रत्वा	श्रुत्वा
२४१	२	दुःखं	दुःखं
२४२	१८	सी	उसी

पत्रे	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
२४५	६	यषां	येषां
२४७	१७	तिष्ठता	तिष्ठना
,,	,,	करता	करना
२५२	१८	अब तरह	सब तरह
२५७	२१	मोह	मोह हटाकर निजमें
,,	२१	आदि	आदि रात्रिको
२८१	२	आशक्तिके	आशक्तिके वश
२८८	२	यकी	भीतर भी विषयकी
२९०	३	नौकर्म	नोकर्म
२९८	२१	ससारं....	संसारं मोह....
३०८	१४	पदमिद	पदमिदं
३०९	१०	आदिक	आदिकका
३१२ नीचेसे १		काण	करण
३१३ नीचेसे ४		मास्त	मास्ते
३१५	११	और	और आत्मामें मूढता दूर करनेके लिये ज्ञान
३१७	१०	मारुहिंड	मारुहिंड
३२० गाथा ८८			गाथा ८० से ८८ तक नं० गलत हैं यहांतक ८९ चाहिये
३२१	३	रणा	प्रेरणा

पन्ने	का०	अशुद्धि	शुद्धि
३२७	१९	करने	कराने
३२८	१२	भवाम्बोधा	भवाम्बोधौ
„	१५	सयुतम्	संयुतम्
३३८	१०	नता है	जानता है
३४३	१८	मिट्टी गुप्त	मिट्टीमें गुप्त
३४४	१४	नों	दोनों
„	१५	हैं	रहे हैं
३४७	२१	यन	येन
३४८	१४	ओंसे	छः गाथाओंसे
३५०	नीचेसे२	भेद विज्ञानके	भेद विज्ञान
३५३	१८	स्वभाववाप्ति	स्वभावावाप्ति
३७०	२१	रुची	रुचि
३७१	१२	आ देश	आदेश
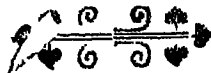
श्रीकुंदकुंदस्वामी विरचित-

श्रीप्रवचनसार भाषाटीका।*

दोहा-परमातम आनंदमय, ज्ञान ज्योतिमय सार।
भोगत निज सुख आपसे, आपी में अविकार॥

अष्ट करमको नष्ट कर, निज स्वभाव झलकाय।
परम सिद्ध निजमें रमी, वंदहु मनवच काय॥
परम पूज्य अरहंत गुरु, जिनवाणीके नाथ।
सकल शुद्ध परमात्मा, नमहुं जोड़ निज हाथ॥
रिषभ आदि महावीर लों, चौवीसों जिन राय।
परम शूर शुद्धात्मा, नमहुं नमहुं गुण गाय॥
गौतम गणके ईश मुनि, जंबू और सुधर्म।
पंचम युग केवलि भए, प्रगटायो जिन धर्म॥
कर प्रणाम अर नमनकर, श्रुत केवलि समुदाय।
अंग पाठि मुनिवर सबै, निज पर तत्व लखाय॥
कुंद कुंद आचार्यके, गुण सुमरूं हरवार।
जिनके वचन प्रमाण हैं, जिनवर वच अनुसार॥
सार तत्व निज आतमा, दिखलावन रविसार।
संशय विभ्रम मोह तम, हरण परम अविकार॥

---

* प्रारंभ-श्रावण वदी १४ वि० सं० १९७९ ता० २३-८-२२।

जा जाने श्रद्धे विना, पथ सम्यक् न लखाय ।
तिस आतमका भाव सब, भिन्नर दरशाय ॥
स्वसंवित्तिसे सार सुख, भोग भोग हुलशाय ।
अन्य भव्य पर कृपा कर, मारग दियो बताय ॥
तिस गुरुका आगम परम, है एक प्रवचन सार ।
चंद्रामृत टीका रची, संस्कृतमें गुणकार ॥
द्वितीय वृत्ति जयसेनने, लिख निज सुधा दहाय ।
ताका पय कर सुखभवो, रुचि बाढ़ी अधिकाय ॥
प्रथम वृत्ति भाषा करी, हेमराज बुधवान ।
द्वितीय वृत्ति भाषा नहीं, हुई अब तक यह जान ॥
मंद बुद्धि पर रुचि घनी, ताके ही परसाद ।
बालबोध भाषा लिखूं, कर प्रमादको वाद ॥
निज अनुभवके कारणे, पर अनुभवके काज ।
जो कछु उद्यम बन पड़ा, है सहाय जिनराज ॥

आगे श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिके अनुसार श्री प्रवचनसार आगमकी भाषा वचनका लिखी जती है ।

प्रथम ही वृत्तिकारका मंगलाचरण है ।

श्लोक-नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥ १ ॥

भावार्थ-परम चैतन्यमई अपने आत्मासे उत्पन्न सुख संपत्तिके धर्ता और परमागमके सार स्वरूप श्री सिद्ध परमेष्टीको नमस्कार हो ।

प्रथम श्लोककी उत्थानिका:—एक कोई निकट भव्य शिवकुमार नामधारी थे जो स्वसंवेदनसे उत्पन्न होनेवाले

परमानन्द मई एक लक्षणके धारी सुख रूपी अमृतसे विपरीत चार गति मई संसारके दुःखोंसे भयभीत थे। व जिसमें परम भेदज्ञानके द्वारा अनेकान्तके प्रकाशका माहात्म्य उत्पन्न होगया था व जिन्होंने सर्व खोटी नयोंके एकान्तका हठ दूर करदिया था तथा जिन्होंने सर्व शत्रु मित्र आदिका पक्षपात छोड़कर व अत्यन्त मध्यस्थ होकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्तसार, और आत्महितकारी व अविनाशी तथा पंच परमेष्ठीके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले, मोक्ष लक्ष्मी रूपी पुरुषार्थको अंगीकार किया था। श्री वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेवको आदि लेकर भगवान पांच परमेष्टियोंको द्रव्य और भाव नमस्कारके द्वारा नमस्कार करते हैं।

भावार्थ-यद्यपि यहां टीकाकारके इन शब्दोंसे यह झलकता है कि शिवकुमारजी आगेका कथन करते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। आगेके व्याख्यानोंसे झलकता है कि स्वामी कुंदकुदाचार्य ही इस ग्रन्थके कर्ता हैं तथा शिवकुमारजी मुख्य प्रश्नकर्ता हैं-शिवकुमारजीको ही उद्देश्यमें लेकर आचार्यने यह ग्रन्थ रचा है।

गाथा-

एस सुरासुरमणुसिंद, वंदिदं धोदघाइकम्म-लं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥

संस्कृत छाया—

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम्।
प्रणमामि वर्धमानं तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ॥ १ ॥

सामान्यार्थ-यह जो मैं कुन्दकुन्दाचार्य हूं सो चार प्रकार देवोंके और मनुष्योंके इन्द्रोंसे वंदनीक, घातिया कर्मोको धोनेवाले, धर्मके कर्त्ता, तीर्थस्वरूप श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(एस) यह जो मैं ग्रन्थकार ग्रन्थ करनेका उद्यमी भया हूं और अपने ही द्वारा अपने आत्माका अनुभव करनेमें लवलीन हूं सो (सुरासुरमणुसिंद वंदिदं) तीन जगतमें पूजने योग्य अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंके आधारभूत अर्हतपदमें विराजमान होनेके कारणसे तथा इस पदके चाहनेवाले तीन भवनके बड़े पुरुषों द्वारा भले प्रकार जिनके चरणकमलोंकी सेवा की गई है इस कारणसे स्वर्गवासी देवों और भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी देवोंके इंद्रोंसे वंदनीक, (धोरघाइकम्ममलं) परम आत्म लवलीनता रूप समाधि भावसे जो रागद्वेषादि मलोंसे रहित निश्चय आत्मीक सुखरूपी अमृतमई निर्मल जल उत्पन्न होता है उससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके मलको धोनेवाले अथवा दूसरोंके पापरूपी मलके धोनेके लिये निमित्त कारण होनेवाले, (धम्मस्स कत्तारं) रागादिसे शून्य निज आत्मतत्वमें परिणमन रूप निश्चय धर्मके उपादान कर्त्ता अथवा दूसरे जीवोंको उत्तम क्षमा आदि अनेक प्रकार धर्मका उपदेश देनेवाले (तित्थं) तीर्थ अर्थात् देखे, सुने, अनुभवे इन्द्रियोंके विषय सुखकी इच्छा रूप जलके प्रवेशसे दूरवर्ती परमसमाधि रूपी जहाज पर चढ़कर संसारसमुद्रसे तिरनेवाले अथवा दूसरे जीवोंको संसार सागरसे

पार होनेका उपाय मई एक जहाज स्वरूप (वड्ढमाणं) सब तरह अपने उन्नतरूप ज्ञानको धरनेवाले तथा रत्नत्रय मई धर्म तत्वके उपदेश करनेवाले श्री वर्धमान तीर्थंकर परमदेवको (पणमामि) नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यहां ग्रंथकर्ता श्रीकुंदकुंदाचार्य देवने ग्रंथकी आदिमें मंगलाचरण इसी लिये किया है कि जिस धर्म तीर्थके स्वामी श्री वर्द्धमान स्वामी थे उसी धर्मका वर्णन करनेमें उन्हींके गुण और उपदेशोंमें हमारा मन लवलीन रहे जिससे सम्यक् प्रकार उस धर्मका वर्णन किया जासके। यह तो मुख्य प्रयोजन मंगलाचरणका है। तथा शिष्टाचारका पालन और अंतराय आदि पाप प्रकृतियोंके अनुभागका हीनपना जिससे प्रारम्भिक कार्यमें विघ्न न हो गौण प्रयोजन है। महान पुरुषोंका नाम लेना और उनके गुणोंको स्मरण करना उसी समय मनको अन्य चिन्तवनोंसे हटाकर उस महापुरुषके गुणोंमें तन्मय कर देता है जिससे परिणाम या उपयोग पहलेकी अपेक्षा उस समय अधिक विशुद्ध हो जाता है—उसी विशुद्ध उपयोगसे धर्मभावनामें सहायता मिलती जाती है। जबतक इस क्षेत्रमें दूसरे तीर्थंकर द्वारा उपदेश न हो तबतक श्री वर्द्धमान स्वामीका शासनकाल समझा जाता है। वर्तमानमें जो गुरु द्वारा या आगम द्वारा उपदेश प्राप्त हो रहा है उसके साक्षात् प्रवर्त्तक श्री वर्द्धमान स्वामी हुए हैं। इसीसे उनके महत् उपकारको स्मरणकर आचार्यने चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान भगवानको नमस्कार किया है। क्योंकि गुणों हीके द्वारा कोई व्यक्ति पूज्य होता है तथा गुणोंका ही

असर स्मरण करनेवालेके चित्तमें पड़ता है इस लिये आचार्यने गाथामें श्री वर्द्धमान स्वामीके कई विशेषण दिये हैं । पहला विशेषण देकर यह दिखलाया है कि प्रभुके गुणोंका इतना महत्त्व है कि जिनके चरणोंको चार तरहके देवोंके सब इन्द्र नमन करते हैं तथा चक्रवर्ती राजा भी नमस्कार करते हैं । इससे यह भाव भी सूचित किया है कि हमारे लिये आदर्शरूप एक अरहंत भगवान ही हैं-किन्तु कषाय रूप अंतरंग और बस्त्रादि बाह्य सामग्री रूप बाह्य परिग्रह धारी कोई भी देव या मनुष्य नहीं इसी लिये हमको श्री अरहंत भगवानमें ही सुदेवपनेकी बुद्धि रखकर उन्हींका पूजन मनन तथा भजन करना चाहिये । दूसरे विशेषणसे श्री अरहंत भगवानका अंतरंग गौरव बताया है कि जिन चार घातिया कर्मोंने हम संसारी आत्माओंकी शक्तियोंको छिपा रक्खा है उन घातिया कर्मोंका नाशकर प्रभूने आत्माके स्वाभाविक विशेष गुणोंको प्रकाश कर दिया है । अनंत ज्ञान और अनन्त दर्शनसे वह प्रभु सर्व लोक अलोकके पदार्थोंको उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंके साथ विना क्रमके एक ही समयमें जान रहे हैं । उनको किसी पदार्थके किसी गुणके जाननेकी चिन्ता नहीं रहती । वह सर्वको जानकर परम संतुष्ट हैं। जैसे कोई विद्वान अनेक शास्त्रोंका मरमी होकर उनके ज्ञानसे सन्तुष्ट रहता है और उनकी तरफ लक्ष्य न देते हुए भी भोजन व भजनमें उपयुक्त होनेपर भी उन शास्त्रोंका ज्ञाता कहलाता है वैसे केवली भगवान सर्व ज्ञेयोंको जानते हुए भी उनकी तरफ उपयुक्त नहीं है । उपयुक्त अपने आपमें ही अपने स्वभावसे हैं इसीलिये अपने आनन्दमई अमृतके स्वादी होरहे हैं ।

न उनको किसी ज्ञेयके जाननेकी न किसी ज्ञेयके भोगनेकी चिंता है। वे परम तृप्त हैं। अनंत वीर्यके प्रगट होनेसे वे प्रभु अपने स्वभावका विलास करते हुए तथा स्वसुख स्वाद लेते हुए कभी भी थकन, निर्बलता तथा अनुत्साहको प्राप्त नहीं होते हैं। न उनके शरीरकी निर्बलता होती है और न उस निर्बलताके कारण कोई आत्मामें खेद होता है इसीलिये प्रभुके उपयोगमें कभी भी भूख प्यासकी चाहकी दाह पैदा नहीं होती, विना चाहकी दाहके वे प्रभु मुनिवत् भिक्षार्थ जाते नहीं और न भोजन करते हैं। वे प्रभु तो स्वात्मामें पूर्ण तरह मस्त हैं। उनके कोई संकल्प विकल्प नहीं होते हैं। उनका शरीर भी तपके कारणसे अति उच्च परमौदारिक हो जाता है। उस शरीरको पुष्टि देनेवाली आहारक वर्गणाएं अंतराय कर्मके क्षयसे विना विघ्नके आती हैं। और शरीरमें मिश्रण होकर उसी तरह शरीरको पुष्ट करती हैं। जिस तरह वृक्षादिके बिना मुखसे खाए हुए मिट्टी, जलादि सामग्रीका ग्रहण होता और वृक्षादिका देह पुष्ट होता है। वे समाधिस्थ योगी साधारण मानुषीय व्यवहारसे दूरवर्ती जीवन्मुक्त परमात्मा होगए हैं। अनंत बल उनको कभी भी असंतुष्ट या क्षीण नहीं अनुभव कराता। अनंत सुख प्रगट होनेसे वे प्रभु पूर्ण आत्मानंदको विना किसी विघ्नबाधा या व्युच्छित्तिके भोगते रहते हैं। मोहनीय कर्मके क्षय होजानेसे प्रभुके क्षायिक सम्यक्त तथा क्षायिक चारित्र विद्यमान है जिससे स्वस्वरूपके पूर्ण श्रद्धानी तथा वीतरागतामें पूर्ण तन्मय हैं। वास्तवमें चार घातिया कर्मोंसे मलीन आत्माओंके लिये चार

घातिया कर्मोंसे रहित अरहंत परमात्मा ही उपादेय या भक्तिके योग्य होसक्ते हैं। तीसरे विशेषणसे यह बताया गया है कि प्रभुने इस जीवोंका बहुत बड़ा उपकार किया है अर्थात् जिस धर्मसे जीव उत्तम सुखको प्राप्त करें ऐसे सम्यक् धर्मको उन्होंने अपनी दिव्य वाणीसे प्रकाश किया है। इस विशेषणसे आचार्यने यह भी प्रगट किया है कि सशरीर परमात्मा हीके द्वारा निर्बाध और हित रूप धर्मका उपदेश हो सक्ता है। वचन वर्गणाएं पुद्गलमई हैं उनका शब्द रूप संगठन अथवा उनका प्रकाश शरीर रहित अमूर्तीक परमात्मासे नहीं हो सक्ता है। इसीलिये शरीररहित सिद्ध परमात्मा हितोपदेश रूपी गुणसे विशिष्ट नहीं माने जाते किन्तु शरीर सहित अर्हंत भगवान् सर्वज्ञ और वीतराग होनेके सिवाय हितोपदेशी भी माने जाते हैं। चौथे विशेषणसे यह बताया है कि श्री वर्द्धमानस्वामी तीर्थ तुल्य हैं अथवा तीर्थंकर पदविशिष्ट हैं। जैसे तीर्थ या जहाज़ स्वयं तिरता है और दूसरोंके पार होनेमें सहाई होता है वैसे अरहंत भगवान स्वयं संसार-सागरसे पार हो स्वाधीन मुक्त होजाते हैं और उनका शरण लेकर जो उन्हींके समान हो उनहींके सदृश आचरण करते हैं वे भी भव उदधिसे पार उतर जाते हैं। अथवा वे वर्द्धमान स्वामी सामान्य केवली नहीं हैं किन्तु विशेष पुण्यात्मा हैं—तीर्थंकर पद धारी हैं—जिन्होंने पूर्वकालमें १६ कारण भावनाओंके द्वारा जगतका सम्यक् हित विचारा जिससे तीर्थंकर नाम कर्म बांधा और तीर्थंकर पदमें अपने विहारसे अनेक जीवोंको परम मार्ग दर्शाकर उनका परम कल्याण किया। ऐसे चार गुण विशिष्ट वर्द्धमान

स्वामीको उनके गुण स्मरणरूप भाव और वचन काय नमन रूप द्रव्य नमस्कार किया है। इस मंगलाचरणसे आचार्यने अपनी प्रमाणता भी प्रगट की है कि हम श्री वर्द्धमान तीर्थंकरके ही अनुयायी हैं और उन्हींके ज्ञान समुद्रका एक बिंदु लेकर हमने अपना हित किया है तथा परहितार्थ कुछ कहनेका उद्यम बांधा है।

उत्थानिका–आगेकी गाथामें आचार्यने अन्य २३ तीर्थंकर तथा अन्य चार परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है—

सेसे पुण तित्थयरे, ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसण चरित्ततववीरियायारे ॥२॥

शेषान् पुनस्तीर्थंकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान्।
श्रमणांश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ–तथा मैं निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभावधारी शेष श्री वृषभादि पार्श्वनाथ पर्यंत २३ तीर्थंकरोंको और सर्व सिद्धोंको तथा ज्ञान दर्शन चारित्र, तप वीर्यरूप पांच तरहके आचारको पालनेवाले आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको नमस्कार करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(पुण) फिर मैं (विसुद्धसब्भावे) निर्मल आत्माके अनुभवके बलसे सर्व आवरणको दूरकर केवल ज्ञान केवल दर्शन स्वभावको प्राप्त होनेवाले (सेसे तित्थयरे) शेष वृषभ आदि पार्श्वनाथ पर्यंत २३ तीर्थंकरोंको (ससव्वसिद्धे) और शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप सर्व सिद्ध महाराजोंको (य) तथा (णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे) सर्व प्रकार

विशुद्ध द्रव्य गुण पर्याय मई चैतन्य वस्तुमें जो रागद्वेष आदि विकल्पोंसे रहित निश्चल चित्तका वर्तना उसमें अंतर्भूत जो व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य्य सहकारी कारणसे उत्पन्न निश्चय पंचाचार उसमें परिणमन करनेसे यथार्थ पंचाचारको पालनेवाले (समणे) श्रमण शब्दसे वाच्य आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने अनादि णमोकार मंत्रकी पूर्ति की है। इस पैंतीस अक्षरी मंत्रमें मुक्तिके साधनमें आदर्श रूप सहकारी कारण ऐसे पांच परमेष्ठियोंको स्मरण किया है। सम्पूर्ण जगत विषय कषायोंके वश होकर मोक्षमार्गकी चर्य्यासे बाहर हो रहा है। वास्तवमें सम्यग्चारित्र ही पूज्य है। जो संसारसे उदासीन होजाते हैं उनके ही चारित्रका पालन योग्यतासे होता है। जो इन्द्रियोंके सर्व विषयभोगोंसे रहित हो स्वप्नमें भी इंद्रियोंके विषयोंकी चाह नहीं करते हैं किन्तु केवल शरीरकी स्थितिके लिये सरस नीरस जो भोजन गृहस्थ श्रावकने अपने कुटुम्बके लिये तय्यार किया है उसीमेंसे दिनमें एक दफे लेते हैं और रात्रिदिन परम आत्माकी भावनामें तल्लीन रहते हैं जब ध्यान नहीं कर सकते तब स्वाध्याय करते हैं। जो महात्मा परम दयावान हैं, त्रस स्थावर सर्व प्राणियोंके रक्षक हैं। जिनके गृहस्थके वस्त्र तथा आभूषण आदिका त्याग है। ऐसे महान आत्माओंको अंतरात्मा यती कहते हैं। ये ही यती सम्यग्दर्शनकी दृढ़ताके लिये नित्य अर्हंत, सिद्ध, भक्ति करते तथा स्तवन और वंदना इन दो आवश्यक कार्योंको करते हैं। सम्यग्ज्ञानकी दृढ़ताके लिये

जिनवाणीका नित्य पठन करते हैं। सम्यग्चारित्रकी पुष्टताके लिये अहिंसादि ५ महाव्रतोंको, ईर्या समिति आदि ५ समितियोंको तथा मनवचनकाय दंडरूप तीन गुप्तियोंको इस तरह तेरह प्रकारका चारित्र बड़ी भक्तिसे दोष रहित पालते हैं। इन नग्न दिगम्बर निर्ग्रंथोंमें जो सर्व साधुओंके गुरु होते हैं तथा जो दीक्षा शिक्षा देते हैं उनको आचार्य्य कहते हैं। जो साधु शास्त्रोंके पठन-पाठनको चारुरीतिसे सम्पादन करते हैं उनको उपाध्याय तथा जो इन पदोंसे बाहर हैं और यथार्थ मुनिका चारित्र पालते हैं वे साधु संज्ञामें लिये जाते हैं। इन तीनोंको अंतरात्मा कहते हैं-ये उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं। इसी साधु पदमें साधन करते करते यह जीव शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातिया कर्म नाशकर अरहंत केवली होजाता है तथा वही अर्हंत शेष अघातिया कर्मोंका नाशकर सर्व तरह पुद्गलसे छूटकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है-सिद्धको निकल अथवा अशरीर परमात्मा तथा अर्हंतको सकल अथवा सशरीर परमात्मा कहते हैं। हरएक मनुष्यको आत्माकी उन्नतिके लिये यथार्थ देव, गुरु, शास्त्रकी सहायताकी आवश्यक्ता है। सो इन पांच परमेष्ठियोंमें अर्हंत और सिद्धको पूज्य देव और आचार्य उपाध्याय, साधुको गुरु तथा देवके उपदेशके अनुसार स्वयं चलनेवाले और तदनुसार शास्त्ररचना करने वाले आचार्योंके रचे हुए शास्त्र ही यथार्थ शास्त्र हैं। इनमें पूज्य बुद्धि रखकर इनकी यथासंभव भक्ति करनी चाहिये। देवकी भक्ति उनकी साक्षात् या उसकी प्रतिमाकी पूजा स्तुति करनेसे व उनका ध्यान करनेसे होती है-गुरूकी भक्ति

गुरु द्वारा उपदेश लाभ करनेसे व उनकी सेवा आहार दानादि द्वारा करनेसे होती है—शास्त्रकी भक्ति शास्त्रोंको अच्छी तरह पढ़ या सुनकर भाव समझनेसे तथा उनकी विनय सहित रक्षासे होती है। क्योंकि जैन धर्म आत्माका स्वभाव रत्नत्रयमई है इसलिये इस धर्मके आदर्श देव, इसके उपदेष्टा गुरु व इसके बतानेवाले शास्त्र अत्यंत आवश्यक हैं। आदर्शसे ध्यानके फलका लक्ष्य मिलता है। गुरुसे ध्यानका उपदेश मिलता है, तथा शास्त्रसे ध्यानकी रीतियां व कुध्यान सुध्यानका भेद झलकता है। धर्मके इच्छुक साधारण गृहस्थके लिये धर्मलाभका यही उपाय है। लौकिकमें भी किसी कलाको सीखनेके लिये तीन बातें चाहिये—कलाका दर्शन, कलाका उपदेश तथा कला बतानेवाला शास्त्र। यद्यपि सिद्ध परमात्मा सर्वसे महान हैं तथापि शास्त्रका उपदेश जो अशरीर सिद्धात्मासे नहीं होसक्ता सशरीर अर्हंत द्वारा हमको मिलता है इसलिये उपकार विचारकर इस णमोकार मंत्रमें पहले अर्हंतोंको नमस्कार करके पीछे सिद्धोंको नमस्कार किया है। उत्कृष्ट अंत-रात्माओंमें भी यद्यपि साधु बड़े हैं क्योंकि श्रेणी आरूढ़ यतीको साधु कह सक्ते हैं पर आचार्य तथा उपाध्याय नहीं कह सक्ते तथापि अपने उपकार पहुंचनेकी अपेक्षा आचार्यको पहले जो दिक्षा शिक्षा दोनों देते व संघकी रक्षा करते फिर उपाध्यायोंको जो शिक्षा देते फिर सर्व अन्य साधुओंको नमस्कार किया है क्योंकि साधुओंमें संघ प्रबन्ध व धर्मोपदेश देनेकी मुख्यता नहीं है। यहां बहु वचन इसलिये दिया है कि ये पांच परमपद हैं। इनमें तिष्ठनेवाले अनेक हैं उन सर्व ही अर्हंत, सिद्ध आचार्य,

उपाध्याय तथा साधुओंको नमस्कार किया है। मोक्षमार्गमें चलनेवालोंके लिये ये ही पांच परमेष्ठी मानने योग्य हैं। इनके सिवाय जो परिग्रह धारी हैं वे देव व गुरु मानने योग्य नहीं हैं। धर्मबुद्धिसे वात्सल्य व प्रेमभाव प्रदर्शित करने योग्य वे सब ही आत्मा हैं जिनको इन पांच परमेष्ठीकी श्रद्धा है तथा जो श्रद्धावान होकर भी गृहस्थ श्रावकका चारित्र पालते हैं। इनमें भी जो थोड़े चारित्रवान हैं वे बड़े चारित्रवानोंका सत्कार करते व जो केवल श्रद्धावान हैं वे अन्य श्रद्धावानोंका व चारित्रवानोंका सत्कार करते हैं। प्रयोजन यह है कि नमस्कार, भक्ति या विनय उस रत्नत्रय मई आत्मधर्मकी है जिनमें यह धर्म थोड़ा या बहुत वास करता है वे सर्व यथायोग्य विनय व सत्कार करनेके योग्य हैं–हम किसी सम्राटकी व धनाढ्यकी इसलिये विनय धर्मबुद्धिसे नहीं कर सके कि इसने बहुत पुण्य कमाया है। हम हीन पुण्यी हैं इसलिये हमको पुण्यवानोंकी पूजा करनी है, यह बात मोक्षमार्गके अनुकूल नहीं है। मोक्षमार्गमें तो वे ही पूज्य माननीय या सत्कारके योग्य हैं जिनमें यह रत्नत्रय मई धर्म थोड़ा या बहुत पाया जावे। यदि किसी पशु या चंडालमें श्रद्धा है तो वह मानने व सत्कार करनेके योग्य है और यदि किसी चक्रवर्ती राजामें श्रद्धा नहीं है तो वह धर्मकी अपेक्षा सत्कारके योग्य नहीं है। पूज्य तो वास्तवमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं। ये गुण जिन २ जीवोंमें हों वे जीव भी यथायोग्य सत्कारके योग्य हैं।

गृही या उपासक, साधु या निर्ग्रंथ तथा देव ये तीन दरजे मोक्षमार्गमें चलनेवालोंके हैं उनमें देवके भक्त साधु या गृही तथा

देव और साधु दोनोंके भक्त गृही या उपासक होते हैं। चार प्रकारके देव, सर्व ही नारकी, तथा सैनी तिर्यंच और साधुपद रहित गृहस्थ मनुष्य उपासक हैं।

उपासक उपासकोंकी देव व साधुतुल्य पूजा भक्ति न करके यथायोग्य सत्कार करते हैं। नमस्कारके योग्य तो साधु और देव ही हैं। इसी लिये श्री कुंदकुंदाचार्यने इस गाथामें पांच पदवी धारकोंको नमन किया है। इस चौथे कालमें २४ तीर्थंकर हो गए हैं जो बड़े प्रसिद्ध धर्मप्रचारक हुए हैं उनको अरहंत मानके नमस्कार किया है।

उत्थानिका—आगे फिर भी नमस्कार रूप गाथाको कहते हैं—

ते ते सव्वे समगं, समगं पत्तेगमेव पत्तेयं।
वंदामि य वट्टंते, अरहंते माणुसे खेत्ते ॥ ३ ॥

तांस्तान् सर्वान् समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकं।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ-फिर मैं मनुष्यके ढाई द्वीप क्षेत्रमें वर्तमान सर्व अरहंतोंको एक साथ ही तथा प्रत्येकको अलग २ ही वंदना करता हूं। अथवा उन ऊपर कहे पांच परमेष्ठियोंको एक साथ व अलग २ तथा ढाई द्वीपमें वर्तमान अर्हंतोंको भी नमस्कार करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(ते ते सव्वे) उन उन पूर्वमें कहे हुए सब पंच परमेष्ठियोंको (समगं समगं) समुदाय रूप

वंदनाकी अपेक्षा एक साथ एक साथ तथा (पत्तेयं पत्तेयं) प्रत्येकको अलग २ वंदनाकी अपेक्षा प्रत्येक प्रत्येकको (य) और (माणुसे खेत्ते) मनुष्योंके रहनेके क्षेत्र ढाईद्वीपमें (वट्टने) वर्तमान (अरहंते) अरहंतोंको (वंदामि) मैं वन्दना करता हूं। भाव यह है कि वर्तमानमें इस भरतक्षेत्रमें तीर्थंकरोंका अभाव है परन्तु ढाईद्वीपके पांच विदेहोंमें श्रीमन्दरस्वामी तीथकर आदि २० तीर्थंकर परमदेव विराजमान हैं इन सबके साथ उन पहले कहे हुए पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार करता हूं। नमस्कार दो प्रकारका होता है द्रव्य और भाव, इनमें भाव नमस्कार मुख्य है। इस भाव नमस्कारको मैं मोक्षकी साधनरूप सिद्ध भक्ति तथा योग भक्तिसे करता हूं। मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वयम्वर मंडप रूप जिनेन्द्रके दीक्षा कालमें मंगलाचार रूप जो अनन्त ज्ञानादि सिद्धके गुणोंकी भावना करनी उसको सिद्धभक्ति कहते हैं। वैसे ही निर्मल समाधिमें परिणमन रूप परम योगियोंके गुणोंकी अथवा परम योगके गुणोंकी भावना करनी सो योग भक्ति है। इस तरह इस गाथामें विदेहोंके तीर्थंकरोंके नमस्कारकी मुख्यतासे कथन किया गया।

भावार्थ—श्री कुंदकुंदाचार्यजी महाराज अपनी अंतरंग श्रद्धाकी महिमाका प्रकाश करते हुए कहते हैं कि पहले तो जो पहली गाथाओंमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पांच परमेष्ठियोंका कथन आया है उन सबको एक साथ भी नमस्कार करता हूं तथा प्रत्येकको अलग२ भी नमन करता हूं। जब अभेद नयसे देखा जाय तो सर्व परमेष्ठी रत्नत्रयकी अपेक्षा एक रूप हैं तथा भेद नयकी अपेक्षा सर्व ही व्यक्ति रूप अलग २ हैं—अनंत सिद्ध

यद्यपि स्वभावापेक्षा एक हैं तथापि अपने २ ज्ञानदर्शन सुखवीर्य आदिकी भिन्नताकी तथा अपने २ आनंदके अनुभवकी अपेक्षा सब सिद्ध भिन्न २ हैं। इसी तरह सर्व अरहंत, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु अपनी२ भिन्न आत्माकी सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं— समुदाय रूप युगपत् नमस्कार करनेमें पदवी अपेक्षा नमस्कार है तथा अलग २ नमस्कार करनेमें व्यक्तिकी अपेक्षा नमस्कार है। फिर आचार्यने पांच विदेहोंके भीतर विद्यमान सर्व ही अरहंतोंको भी एक साथ व अलग २ नमन करके अपनी गाढ भक्तिका परिचय दिया है। वर्तमानमें जंबूद्वीपमें चार, धातुकी खंडमें आठ तथा पुष्करार्द्धमें आठ ऐसे २० तीर्थंकर अरहंत पदमें साक्षात् विराजमान हैं। इनके सिवाय जिनको तीर्थंकर पद नहीं है किन्तु सामान्य केवलज्ञानी हैं ऐसे अर्हंत भी अनेक विद्यमान हैं उनको भी आचार्यने एक साथ व भिन्न २ नमस्कार किया है। नमस्कारके दो भेद हैं। वचनसे स्तुति व शरीरसे नमन द्रव्य नमस्कार है तथा अंतरंग श्रद्धा सहित आत्माके गुणोंमें लीन होना सो भाव नमस्कार है। इस भाव नमस्कारको टीकाकारने सिद्धभक्ति तथा योगभक्तिके नामसे सम्पादन किया है। जब तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं तब सिद्धभक्ति करके लेते हैं इसलिये टीकाकारने इस भक्तिको दीक्षाक्षणका मंगलाचरण कहा है। अथवा मोक्षलक्ष्मीका स्वयंवर मंडप रचा गया है उसमें सिद्ध भक्ति करना मानो मोक्ष लक्ष्मीके कंठमें वरमाला डालनी है। सिद्ध अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीर्य्यादि गुणोंके धारी हैं वैसा ही निश्चयसे मैं हूं ऐसी भावना करनी सो सिद्ध भक्ति है। निर्मल रत्नत्रयकी एकतारूप

समाधि भावमें परिणमन करते हुए परम योगियोंके वैराग्य चारित्रादि गुणोंकी सराहना करके उन गुणोंके प्रेममें अपने मनको जोड़ना सो योग भक्ति है। नमस्कार करते हुए भावोंमें विशुद्धताकी आवश्यक्ता है सो जब नमस्कार करने योग्य पूज्य पदार्थके गुणोंमें परिणाम लवलीन होते हैं तब ही भाव विशुद्ध होते हैं। इन विशुद्धभावोंके कारण पापकर्मोंका रस सूख जाता है व घट जाता है तथा पुण्य कर्मोंका रस बढ़ जाता है जिससे प्रारंभित कार्यमें विघ्न बाधाएं होनी बंद होजाती हैं।

उत्थानिका-आगेकी गाथामें ऊपरके कथनको फिर पुष्ट करते हैं-

किच्चा अरहंताणं, सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं, साहूणं चेव सव्वेसिं ॥ ४॥

कृत्वार्हद्भ्यः सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्यः।
अध्यापकवर्गेभ्यः साधुभ्यश्चेति सर्वेभ्यः ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ-इस प्रकार सर्व ही अरहंतोंको, सिद्धोंको गणधर आचार्योंको, उपाध्याय समूह तथा साधुओंको नमस्कार करके (क्या करूंगा सो आगे कहते हैं)।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सव्वेसिं) सर्व ही (अरहंताणं) अरहंतोंको (सिद्धाणं) आठ कर्म रहित सिद्धोंको (गणहराणं) चार ज्ञानके धारी गणधर आचार्योंको (तह) तथा (अज्झावयवग्गाणं) उपाध्याय समूहको और (चेव) तैसे ही (साहूणं) साधुओंको (णमो किच्चा) भाव और द्रव्यसे नमस्कार करके आगे कहूंगा जो करना है।

भावार्थ-इस गाथामें फिर भी आचार्यने पांच परमेष्ठीकी तरफ अपनी भक्ति दिखाकर अपने भावोंको निर्मल किया है। यह उत्कट भक्तिका नमूना है—

उत्थानिका-आगे आचार्य मंगलाचरणके पीछे चारित्र भावको धारण करते हैं ऐसी सूचना करते हैं।

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं, जत्तो णिव्वाणसंपत्ती॥५॥

तेषां विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं समासाद्य।
उपसम्पद्ये साम्यं यतो निर्वाणसंप्राप्तिः॥५॥

सामान्यार्थ-उन पांच परमेष्ठियोंके विशुद्ध दर्शन ज्ञानमई प्रधान आश्रमको प्राप्त होकर मैं समताभावको धारण करता हूं जिससे मोक्षकी प्राप्ति हो।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेसिं) उन पूर्वमें कहे हुए पांच परमेष्ठियोंके (विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं) विशुद्ध दर्शन ज्ञानमई लक्षणधारी प्रधान आश्रमको (समासेज्ज) भलेप्रकार प्राप्त होकर (सम्मं) शाम्यभाव रूप चारित्रको (उवसंपयामि) भलेप्रकार धारण करता हूं (जत्तो) जिस शाम्यभावरूप चारित्रसे (णिव्वाणसंपत्ती) निर्वाणकी प्राप्ति होती है। यहां टीकाकार खुलासा करते हैं कि मैं आराधना करनेवाला हूं तथा ये अर्हंत आदिक आराधना करनेके योग्य हैं ऐसे आराध्य आराधकका जहां विकल्प है उसे द्वैत नमस्कार कहते हैं तथा रागद्वेषादि औपाधिक भावोंके विकल्पोंसे रहित जो परम समाधि है उसके बलसे आत्मामें ही आराध्य आराधक भाव होना अर्थात् दूसरा कोई भिन्न पूज्य

पूजक नहीं है मैं ही पूज्य हूं मैं ही पुजारी हूं ऐसा एकत्वभाव थिरता रूप होना उसे अद्वैत नमस्कार कहते हैं। पूर्व गाथाओंमें कहे गए पांच परमेष्ठियोंको इस लक्षण रूप द्वैत अथवा अद्वैत नमस्कार करके मठ चैत्यालय आदि व्यवहार आश्रमसे विलक्षण भावाश्रम रूप जो मुख्य आश्रम है उसको प्राप्त होकर मैं वीतराग चारित्रको आश्रय करता हूं। अर्थात् रागादिकोंसे भिन्न यह अपने आत्मासे उत्पन्न सुख स्वभावका रखनेवाला परमात्मा है सो ही निश्चयसे मैं हूं ऐसा भेद ज्ञान. तथा वही परमात्म-स्वभाव सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचिरूपी सम्यग्दर्शन इस तरह दर्शन ज्ञान स्वभावमई भावाश्रम है। इस भावाश्रम पूर्वक आचरणमें आता हुआ जो पुण्य बंधका कारण सरागचारित्र है उसे हेय जानकर त्याग करके निश्चल शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप वीतराग चारित्र भावको मैं ग्रहण करता हूं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्वानुभवकी ओर लक्ष्य कराया है। यह भाव झलकाया है कि पांच परमेष्ठीको नमस्कार करनेका प्रयोजन यह है कि जिस निर्मल दर्शन ज्ञानमई आत्म स्वभावरूपी निश्चय आश्रय स्थानमें पंचपरमेष्ठी मौजूद हैं उसी निजात्म स्वभावमई अथवा सम्यक्तपूर्वक भेदज्ञानमई भाव आश्रमको मैं प्राप्त होता हूं। पहले व्यवहारमें जो मठ चैत्यालय आदिको आश्रय माना था उस विकल्पको त्याग करता हूं। ऐसे निज आश्रममें जाकर मैं पुण्य बंधके कारण शुभोपयोग रूप व्यवहार चारित्रके विकल्पको त्यागकर अपने शुद्ध आत्मस्वभावके अनुभव रूप वीतराग चारित्रको अथवा परम शांत भावको धारण करता हूं।

क्योंकि इस वीतराग विज्ञानमई अभेद रत्नत्रय स्वरूप शांतभावके ही द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोके बंधन टूटते हैं तथा नवीन कर्मोका संवर होता है जिसका अंतिम फल मोक्षका प्रगट होना है। इस कथनसे श्रीकुंदकुंदस्वामीने यह भी दिखलाया है कि सम्यक्ज्ञान पूर्वक वीतराग चरित्रमई परम शांतभावके द्वारा पहले भी जीवोंने निर्वाण लाभ किया व अब भी निर्वाण जारहे हैं तथा भविष्यमें भी इस हीसे मुक्ति पाएंगे इसलिये जैसे मैंने ऐसे वीतराग चारित्रका आश्रय लिया है वैसे सर्व ही मुमुक्षु जीव इस साम्यभावका शरण ग्रहण करो क्योंकि यही मोक्षका असली साधन है। इस तरह प्रथम स्थलमें नमस्कारकी मुख्यता करके पांच गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे जिस वीतराग चारित्रका मैंने आश्रय लिया है वही वीतराग चारित्र प्राप्त करने योग्य अतीन्द्रिय सुखका कारण है इससे ग्रहण करने योग्य है तथा सराग चारित्र अतीन्द्रिय सुखकी अपेक्षासे त्यागने योग्य इंद्रिय सुखका कारण है इससे सराग चारित्र छोड़ने योग्य है ऐसा उपदेश करते हैं:—

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥

संपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवैः ।
जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥ ६ ॥

सामान्यार्थ-इस जीवको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी मुख्यता पूर्वक चारित्रके पालनेसे देव, असुर तथा मनुष्यराजकी सम्पदाओंके साथ मोक्षकी प्राप्ति होती है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जीवस्स) इस जीवके (दंसणणाणपहाणादो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रधानता पूर्वक (चरित्तादो) सम्यग्चारित्रके पालनेसे (देवासुरमणुयराय विहवेहिं) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा चक्रवर्ती आदि राज्यकी विभूतियोंके साथ२ (णिव्वाणं) निर्वाण (संपज्जदि) प्राप्त होती है। प्रयोजन यह है कि आत्माके आधीन निज सहज ज्ञान और सहज आनंद स्वभाववाले अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें जो निश्चलतासे विकार रहित अनुभूति प्राप्त करना अथवा उसमें ठहरजाना सोही है लक्षण जिसका ऐसे निश्चय चारित्रके प्रभावसे इस जीवके पराधीन इन्द्रिय जनित ज्ञान और सुखसे विलक्षण तथा स्वाधीन अतीन्द्रिय उत्कृष्ट ज्ञान और अनंत सुख है लक्षण जिसका ऐसा निर्वाण प्राप्त होता है। तथा सराग चारित्रके कारण कल्पवासी देव, भवनत्रिकदेव, चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको उत्पन्न करनेवाला मुख्यतासे विशेष पुण्यबंध होता है तथा उससे परम्परासे निर्वाण प्राप्त होता है। असुरोंके मध्यमें सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है ? इसका समाधान यह है कि निदान करनेके भावसे सम्यक्तकी विराधना करके यह जीव भवनत्रिकमें उत्पन्न होता है ऐसा जानना चाहिये। यहां भाव यह है कि निश्चय नयसे वीतराग चारित्र उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है तथा सराग चारित्र हेय अर्थात् त्यागने योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने उस वीतराग चारित्ररूप शांत भावकी महिमा बताई है जिसका आश्रय उन्होंने किया है। वह वीतराग चारित्र जिसके साथ शुद्धात्मा और उसका

स्वाभाविक आनन्द उपादेय है ऐसा सम्यक्त तथा हमारा आत्मा द्रव्य दृष्टिसे सर्व ही ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भावकर्म तथा शरीरादि नो कर्मोंसे भिन्न है, ऐसा सम्यग्ज्ञान मुख्यतासे ही साक्षात् कर्मोंके बंधको दूर करनेवाला तथा आत्माको पवित्र बनाकर निर्वाण प्राप्त करानेवाला है। अभेद या निश्चय रत्नत्रय एक आत्माका ऐसा आत्मीक भाव है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र तीनोंकी एकता हो रही है। यही भाव शुद्ध है और यही भाव ध्यान है इसीसे ही घातिया कर्म जलजाते और अरहंत पद होता है। इस निश्चय चारित्रकी प्राप्तिके लिये जो देशव्रत या महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र पाला जाता है उसमें कुछ सरागता रहती है—वह वीतराग आत्मामें स्थिति रूप चारित्र नहीं है क्योंकि जीवोंके हितार्थ धर्मोपदेश देना, शास्त्र लिखना, भूमि शोधते गमन करना, प्रतिक्रमण पाठ पढना आदि जितने कार्य्य इच्छापूर्वक किये जाते हैं उनमें मंद कषाय रूप संज्वलन रागका उदय है। इसी कारण इस सराग चारित्रसे जितना राग अंश है उसके फल स्वरूप पुण्य कर्मका बंध हो जाता है और पुण्य कर्मके उदयसे देव गति या मनुष्य गति प्राप्त होती है। जैसा विशेष पुण्य होता है उतना विशेष पद अहमिंद्र, इन्द्र, चक्रवर्ती आदिका प्राप्त होता है क्योंकि यह सराग चारित्र भी सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है इसलिये देव या मनुष्यकी पदवी पाकर भी वह भव्य जीव उस पदमें लुब्ध नहीं होता। उदयमें आए हुए पुण्य फलको समताभावसे भोग लेता है तथा निरंतर भावना रखता है कि कब मैं वीतराग चारित्रको प्राप्त करके निर्वाण

सुखका लाभ करूं। इसलिये ऐसे सराग चारित्रसे भी परम्परा निर्वाणका भाजन होजाता है। तौभी इन दोनोंमें साक्षात् मुक्तिका कारण वीतराग चारित्र ही उपादेय है। यह चारित्र यहां भी आत्मानुभव करानेवाला है तथा भविष्यमें भी सदा आनन्दकारक निर्वाणका देनेवाला है।

जैसा इस गाथामें भाव यह है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्रकी एकता निर्वाणका मार्ग है ऐसा ही कथन श्री उमास्वामी आचार्य्यने अपने मोक्षशास्त्रके प्रथम सूत्रमें कहा है। यथा " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः "।

तात्पर्य्य यह है कि हमको मोक्षका साधक निश्चय रत्नत्रय मई वीतराग चारित्रको समझना चाहिये और व्यवहार रत्नत्रय मई सराग चारित्रको उसका निमित्त कारण या परम्परा कारण समझना चाहिये।

उत्थानिका-आगे निश्चय चारित्रका स्वरूप तथा उसके पर्याय नामोंके कहनेका अभिप्राय मनमें धारण करके आगेका सूत्र कहते हैं-इसी तरह आगे भी एक सूत्रके आगे दूसरा सूत्र कहना उचित है ऐसा कहते रहेंगे इस तरहकी पातनिका यथासंभव सर्वत्र जाननी चाहिये।

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यः स शम इति निर्दिष्टः।
मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो हि शमः ॥७॥

सामान्यार्थ-निश्चय करके अपने आत्मामें स्थिति रूप वीतराग चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है सो ही साम्यभाव कहा गया है, तथा मोहकी आकुलतासे रहित जो आत्माका परिणाम है वही साम्यभाव है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(चारित्तं) चारित्र (खलु) प्रगटपने (धम्मो) धर्म है (जो धम्मो) यह धर्म है (सो समोत्ति) सो ही शम या साम्यभाव है ऐसा (णिद्दिट्ठो) कहा गया है। (अप्पणो) आत्माका (मोहक्खोहविहीणः) मोहके क्षोभसे रहित (परिणामः) भाव है (हि) वही निश्चय करके (समो) समता भाव है। प्रयोजन यह है कि शुद्ध चैतन्यके स्वरूपमें आचरण करना चारित्र है। यही चारित्र मिथ्यात्व रागद्वेषादि द्वारा संसरणरूप जो भाव संसार उसमें पड़ते हुए प्राणीका उद्धार करके विकार रहित शुद्ध चैतन्य भावमें धारण करनेवाला है इससे यह चारित्र ही धर्म है यही धर्म अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत जल रूप शीतल जलके द्वारा काम क्रोध आदि अग्निसे उत्पन्न संसारीक दुःखोंकी दाहको उपशम करनेवाला है इससे यही शम, शांतभाव या साम्यभाव है। मोह और क्षोभके ध्वंस करनेके कारणसे यही शांतभाव मोह क्षोभ रहित शुद्ध आत्माका परिणाम कहा जाता है। शुद्ध आत्माके श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शनको नाश करनेवाला जो दर्शन मोह कर्म उसे मोह कहते हैं। तथा निर्विकार निश्चल चित्तका वर्तनरूप चारित्रको जो नाश करनेवाला हो वह चारित्र मोहनीय कर्म या क्षोभ कहलाता है

भावार्थ-यहां आचार्यने यह दिखलाया है कि चारित्र, धर्म, साम्यभाव यह सब एक भावको ही प्रगट करते हैं। निश्चयसे दर्शनमोह और चारित्र मोह रहित तथा सम्यग्दर्शन और वीतरागता सहित जो आत्माका निज भाव है वही साम्यभाव है अर्थात आत्मा जब सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र रूप परिणमन करता है तब जो भाव स्वात्मा सम्बन्धी होता है उसे ही समताभाव, या शांत भाव कहते हैं ऐसा जो शांत भाव है वही संसारसे उद्धार करने वाला धर्म है तथा यही वीतराग चारित्र है जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इस गाथामें भी आचार्यने स्वात्मानुभव अथवा स्वरूपाचरण चारित्रकी ही ओर लक्ष्य दिलाया है और यही प्रेरणा की गई है कि जैसे हमने इस आनन्द धामका आश्रय किया है वैसे सब जन इस ही स्वात्मानुभवका आश्रय करो यही साक्षात सुखका मार्ग है।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि अभेद नयसे इस वीतराग भावरूपी धर्ममें परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है।

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम्।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥ ८ ॥

सामान्यार्थ-यह द्रव्य जिस कालमें जिस भावसे परिणमन करता है उस कालमें वह द्रव्य उस भावसे तन्मयी होता है ऐसा कहा गया है। इसलिये धर्म भावसे परिणमन करता हुआ आत्मा धर्म रूप ही माना जाना चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(दव्वं) द्रव्य (जेण) जिस अवस्था या भावसे (परिणमदि) परिणमन करता है या वर्तन करता है (तक्कालं) उसी समय वह द्रव्य (तम्मयत्ति) उस पर्याय या भावके साथ तन्मई हो जाता है ऐसा (पण्णत्तं) कहा गया है। (तम्हा) इसलिये (धम्म परिणदो) धर्मरूप भावसे वर्तन करता हुआ (आदा) आत्मा (धम्मो) धर्मरूप (मुणेयव्वो) माना जाना चाहिये। तात्पर्य्य यह है कि अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमें परिणमन होते हुए जो भाव होता है उसे निश्चय धर्म कहते हैं। तथा पंच परमेष्ठी आदिकी भक्ति रूपी परिणति या भावको व्यवहार धर्म कहते हैं। क्योंकि अपनी २ विवक्षित या अविविक्षित पर्यायसे परिणमन करता हुआ द्रव्य उस पर्यायसे तन्मयी होजाता है इसलिये पूर्वमें कहे हुए निश्चय धर्म और व्यवहार धर्मसे परिणमन करता हुआ आत्मा ही गर्म लोहेके पिंडकी तरह अभेद नयसे धर्म रूप होता है ऐसा जानना चाहिये। यह भी इसी लिये कि उपादान कारणके सदृश कार्य होता है ऐसा सिद्धांतका वचन है। तथा वह उपादान कारण शुद्ध अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान तथा आगमकी भाषासे शुक्ल ध्यान शुद्ध उपादान कारण है। तथा अशुद्ध आत्मा रागादि रूपसे परिणमन करता हुआ अशुद्ध निश्चय नयसे अपने रागादि भावोंका अशुद्ध उपादान कारण होता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बात बताई है कि धर्म कोई भिन्न वस्तु नहीं है-आत्माका ही निज स्वभावमें परि-

णमन रूप है अर्थात् जब आत्मा परभावमें न परिणमन करके अपने स्वभाव भावमें परिणमन करता है तब वह आत्मा ही धर्म रूप हो जाता है। इससे यह बात भी बताई है स्वभाव या गुण हरएक पदार्थमें कहीं अलगसे आते नहीं न कोई किसीको कोई गुण या स्वभाव दे सक्ता है। किंतु हरएक गुण या स्वभाव उस वस्तुमें जिसमें वह होता है उसके सर्व ही अंशोंमें व्यापक होता है। कोई द्रव्यके साथ न कोई गुण मिलता है न कोई गुण द्रव्यको छोड़कर जाता है। जैन दर्शनका यह अटल सिद्धांत है कि द्रव्य और गुण प्रदेश अपेक्षा एक हैं—जहां द्रव्य है वहीं गुण हैं। तथा यह भी जैन सिद्धांत है कि द्रव्य सदा द्रवन या परिणमन किया करता है। अर्थात् गुणोंमें सदा ही विकृति भाव या परि-णति हुआ करती है इसलिये द्रव्यको गुण पर्यायवान् कहते हैं। द्रव्यके अनंते गुण प्रति समय अपनी अनंत पर्यायोंको प्रगट करते रहते हैं और क्योंकि हरएक गुण द्रव्यमें सर्वांग व्यापक है इस लिये अनंत गुणोंकी अनंतपर्यायें द्रव्यमें सर्वांग व्यापक रहती हैं। इनमेंसे विचार करनेवाला व कहनेवाला जिस पर्यायपर दृष्टि रखता है वह उसके लिये उस समय विविक्षित या मुख्य हो जाती है, शेष पर्यायें अविविक्षित या गौण रहती हैं। क्योंकि रागद्वेष मोह संसार है; इसलिये सम्यक्त सहित वीतरागता मोक्ष है या मोक्षका मार्ग है। आत्मामें ज्ञानोपयोग मुख्य है इसीके द्वारा आत्मामें प्रकाश रहता है व इस हीके द्वारा आप और परको जानता है। जब यह आत्मा अपने ही आत्माके स्वरूपको जानता हुआ रहता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक निज आत्माके सिवाय अन्य

सर्व पदार्थोंसे उदासीन होकर अपने आत्माके ही जाननेमें तन्मय होजाता है अर्थात् आप ही ज्ञाता तथा आप ही ज्ञेय होजाता है, तथा इस ही ज्ञानकी परिणतिको बार बार किया करता है। तब आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें लीन है ऐसा कहा जाता है उस समय अनंत गुणोंकी और पर्यायोंको छोड़कर विशेष लक्ष्यमें लेने योग्य पर्यायोंका यदि विचार किया जाता है तो कहनेमें आता है कि उस समय सम्यक्त, ज्ञान, चारित्र तीनों ही गुणोंका परिणमन हो रहा है। सम्यक्त परिणति श्रद्धा व रुचि रूप है ही, ज्ञान आपको जानता है यह ज्ञानकी परिणति है तथा पर पदार्थसे राग द्वेष न होकर उनसे उदासीनता है तथा निजमें थिरता है यही चारित्रकी परिणति है। भेद नयसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीन प्रकार परिणतियें हो रही हैं, निश्चय रूप अभेद नयसे तीन भावमई आत्माकी ही परिणति है। इसी कारणसे रत्नत्रयमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही साक्षात् धर्मरूप है। इस ही धर्मको वीतराग चारित्र भी कहते हैं। अतएव इस रत्नत्रयमई वीतराग चारित्रमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही वीतराग चारित्र है। जैसे अग्निकी उष्णता रूप परिणमन करता हुआ लोहेका गोला अग्निमई होजाता है वैसे वीतरागभावमें परिणमन करता हुआ आत्मा सराग होजाता है। जिस समय पांच परमेष्ठीकी भक्ति रूप भावसे वर्तन होरहा है उस समय विचार किया जाय कि आत्माके तीन मुख्य गुणोंका किस रूप परिणमन है तो ऐसा समझमें आता है कि सम्यग्दृष्टी जीवके सम्यक्त गुणका तो रुचि रूप परिणमन है तथा ज्ञान गुणका पांच परमेष्टी ग्रहण करने व भक्ति करने

योग्य है इस ज्ञान रूप परिणमन है तथा चारित्रगुणका मंदकषायके उदयसे शुभ रागरूप परिणमन है इसीलिये इस समय आत्माके सराग चारित्र कहा जाता है तथा आत्माको सराग कहते हैं और यह आत्मा इस समय पुण्यकर्मको बांध स्वर्गादि गतिका पात्र होता है। यहां आचार्यका यही अभिप्राय है कि वीतराग चारित्रमई आत्मा ही उपादेय है क्योंकि इस स्वात्मानुभव रूप वीतराग चारित्रसे वर्तमानमें भी अतीन्द्रिय सुखका लाभ होता है तथा आगामी मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। इस तरह वीतराग चारित्रकी मुख्यतासे संक्षेपमें कथन करते हुए दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥८॥

उत्थानिका-आगे यह उपदेश करते हैं कि शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ऐसे तीन प्रकारके प्रयोगसे परिणमन करता हुआ आत्मा शुभ, अशुभ तथा शुद्ध उपयोग स्वरूप होता है।

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः ॥ ९ ॥

सामान्यार्थ-जब यह परिणमन स्वभावी आत्मा शुभ भावसे परिणमन करता है तब शुभ, जब अशुभ भावसे परिणमन करता है तब अशुभ और जब शुद्ध भावसे परिणमन करता है तब शुद्ध होता है ॥ ९ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदा) जब (परिणाम-

सब्भावो) परिणमन स्वभावधारी (जीवः) यह जीव (सुहेण) शुभ भावसे (वा असुहेण) अथवा अशुभ भावसे (परिणमदि) परिणमन करता है तब (सुहो असुहो) शुभ परिणामोंसे शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे अशुभ (हवदि) होजाता है। (सुद्धेण) जब शुद्ध भावसे परिणमन करता है (तदा) तब (हि) निश्चयसे (सुद्धो) शुद्ध होता है। इसीका भाव यह है कि जैसे स्फटिक मणिका पत्थर निर्मल होनेपर भी जपा पुष्प आदि लाल, काली, श्वेत उपाधिके वशसे लाल, काला, सफेद रंग रूप परिणम जाता है तैसे यह जीव स्वभावसे शुद्धबुद्ध एक स्वभाव होनेपर भी व्यवहार करके गृहस्थ अपेक्षा यथासंभव राग सहित सम्यक्त पूर्वक दान पूजा आदि शुभ कार्योंके करनेसे तथा मुनिकी अपेक्षा मूल व उत्तर गुणोंको अच्छीतरह पालन रूप वर्तनेमें परिणमन करनेसे शुभ है ऐसा जानना योग्य है। मिथ्यादर्शन सहित अविरति भाव, प्रमादभाव, कषायभाव व मन वचनकाय योगोंके हलन चलन रूप भाव ऐसे पांच कारण रूप अशुभोपयोगमें वर्तन करता हुआ अशुभ जानना योग्य है तथा निश्चय रत्नत्रय मई शुद्ध उपयोगसे परिणमन करता हुआ शुद्ध जानना चाहिये। क्या प्रयोजन है सो कहते हैं कि सिद्धांतमें जीवके असंख्यात लोकमात्र परिणाम मध्यम वर्णनकी अपेक्षा मिथ्यादर्शन आदि १४ चौदह गुणस्थान रूपसे कहे गए हैं। इस प्रवचनसार प्राभृत शास्त्रमें उनही गुणस्थानोंको संक्षेपसे शुभ अशुभ तथा शुद्ध उपयोग रूपसे कहा गया है। सो ये तीन प्रकार उपयोग १४ गुणस्थानोंमें किस तरह घटते हैं सो कहते हैं। मिथ्यात्व,

सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे कमती २ अशुभ उपयोग है। इसके पीछे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्त संयत ऐसे तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुभोपयोग है। उसके पीछे अप्रमत्तसे ले क्षीणकषाय तक छः गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुद्धोपयोग है। उसके पीछे सयोगि जिन और अयोगि जिन इन दो गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोगका फल है ऐसा भाव है।

भावार्थ-यहां आचार्यने ज्ञानोपयोगके तीन भेद बताए हैं। अशुभ उपयोग, शुभ उपयोग और शुद्ध उपयोग। वास्तवमें ज्ञानका परिणमन ही ज्ञानोपयोग है सो उसकी अपेक्षासे ये तीन भेद नहीं हैं। ज्ञानमें ज्ञानावरणीय कर्मके अधिक २ क्षयोपशमसे ज्ञानका बढ़ता जाना तथा बढ़ते बढ़ते सर्वज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे पूर्णज्ञान होजाना यह तो परिणमन है परंतु निश्चयसे अशुभ, शुभ, शुद्ध परिणमन नहीं है। कषाय भावों की कलुषता जो कषायोंके उदयसे ज्ञानके साथ साथ चारित्र गुणको विकार करती हुई होती है उस कलुषताकी अपेक्षा तीन भेद उपयोगके लिये गए हैं। शुद्ध उपयोग कलुषता रहित उपयोगका नाम है-आगममें जहांसे इस जीवकी बुद्धिमें कषायका उदय होते हुए भी कलुषताका झलकाव नहीं होता किन्तु वीतरागताका भान होता है वहींसे शुद्धोपयोग माना है और जहां शुद्धोपयोग रूप होनेका राग है व शुद्धोपयोग होनेके कारणोंमें अनुराग है वहां इस जीवके शुभोपयोग है इन दो उपयोगोंको छोड़कर जहां शुद्धोपयोगकी पहचान ही नहीं है न शुद्ध होनेकी रुचि है किन्तु संसारिक सुखकी वासना है-उस वासना सहित

वर्तन करता हुआ चाहे हिंसा करे व जीवदया पाले, चाहे झूठ बोले या सत्य बोले उस जीवके अशुभोपयोग कहा जाता है, इसी अपेक्षा चौथे गुणस्थानसे ही अशुभोपयोगका प्रारम्भ है और बुद्धिपूर्वक धर्मानुराग छठे गुणस्थान तक रहता है उसके आगे नहीं इससे सातवें गुणस्थानसे शुद्धोपयोग है। यदि भावों की शुद्धता की अपेक्षा विचार करें तो जहां कषायोंका अभाव होकर बिलकुल भी कलुषता नहीं है, किन्तु ज्ञानोपयोग पवनवेग बिना निश्चल समुद्रवत् निश्चल स्वस्वरूपासक्त होजाता है वहीं शुद्धोपयोग है। अरहंत सिद्ध अवस्थामें आत्मा यथास्वरूप है उस समय उपयोगको शुद्ध कहो तौ भी ठीक है या शुद्धताका फलरूप हो तौ भी ठीक है क्योंकि शुद्ध अनुभवका फल शुद्ध होना है। आत्मा परिणमन स्वभाव है तब ही उसके भीतर ज्ञान और चारित्रका भी अन्य गुणोंकी तरह परिणमन हुआ करता है। कर्म बंध सहित अशुद्ध अवस्थामें ज्ञानका हीन अधिकरूप और चारित्र गुणका अशुभ, शुभ, तथा शुद्धरूप परिणमन होता है। इन दो परिणमनोंको व्यवहारमें एक नामसे अशुभ उपयोग, शुभ उपयोग तथा शुद्ध उपयोग कहते हैं। शुद्ध उपयोग पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है, शुभोपयोग पापकी निर्जरा तथा विशेषतासे पुण्य कर्मोंका व कुछ पाप कर्मोंका बंध करता है तथा अशुभोपयोग पाप कर्मों हीको बांधता है।

शुद्धोपयोगीके ११ वें, १२ वें तेरहवें गुणस्थानमें जो आश्रव तथा बंध होता है वह योगोंके परिणमनका अपराध है शुद्ध चारित्र व ज्ञानका नहीं। यह आश्रव ईर्यापथ है व बन्ध एक

समय मात्र तक ठहरनेवाला है इसलिये इसको बन्ध नहींसा कहना चाहिये क्योंकि हरएक कर्म बंधकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है सो इन तीन गुणस्थानोंमें जघन्य स्थिति भी नहीं पड़ती। सातवेंसे ले १० वें गुणस्थानमें अबुद्धिरूप कषायका उदय है इससे तारतम्यसे जितना शुभपना है उतना यहां कर्मोंका बंध है। चौथेसे ले छठे तक शुभोपयोगकी मुख्यता है। यद्यपि स्वात्मानुभव करते हुए चौथेसे ले ८वें तक शुद्ध भाव भी बुद्धिमें झलकता है तथापि वह अति अल्प है तथा उस स्वात्मानुभवके समयमें भी कषायोंकी कलुषता है इससे उसको शुद्धोपयोग नहीं कहा है। सराग भावसे ये तीन गुणस्थानवाले विशेष पुण्य कर्मका बंध करते हैं। चार अघातिया कर्ममें पुण्य पाप भेद है किन्तु घातिया कर्म पापरूप ही हैं-इन घातिया कर्मोंका उदय कषाय कालिमाके साथ १० वें गुणस्थान तक होता है इससे इनका बन्ध भी १० वें गुणस्थान तक रहता है। नीचेके तीन मिथ्यात्वादि गुणस्थानोंमें सम्यक्त न होनेकी अपेक्षा अशुभोपयोग कहा है। यद्यपि इन गुणस्थानोंके जीवोंके भी मंदकषाय रूप दान पूजा जप तपके भाव होते हैं और इन भावोंसे वे कुछ पुण्यकर्म भी बंध करते हैं तथापि मिथ्यात्वके बलसे चार घातियारूप पाप कर्मोंका विशेष बंध होता है। सम्यक्त भूमिकाके बिना शुभपना उपयोगमें आता नहीं। जहां निज शुद्धात्मा व उसका अतीन्द्रिय सुख उपादेय है ऐसी रुचि बैठ जाती है वहां सम्यक्त भूमिका बन जाती है तब वहां उपयोगको शुभ कहते हैं। यद्यपि सम्यक्ती गृहस्थोंके भी आरंभी हिंसा आदि अशुभ उपयोग होता है व

जिससे वे पापकर्म असाता वेदनीय आदि भी बांधते हैं तथापि संसार कारण न होनेसे व सम्यक्तकी भूमिका रहनेसे उपयोगको शुभ कहा है । सर्व कथन मुख्यता व गौणताकी अपेक्षासे है । प्रयोजन यह है कि जिस तरह बने शुद्धोपयोगकी रुचि रखकर उसीकी प्राप्तिका उद्यम करना चाहिये—इसीसे आत्महित है—यही पुरुषार्थ है जिससे यहां भी स्वात्मानंद होता है और परलोकमें भी परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है । ९ ॥

उत्थानिका—आगे जो कोई पदार्थको सर्वथा अपरिणामी नित्य कूटस्थ मानते हैं तथा जो पदार्थको सदा ही परिणमन-शील क्षणिक ही मानते हैं, इन दोनों एकान्त भावोंका निराकरण करते हुए परिणाम और परिणामी जो पदार्थ उनमें परस्पर कथं-चित् अभेदभाव दिखलाते हैं । अर्थात् जिसमें अवस्थाएं होती हैं वह द्रव्य तथा उसकी अवस्थाएं किसी अपेक्षासे एक हैं ऐसा बताते हैं ।

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

नास्ति विना परिणामोऽर्थोऽर्थं विनेह परिणामः ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ॥ १० ॥

सामान्यार्थ—पर्यायके बिना द्रव्य नहीं होता है । और पर्याय द्रव्यके बिना नहीं होती है । पदार्थ द्रव्यगुण पर्यायमें रहा हुआ अपने अस्तिपनेसे सिद्ध होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अत्थो) पदार्थ (परिणामं

बिना) पर्यायके बिना (णत्थि) नहीं रहता है। यहां वृत्तिकारने मुक्त जीवमें घटाया है कि सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणामको छोड़कर शुद्ध जीव पदार्थ नहीं होता है क्योंकि यद्यपि परिणाम और परिणामीमें संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है, तौ भी प्रदेश भेद न होनेसे अभेद है। तथा (इह) इस जगतमें (परिणामो) परिणाम (अत्थं विणा) पदार्थके बिना नहीं होता है। अर्थात् शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणति मुक्तरूप आत्म पदार्थके बिना नहीं होती है क्योंकि परिणाम परिणामीमें संज्ञादिसे भेद होनेपर भी प्रदेशोंका भेद नहीं है। (दव्वगुणपज्जयत्थो) द्रव्यगुण पर्यायोंमें ठहरा हुआ (अत्थो) पदार्थ (अत्थित्तणिव्वत्तो) अपने अस्तित्वमें रहनेवाला अर्थात् अपने अस्तिपनेसे सिद्ध होता है। यहां शुद्ध आत्मामें लगाकर कहते हैं कि आत्म स्वरूप तो द्रव्य है, उसमें केवल ज्ञानादि गुण हैं तथा सिद्धरूप पर्याय है। शुद्ध आत्म पदार्थ इस तरह द्रव्य गुण पर्यायमें ठहरा हुआ है जैसे सुवर्ण पदार्थ, सुवर्ण द्रव्य पीतपना आदि गुण तथा कुंडलादि पर्यायोंमें तिष्ठनेवाला है। ऐसा शुद्ध द्रव्य गुण पर्यायका आधारभूत जो शुद्ध अस्तिपना उससे परमात्म पदार्थ सिद्ध है जैसे सुवर्ण पदार्थ सुवर्ण द्रव्य गुण पर्यायकी सत्तासे सिद्ध है। यहां यह तात्पर्य है कि जैसे मुक्त जीवमें द्रव्य गुण पर्याय परस्पर अविनाभूत दिखाए हैं तैसे संसारी जीवमें भी मतिज्ञानादि विभाव गुणोंके तथा नर नारकादि विभाव पर्यायोंके होते हुए नय विभागसे ———— जान लेना चाहिये। तैसे ही पुद्गलादिके भीतर भी।

भावार्थ-यहांपर आचार्य यह दिखलाते हैं कि हरएक पदार्थ परिणाम स्वभावको रखनेवाला है तथा वह परिणाम पलटता रहता है तौ भी पदार्थ बना रहता है तथा परिणाम पदार्थसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। द्रव्य गुण पर्यायोंका समुदाय है जैसा कि श्री उमास्वामी आचार्यने भी कहा है "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" इनमेंसे गुण सहभावी होते हैं अर्थात् गुणोंका और द्रव्यका कभी भी संबंध छूटता नहीं है, न गुण द्रव्यके विना कहीं पाए जाते हैं न द्रव्य कभी गुण विना निर्गुण होसक्ता है। गुणोंके भीतर सदा ही पर्यायें हुआ करती हैं। गुणोंकी अवस्था कभी एकसी रहती नहीं। यदि गुण बिलकुल अपरिणामीके हों अर्थात् जैसेके तैसे पड़े रहें कुछ भी विकार अपनेमें न करें तौ उन गुणोंसे भिन्न २ कार्य न उत्पन्न हो। जैसे यदि दूधकी चिकनाई दूधमें एकसी दशामें बनी रहे तो उसमें घी आदिकी चिकनई नहीं बनसक्ती है। यहां पर यह बराबर ध्यानमें रखना चाहिये कि द्रव्य अपने सर्वांगमें अवस्थाको पलटता है इससे उसके सब ही गुण साथ साथ पलट जाते हैं। दूध द्रव्य पलटकर मक्खन छाछ तथा घी रूप होजाता है। उस द्रव्यमें जितने गुण हैं उनमेंसे जिसकी मुख्यता करके देखें वह गुण पलटा हुआ प्रगट होता है। घीकी चिकनाईको देखें तो दूधकी चिकनईसे पलटी हुई है। घीके स्वादको देखें तो दूधके स्वादसे पलटा हुआ स्वाद है। घीके वर्णको देखें तो दूधके वर्णसे पलटा हुआ वर्ण है। आकारपना अर्थात् प्रदेशत्व भी द्रव्यका गुण है। आकार पलटे विना एक द्रव्यकी दो अवस्थाएं जिनका आकार भिन्न २ हो नहीं होसक्ती हैं। एक सुवर्णके

कुंडलको तोड़कर जब बाली बनावेंगे तो कुंडलसे बालीका आकार भिन्न ही होगा। इस पलटनको आकारका पलटना कहते हैं। द्रव्यमें या उसके गुणोंमें पर्याय दो प्रकारकी होती हैं-एक स्वभाव पर्याय दूसरी विभाव पर्याय। स्वभाव पर्याय सदृश सदृश एकसी होती है स्थूल दृष्टिमें भेद नहीं दिखता। विभाव पर्याय विसदृश होती है इससे प्रायः स्थूल दृष्टिसे विदित होजाती है। जैन सिद्धांतने इस जगत्को छः द्रव्योंका समुदाय माना है। इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा सिद्धशुद्ध सब जीव सदा स्वभाव परिणमन करते हैं। इन द्रव्योंके गुणोंमें विसदृश विभाव परिणमन नहीं होता है। सदा ही एक समान ही पर्यायें होती हैं। किन्तु सर्व संसारी जीवोंमें पुद्गलके सम्बन्धसे विभाव पर्यायें हुआ करती हैं तथा पुद्गलमें जब कोई अविभागी परमाणु जघन्य अंश स्निग्धता व रूक्षताको रखता है अर्थात् अबंध अवस्थामें होता है तब वह स्वभाव परिणमन करता है। परंतु अन्य परमाणुओंसे बंधनेपर स्कंध अवस्थामें विभाव परिणमन होता है। यद्यपि स्वभाव परिणमन हमारे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं है तथापि हम विभाव परिणमन संसारी जीव तथा पुद्गलोंमें देखकर इस बातका अनुमान करसक्के हैं कि द्रव्यमें स्वभाव परिणमन भी होता है, क्योंकि जब परिणमन स्वभाव वस्तु होगी तब ही उसमें विभाव परिणमन भी होसक्ता है। यदि परिणमन स्वभाव द्रव्यमें न हो तो अन्य किसी द्रव्यमें ऐसी शक्ति नहीं है जो बलात्कार किसीमें परिणमन करा सके। काठके नीचे हरा लाल डांक लगानेसे हरा लाल नगीना नहीं चमक सक्ता है क्योंकि काठमें ऐसी परिणमन शक्ति

नहीं है किन्तु स्फटिकमणिमें ऐसी परिणमन शक्ति है जो जिस रंगके डांकका संयोग मिलेगा उस रंगरूप नगीनेके भावको झलकायेगा। हरएक वस्तुकी परिणमन शक्ति भिन्न२ है तथा विजातीय वस्तुओंमें विजातीय परिणमन होते हैं। जैसे चैतन्य स्वरूप आत्माका परिणमन चेतनमई तथा जड़ पुद्गलका परिणमन जड़ रूप अचेतन है। एक पुस्तक रक्खे रक्खे पुरानी पड़ जाती है क्योंकि उसमें परिणमन शक्ति है। इसीसे जब परिणमन होना द्रव्यमें सिद्ध है तब शुद्ध द्रव्य भी इस परिणमन शक्तिको कभी न त्यागकर परिणमन करते रहते हैं। इस तरह सर्व ही द्रव्य तथा आत्मा परिणमन स्वभाव हैं ऐसा सिद्ध हुआ। जब यह सिद्ध होगया कि आत्मा या सर्व द्रव्य परिणमन स्वभाव है तब परिणाम या पर्याय द्रव्यमें सदा ही पाए जाते हैं, जैसे गुण सदा पाए जाते हैं वैसे पर्यायें सदा पाई जाती हैं इसी लिये द्रव्य गुण पर्यायवान है यह सिद्ध है–गुण और पर्यायमें अन्तर यही है कि गुण सदा वे ही द्रव्यमें मिलते हैं जब कि पर्यायें सदा भिन्न२ मिलती हैं। जिस समय एक पर्याय पैदा होती है उसी समय पिछली पर्यायका नाश होता है या यों कहिये कि पिछली पर्यायका नाश उसीको नवीन पर्यायका उत्पाद कहते हैं। इसलिये द्रव्यमें पर्यायकी अपेक्षा हरसमय उत्पाद और व्यय अर्थात् नाश सदा पाए जाते हैं तथा गुण सहभावी रहते हैं इससे वे ध्रौव्य या अविनाशी कहलाते है। इसी अपेक्षा जहां "सत् द्रव्यलक्षणं" कहा है वहां सत्को उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप कहा है। अर्थात् द्रव्यको तब ही मान सक्ते हैं जब द्रव्यमें ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों दशाएं हरसमयमें

पाई जावें। यही भाव इस गाथामें है कि पदार्थ कभी परिणामके विना नहीं मिलेगा और पदार्थके विना परिणाम भी कहीं अलग नहीं मिलसक्ता है इन दोनोंका अविनाभाव सम्बंध है। तथा उसी पदार्थकी सत्ता सिद्ध मानी जायगी जो द्रव्यगुण पर्यायोंमें रहनेवाला है। यहां द्रव्य शब्दसे सामान्य गुण समुदायात्मा लेना चाहिये उसीके विशेष गुण और पर्यायें लेनी चाहिये। इस तरह सामान्य और विशेष रूप पदार्थ ही जगतमें सत् है। तात्पर्य यह है कि जब आत्माका स्वभाव परिणमनशील है तब ही यह आत्मा जिस भावरूप परिणमन करेगा उस रूप हो जायगा अतएव शुभ अशुभ भावोंको त्यागकर शुद्ध भावोंमें परिणमना कार्यकारी है। इस तरह शुभ अशुभ शुद्ध परिणामोंकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे वीतराग चारित्र रूप शुद्धोपयोग तथा सराग चारित्र रूप शुभोपयोग परिणामोंका संक्षेपसे फल दिखाते हैं:-

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं॥११॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम्॥ ११॥

सामान्यार्थ—धर्मभावसे परिणमन करता हुआ आत्मा यदि शुद्ध उपयोग सहित होता है तो निर्वाणके सुखको पाता है। यदि शुभ उपयोग सहित होता है तब स्वर्गके सुखको पाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(धम्मेण) धर्म भावसे

(परिणदप्पा) परिणमन स्वरूप होता हुआ (अप्पा) यह आत्मा (जदि) यदि (सुद्धसंपयोगजुदो) शुद्धोपयोग नामके शुद्ध परिणाममें परिणत होता है (णिव्वाणसुहं) तब निर्वाणके सुखको (पावदि) प्राप्त करता है। (व) और यदि (सुहो-वयुत्तो) शुभोपयोगमें परिणमन करता है तो (सग्गसुहं) स्वर्गके सुखको पाता है। यहां विस्तार यह है कि यहां धर्म शब्दसे अहिंसा लक्षण धर्म, मुनि श्रावकका धर्म, उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म अथवा रत्नत्रय स्वरूप धर्म वा मोह क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम या शुद्ध वस्तुका स्वभाव गृहण किया जाता है। वही धर्म अन्य पर्यायसे अर्थात् चारित्र भावकी अपेक्षा चारित्र कहा जाता है। यह सिद्धांतका वचन है कि " चारित्तं खलु धम्मो " (देखो गाथा ७ वीं) वही चारित्र अपहृत संयम तथा उपेक्षा संयमके भेदसे वा सराग वीतरागके भेदसे वा शुभोपयोग, शुद्धोप-योगके भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे शुद्ध संप्रयोग शब्दसे कहने योग्य जो शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र उससे निर्वाण प्राप्त होता है। जब विकल्प रहित समाधिमई शुद्धोपयोगकी शक्ति नहीं होती है तब यह आत्मा शुभोपयोग रूप सराग चारित्र भावसे परिणमन करता है तब अपूर्व और अनाकुलता लक्षण धारी निश्चय सुखसे विपरीत आकुलताको उत्पन्न करनेवाला स्वर्ग सुख पाता है। पीछे परम समाधिके योग्य सामग्रीके होनेपर मोक्षको प्राप्त करता है ऐसा सूत्रका भाव है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने शुद्धोपयोगका फल कर्म बंधनसे छूटकर मुक्त होना अर्थात् शुद्ध स्वरूप हो जाना बताया

है। आचार्य महाराज अपनी ५वीं गाथामें कही हुई बातकी ही पुष्टि कररहे हैं कि साम्यभावसे ही आत्मा मुक्त होता है इसी साम्यभावको वीतराग चारित्र चारित्रकी अपेक्षा या कषायोंके शमन या क्षयकी अपेक्षा तथा शुद्धोपयोग निर्विकार क्षोभ रहित ज्ञानोपयोगकी अपेक्षा इसी भावको निश्चय रत्नत्रयमई धर्म व अहिंसाधर्म या वस्तु स्वभाव रूप धर्म या दश धर्मका एकत्व कहते हैं-यही राग द्वेष रहित निर्विकल्प समाधि भाव कहलाता है। इसीको धर्मध्यान या शुक्लध्यानकी अग्नि कहते हैं। इसीको स्वात्मानुभूति व स्वस्वरूपरमण व स्वरूपाचरण चारित्र भी कहते हैं। इसी भावमें यह शक्ति है कि अग्नि जैसे कपासके समूहको जला देती है वैसे यह ध्यानकी अग्नि पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा कर देती है तथा नवीन कर्मोंका संवर करती है। जिस भावसे नए कर्म न आवें और पुराने बंधे समय समय असंख्यात गुणे अधिक झड़ें उसी भावसे अवश्य आत्माकी शुद्धि होसक्ती है। जिस कुंडमें नया पानी आना बंद होजावे और पुराना पानी अधिक जोरसे बह जाय वह कुंड अवश्य कुछ कालमें बिलकुल जल रहित हो जावेगा। आत्माके कर्मोंका बंधन कषाय भावके निमित्तसे होता है। इसी कषायको रागद्वेष कहते हैं। तब रागद्वेषके विरोधी भाव अर्थात् वीतराग भावसे अवश्य कर्म झड़ेंगे। वास्तवमें जैसा साधन होगा वैसा साध्य सधेगा। जैसी भावना तैसा फल। इसलिये शुद्ध आत्मानुभवसे अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ होता है। यह शुद्धात्मानुभव यहां भी अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद प्रदान करता है तथा भविष्यमें भी सदाके लिये आनन्दमयी बना देता है। यही मुक्तिका साक्षात्

कारण है। श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशामें कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा॥ ४६॥
एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्।
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति॥४७॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई आत्माका स्वभाव है। जो मोक्षका इच्छुक है उसे इसी एक मोक्षमार्गकी सदा सेवा करनी योग्य है। निश्चयसे यही एक दर्शन ज्ञानचारित्रमई मोक्षका मार्ग है। जो कोई इसी मार्गमें ही ठहरता है, इसीको ही रात दिन ध्याता है, इसीका ही अनुभव करता है, इसीमें ही निरंतर विहार करता है तथा अपने आत्माके सिवाय अन्य द्रव्योंको जो स्पर्श नहीं करता है वही जीव नित्य प्रकाशमान शुद्धात्माका अवश्य ही स्वाद लेता है। इसलिये शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्षका कारण होनेसे उपादेय है। परन्तु जिस किसीका उपयोग शुद्ध भावमें नहीं जमता है वह शुभोपयोगमें उपयुक्त होता है। शुद्धोपयोगमें व शुद्धोपयोगके धारक पांच परमेष्ठीमें जो प्रीतिभाव तथा इस प्रीति भावके प्रदर्शनके निमित्तोंमें जो प्रेम उसको शुभोपयोग कहते हैं। इस शुभोपयोगमें ज्ञानी जीव यद्यपि वर्तन करता है तथापि अंतरंग भावना शुद्धोपयोगके लाभकी होती है। इसी कारणसे ऐसा शुभोपयोगमें वर्तना शीघ्र शुद्धोपयोगकी तरफ उपयोगको मुड़नेके लिये निमित्त कारण है; इसीसे इस शुभोपयोग-

को मोक्षका परंपरा कारण कहा गया है। इस शुभोपयोगमें जितना अंश रागभाव होता है उससे अघातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंका वंधन होकर पुन्य प्रकृतियोंका बंध होता है इसीसे शुभोपयोगी शुभ नाम, उच्च गोत्र, साता वेदनीय तथा देवायु बांधकर स्वर्गोंमें अतिशय सातामें मग्न देव होजाता है। वहां क्षुधा तृषा रोगादि व धन लाभादिकी आकुलताओंसे तो छूट जाता है किन्तु केवल आकुलतामई इन्द्रिय जनित सुख भोगता है तथापि वहां भी शुद्धोपयोगकी प्राप्तिकी भावना रहती है जिससे वह ज्ञानी आत्मा उन इंद्रिय सुखोंमें तन्मय नहीं होता है किन्तु उनको आकुलताके कारण जानके उनके छुटने व अतीन्द्रिय आनन्दके पानेका उत्सुक रहता है। इससे स्वर्गका सम्यग्दृष्टी आत्मा इस मनुष्य भवमें योग्य सामग्रीका सम्बन्ध पाता है जिससे शुद्धोपयोग रूप परिणमन कर सके।

तात्पर्य्य इस गाथाका यह है कि अशुभोपयोगसे बचकर शुद्धोपयोगमें रमनेकी चेष्टा करनी योग्य है। यदि शुद्धोपयोग न होसके तो शुभोपयोगमें वर्तना चाहिये तथापि इस शुभोपयोगको उपादेय न मानना चाहिये

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस किसी आत्मामें वीतराग या सराग चारित्र नहीं है उसके भीतर अत्यन्त त्यागने योग्य अशुभोपयोग रहेगा उस अशुभयोगका फल कटुक होता है।

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमइ अच्चंतं ॥१२॥

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिकः ।
दुःखसहस्रैः सदा अभिधृतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥ १२ ॥

सामान्यार्थ-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा, द्यूत रमण, परकी हानि, विषयभोगोंमें लोलुपता आदि अशुभोपयोगसे परिणमन करता हुआ आत्मा पाप बांधकर उस पापके उदयसे खोटा दुःखी दरिद्री मनुष्य होकर व तिर्यंच अर्थात् एकेन्द्री वृक्षादिसे पंचेन्द्री तक पशु होकर अथवा नारकी होकर हज़ारों दुःखोंसे सदा पीड़ित रहता हुआ इस संसारमें बहुत अधिक भ्रमण करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(असुहोदयेण) अशुभ उपयोगके प्रगट होनेसे जो पाप कर्म बंधता है उसके उदय होनेसे (आदा) आत्मा (कुणरो) खोटा दीन दरिद्री मनुष्य (तिरियो) तिर्यंच तथा (णेरइयो) नारकी (भवीय) होकर (अच्चंतं) बहुत अधिक (भमई) संसारमें भ्रमण करता है। प्रयोजन यह है कि अशुभ उपयोग विकाररहित शुद्ध आत्मतत्वकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्वसे तथा उस ही शुद्ध आत्मामें क्षोभरहित चित्तका वर्तनारूप निश्चय चारित्रसे विलक्षण या विपरीत है। विपरीत अभिप्रायसे पैदा होता है तथा देखे, सुने, अनुभव किए हुए पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छामई तीव्र संक्लेशरूप है ऐसे अशुभ उपयोगसे जो पाप कर्म बांधे जाते हैं उनके उदय होनेसे यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध आत्माके आनन्दमयी परमार्थिक सुखसे विरुद्ध दुःखसे दुःखी होता हुआ व अपने स्वभावकी भावनासे गिरा हुआ संसारमें खूब ही भ्रमण करता है। ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने अशुभोपयोगका फल दिखलाया है। इस जीवके वैरी कषाय हैं। कषायोंके उदयसे ही आत्माका उपयोग कलुषित वा मैला रहता है। शुद्धोपयोग कषाय रहित परिणाम है इसीसे वह मोक्षका कारण है। अशुद्धोपयोग कषाय सहित आत्माका भाव है इससे बंधका कारण है। इस अशुद्धोपयोगके शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसे दो भेद हैं। जिस जीवके अनंतानुबन्धी चार और मिथ्यात्व आदि तीन दर्शन मोहनीयकी ऐसी सात कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम हो जाता है। अथवा क्षयोपशम या क्षय हो जाता है उस सम्यग्दृष्टी जीवके कषाय अंतरंगमें मन्द हो जाती है। अतएव ऐसा ही जीव मंद कषायपूर्वक जप, तप, सयम, व्रत, उपवास, दान, परोपकार, स्वाध्याय, पूजा, आदि व्यवहार धर्ममें प्रेम करता हुआ शुभोपयोगका धारी होता है। परन्तु जिस जीवके सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी प्राप्ति नहीं हुई है वह अनंतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वसे वासित आत्मा अशुभ उपयोगका धारी होता है क्योंकि उसके भीतर देखे, सुने, अनुभए इन्द्रिय भोगोंकी कामना जाग्रत रहती है। जिस इच्छाकी पूर्तिके लिये मद्य, मांस, मधु खाता है, हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रहमें लगा रहता है। अपने स्वार्थके लिये परका बुरा करनेका उद्यम करता है। इसलिये वह अशुभोपयोगका धारी जीव अपने पाप भावोंसे नरक निगोद, तिर्यंच गतिका कर्म बांधकर नरकमें जाता है तब छेदन भेदन मारण तारण आदि महा दुःखोंको सागरों पर्यंत भोगता है, यदि निगोद जाता है तब दीर्घकाल वहीं बिताकर फिर तिर्यंच

गतिमें कुछ स्थाव० जीवोंको घात मारकर महान संक्लेश उठाता है। मनुष्य गतिमें दलिद्री, दुःखी, रोगी मनुष्य हो बड़े कष्टसे आयु पूर्ण करता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव कभी जप, तप, व्रत उपवास, ध्यान, परोपकार आदि भी करता है उस समय उसकी बाहरी क्रिया कभी शुभ तथा आगमके अनुसार ठीक प्रगट होती है, परन्तु अंतरंगमें मिथ्या अभिप्राय रहनेसे उसके उपयोगको शुभोपयोग नहीं कहते हैं। यद्यपि यह मिथ्यादृष्टी इस मंद कषायसे अघातिया कर्मोंमें पुण्य प्रकृतियोंको शुभोपयोगकी तरह बांधता है और कहीं २ शुभोपयोगीसे भी अधिक मंदकषाय होनेसे शुभोपयोगीसे अधिक पुण्य प्रकृतिको बांध लेता है तौ भी संसार भ्रमणका पात्र ही रहता है इससे उस मिथ्यात्वी द्रव्यलिंगी मुनिको भी अशुभोपयोगी कहते हैं। एक गृहस्थ सम्यग्दृष्टी व्रतोंको पालता हुआ जब शुभोपयोगसे पुण्य बांध केवल १६ सोलह स्वर्ग तक ही जाता है तब मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिंगी मुनि बाहर उपयोगमें प्रगट शुभलेश्याके प्रतापसे नौमें ग्रैवक तक चला जाता है। तौ भी वह श्रावक मोक्षमार्गी होनेसे शुभोपयोगी है, तथा द्रव्यलिंगी मुनि संसारमार्गी होनेसे अशुभोपयोगी है। यहांपर कोई शंका करे कि सम्यग्दृष्टी जब महारम्भमें वर्तता है अथवा क्षत्री या वैश्य कर्ममें युद्धादि करता है या कृषि वाणिज्य करता है या विषयभोगोंमें वर्तता है तब भी क्या उस सम्यग्दृष्टिके उपयोगको शुभोपयोग कहेंगे? जिस अपेक्षासे यहां अशुभोपयोगकी व्याख्या की है, वह अशुभोपयोग सम्यग्दृष्टीके कदापि नहीं होता है। सम्यग्दृष्टीका महारम्भ भी धर्मसाधनमें परम्परा निमित्तभूत है। अभिप्रायमें सम्यग्दृष्टी

स्वपर हितको ही वांछता है—शत्रुकी भी आत्माका कल्याण चाहता है इससे उसके उपयोगको शुभोपयोग कहसक्ते हैं। यद्यपि चारित्र अपेक्षा अशुभोपयोग है क्योंकि संक्लेश भावोंसे महारंभ करता है तथापि मिथ्यात्वकी अपेक्षा शुभोपयोग है। जहांतक सम्यग्दृष्टी जीवके प्रवृत्ति मार्ग है वहां तक इसके अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनों होते हैं। चारित्रकी अपेक्षा जब सम्यक्ती तीव्र कषायवान हो महारंभमें प्रवर्तता है, अथवा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग या पीड़ाकी चितामें होजाता है या परिग्रहमें उलझकर कुछ इर्षाकर लिया करता है या परिग्रहके वियोगसे कुछ विषाद कर लिया करता है तब इसके अशुभोपयोग होता है और जब व्यवहार चारित्र श्रावक या मुनिका आचरता है तब इसके शुभोपयोग होता है। शुभोपयोगमें धर्मध्यान जब कि अशुभोपयोगमें धर्मध्यान न होकर केवल आर्त और रौद्र ध्यान रहता है। ये दोनों ध्यान अशुभ हैं तथापि पांचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक तक रौद्र ध्यान और छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तविरत मुनितक आर्तध्यान रहता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टीके अशुभोपयोग होता है तथापि यह अशुभोपयोग सम्यक्तकी भूमिका सहित है, इस कारण मिथ्यादृष्टीके अशुभोपयोगसे विलक्षण है।

यह अशुभोपयोग भी निर्वाणमें बाधक नहीं है जब कि मिथ्यादृष्टीका शुभोपयोग भी मोक्षमें बाधक है। इसके सिवाय मिथ्यादृष्टीका अशुभोपयोग जैसा पापकर्म बांधता वैसा पापकर्म सम्यग्दृष्टीका अशुभोपयोग नहीं बांधता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टी जीव ४१ प्रकृतियोंका तो बंध ही नहीं करता है इसलिये वह

नरक, तिर्यञ्च आयुको नहीं बांधता, न वह स्त्री नपुंसक होता है न दीन दुःखी दरिद्री मनुष्य न हीन देव होता है। मिथ्यादृष्टीके जप, तप दानादिको उपचारसे शुभ कहा जाता है। वास्तवमें वह शुभ नहीं है इसीसे मिथ्यादृष्टीके शुभोपयोगका निषेध है, केवल अशुभोपयोग ही होता है। जिसके कारण घोर पाप बांध चारों-गतियोंमें दीर्घ कालतक भ्रमण करता है।

तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोग त्यागने योग्य है, पाप बंधका कारण है इससे इस उपयोगसे बचना चाहिये तथा शुद्धो-पयोग मोक्षका कारण है इससे ग्रहण करना चाहिये और जब शुद्धोपयोग न हो सके तब अशुभोपयोगसे बचनेके लिये शुभो-पयोगको हस्तावलम्बनजान ग्रहणकर लेना चाहिये।

इसमें इतना और विशेष जानना कि सम्यक्तकी अपेक्षा जब तक मिथ्यात्व भावका सद्भाव है तबतक उपयोगको अशुभोपयोग कहा जाता है क्योंकि वह मोक्षका परंपरा कारण भी नहीं है। किन्तु जब लेश्याओंकी अपेक्षा विचार किया जाय तब कृष्ण नील कापोत तीन अशुभ लेश्याओंके साथ उपयोगको अशुभोपयोग तथा पीत पद्म शुक्ल तीन शुभ लेश्याओंके साथ उपयोगको शुभोपयोग कहते हैं। इस अर्थसे देखनेसे जब छहों लेश्याएं सैनी पंचेन्द्री मिथ्यादृष्टी जीवके पाई जाती हैं तब अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनों उपयोग मिथ्यादृष्टियोंके पाए जाते हैं इसीसे जब शुभलेश्या सहित शुभोपयोग होता है तब मिथ्यादृष्टी जीव चाहे द्रव्यलिंगी श्रावक हो या मुनि, पुण्य कर्मोंको भी बांधते हैं। परंतु उस पुण्यको निरतिशय पुण्य या पापानुबंधी पुण्य कहते हैं। क्योंकि

इस पुण्यके उदयसे इन्द्रादि महापदवी धारक नहीं होते हैं। तथा पुण्यको भोगते हुए बुद्धि पापोंमें झुक जासक्ती है जिससे फिर नर्क निगोदमें चले जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्वीका शुभोपयोग व उसका फल दोनों ही सराहनीय नहीं हैं।

इसीसे यही भाव समझना चाहिये कि जिस तरहसे हो तत्वज्ञान द्वारा सम्यक्तकी प्राप्ति करनी योग्य है। १२ ॥

इस तरह तीन तरहके उपयोगके फलको कहते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे आचार्य शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोंको निश्चय नयसे त्यागने योग्य जानकरके शुद्धोपयोगके अधिकारको प्रारंभ करते हुए तथा शुद्ध आत्माकी भावनाको स्वीकार करते हुए अपने स्वभावमें रहनेके इच्छुक जीवके उत्साह बढ़ानेके लिये शुद्धोपयोगका फल प्रकाश करते हैं। अथवा दूसरी पातनिका या सूचना यह है कि यद्यपि आगे आचार्य शुद्धोपयोगका फल ज्ञान और सुख संक्षेप या विस्तारसे कहेंगे तथापि यहां भी इस पीठिकामें सूचित करते हैं अथवा तीसरी पातनिका यह है कि पहले शुद्धोपयोगका फल निर्वाण बताया था अब यहां निर्वाणका फल अनंत सुख होता है ऐसा कहते हैं। इस तरह तीन पातनिकाओंके भावको मनमें धरकर आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

सामान्यार्थ-अति आश्चर्यकारी, आत्मासे ही उत्पन्न, पांच इन्द्रियके विषयोंसे शून्य, उपमा रहित, अनंत और निराबाध सुख शुद्धोपयोगमें प्रसिद्ध अर्थात् शुद्धोपयोगी अरहंत और सिद्धोंके होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं) शुद्धोपयोगमें प्रसिद्धोंको अर्थात् वीतराग परम सामायिक शब्दसे कहने योग्य शुद्धोपयोगके द्वारा जो अरहंत और सिद्ध होगए हैं उन परमात्माओंको (अइसयं) अतिशयरूप अर्थात् अनादि कालके संसारमें चले आए हुए इन्द्रादिके सुखोंसे भी अपूर्व अद्भुत परम आल्हाद रूप होनेसे आश्चर्यकारी, (आदसमुत्थं) आत्मासे उत्पन्न अर्थात् रागद्वेषादि विकल्प रहित अपने शुद्धात्माके अनुभवसे पैदा होनेवाला, (विसयातीदं) विषयोंसे शून्य अर्थात् इन्द्रिय विषय रहित परमात्म तत्वके विरोधी पांच इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित, (अणोवमं) उपमा रहित अर्थात् दृष्टांत रहित परमानन्दमई एक लक्षणको रखनेवाला, (अणंतं) अनंत अर्थात् अनन्त भविष्यकालमें विनाश रहित अथवा अप्रमाण (च) तथा (अव्वुच्छिण्णं) विघ्नरहित अर्थात् असाताका उदय न होनेसे निरन्तर रहनेवाला (सुहं) आनन्द रहता है। वही सुख उपादेय है इसीको निरन्तर भावना करनी योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने साम्यभाव या शुद्धोपयोगका फल यह बताया है कि शुद्धोपयोगके प्रतापसे संसारी आत्माके गुणोंके रोकनेवाले घातिया कर्म छूट जाते हैं। तब आत्माके प्रच्छन्न गुण विकसित होजाते हैं। उन सब गुणोंमें मुख्य सुख

नामा गुण है। क्योंकि सभी संसारी जीवोंके अंतरंगमें सुख पानेकी इच्छा रहती है। सब ही निराकुल तथा सुखी होना चाहते हैं इन्द्रियोंके विषय भोगके कल्पना मात्र सुखसे यह जीव न कभी निराकुल होता है न सुखी होता है। सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है वही सच्चा सुख कर्मोंके आवरण हटनेसे प्रगट होजाता है। उसी सुखका स्वभाव यहां कहते हैं। वह सुख इस प्रकारका है कि बड़े २ इन्द्र चक्रवर्ती भी जिस सुखको इन्द्रिय भोगोंको करते करते नहीं पासक्ते हैं तथा जिस जातिका आल्हाद इस आत्मीक सुखमें है वैसा आनन्द इन्द्रिय भोगोंसे नहीं प्राप्त होसक्ता है। इंद्रिय सुख आकुलता रूप है, अतीन्द्रिय सुख निराकुल है इसीसे अतिशय रूप है। इन्द्रिय सुख पराधीन है क्योंकि अपने शरीर व अन्य चेतन अचेतन वस्तुओंके अनुकूल परिणमनके आधीन है, जब कि आत्मीक सुख स्वाधीन है जो कि आत्माका स्वभाव होनेसे आत्मा ही के द्वारा प्रगट होता है। इन्द्रिय सुख इन्द्रिय द्वारा योग्य पदार्थोंके विषयको ग्रहण करनेसे अर्थात् जाननेसे होता है जब कि आत्मीक सुखमें विषयोंके ग्रहण या भोगका कोई विकल्प ही नहीं होता है। आत्मीक सुखके समान इस लोकमें कोई और सुख नहीं है जिससे इस सुखका मिलान किया जाय इससे यह आत्मीक सुख उपमा रहित है, इंद्रिय सुख अंत सहित विनाशीक व अल्प होता है जब कि आत्मिक सुख अंत रहित अविनाशी और अप्रमाण है, इद्रिय सुख असाताका उदय होनेसे व साताके क्षयसे छूट जाता है निरन्तर नहीं रहता जब कि आत्मीक सुख निरन्तर बना रहता है। जब पूर्णपने प्रगट होजाता है तब अनंतकालतक

विना किसी विघ्नबाधाके अनुभवमें आता है।

अरहंत भगवानके ऐसा अनुपम सुख उत्पन्न होजाता है सो सिद्धोंके सदाकाल बना रहता है। यद्यपि इस सुखकी पूर्ण प्रगटता अर्हतोंके होती है तथापि चतुर्थ गुणस्थानसे इस सुखके अनुभवका प्रारंभ होजाता है। जिस समय मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धीका पूर्ण उपशम होकर उपशम सम्यग्दर्शन जगता है उसी समय स्वात्मानुभव होता है तथा इस आत्मीक आनन्दका स्वाद आता है। इस सुखके स्वाद लेनेसे ही सम्यक्त भाव है ऐसा अनुमान किया जाता है। यहांसे लेकर श्रावक या मुनि अवस्थामें जब जब इस महात्मामें अपने स्वरूपकी सन्मुखता होती है तब तब स्वात्मानुभव होकर इस आत्मीक सुखका लाभ होता है। क्षायिक ज्ञान और अनंतवीर्यके होनेपर इस आत्मीक सुखका निर्मल और निरन्तर प्रकाश केवलज्ञानी अर्हतके होजाता है और फिर वह प्रकाश कभी भी बुझता व मन्द नहीं होता है।

तात्पर्य यह है कि जिस साम्यभावसे आत्मीक आनन्दकी प्राप्ति होती है उस साम्यभावके लिये पुरुषार्थ करके उद्यम करना चाहिये। वही अब भी सुख प्रदान करता है और भावीकालमें भी सुखदाई होगा। निर्वाणमें भी इसी उत्तम आत्मीक आनंदका प्रकाश सदा रहता है इसी लिये मोक्ष या निर्वाण ग्रहण करने योग्य है। उसका उपाय शुद्धोपयोग है। सोही भावने योग्य है।

उत्थानिका—आगे जिस शुद्धोपयोगके द्वारा पहले कहा हुआ आनन्द प्रगट होता है उस शुद्धोपयोगमें परिणमन करनेवाले पुरुषका लक्षण प्रगट करते हैं:—

**सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोव-
ओगोत्ति ॥१४॥**

सुविदितपदार्थसूत्रः संयमतपः संयुतो विगतरागः।
श्रमणः समसुखदुःखो भणितः शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

सामान्यार्थ-जिसने भले प्रकार पदार्थ और उनके बतानेवाले सूत्रोंको जाना है, जो संयम और तपसे संयुक्त है, वीतराग है और दुःख सुखमें समता रखनेवाला है सो साधु शुद्धोपयोगी कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सुविदिदपदत्थसुत्तो) भले प्रकार पदार्थ और सूत्रोंको जाननेवाला, अर्थात् संशय विमोह विभ्रम रहित होकर जिसने अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थोंको और उनके बतानेवाले सूत्रोंको जाना है और उनकी रुचि प्राप्त की है, (संजमतवसंजुदो) संयम और तप संयुक्त है अर्थात जो बाहरमें द्रव्येंद्रियोंसे उपयोग हटाते हुए और पृथ्वी आदि छः कायोंकी रक्षा करते हुए तथा अंतरंगमें अपने शुद्ध आत्माके अनुभवके बलसे अपने स्वरूपमें संयम रूप ठहरे हुए हैं तथा बाह्य व अंतरंग बारह प्रकार तपके बलसे काम क्रोध आदि शत्रुओंसे जिनका प्रताप खंडित नहीं होता है और जो अपने शुद्ध आत्मामें तप रहे हैं; जो (विगदरागो) वीतराग हैं अर्थात वीतराग शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे सर्व रागादि दोषोंसे रहित हैं (समसुहदुक्खो) सुख दुःखमें समान हैं अर्थात् विकार रहित और विकल्प रहित समाधिसे उत्पन्न तथा परमानन्द सुखरसमें लवलीन ऐसी

निर्विकार स्वसंवेदन रूप जो परम चतुराई उसमें थिरीभूत होकर इष्ट अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें ह[illegible] विषादको त्याग देनेसे समता भावके धारी हैं ऐसे गुणोंको रखनेवाला (समणः) परममुनि (सुद्धोवओगः) शुद्धोपयोग स्वरूप (भणिओ) कहा गया है (त्ति) ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने निर्वाणका कारण जो शुद्धोपयोग है उसके धारी परम साधुका स्वरूप बताया है। यद्यपि स्वस्वरूपमें थिरताको प्राप्त करना सम्यक् चारित्र है। और यही शुद्धोपयोग है। तथापि व्यवहार चारित्रके निमित्तकी आवश्यका है। क्योंकि हरएक कार्य्य उपादान और निमित्त कारणोंसे होता है। यदि दोनोंमेंसे एक कारण भी न हो तो कार्य्य होना अशक्य है। आत्माकी उन्नति आत्मा ही के द्वारा होती है। आत्मा स्वयं आत्माका अनुभव करता हुआ परमात्मा होजाता है। जैसे वृक्ष आप ही स्वयं रगड़कर अग्निरूप होजाता है।

जैसा समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद स्वामीने कहा है:–

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः॥

भावार्थ यह है कि आत्मा अपनी ही उपासना करके परमात्मा होजाता है। जैसे वृक्ष आप ही अपनेको मथनकरके अग्निरूप होजाता है। इस दृष्टांतमें भी वृक्षके परस्पर रगड़नेमें पवनका संचार निमित्तकारण है। यदि वृक्षकी शाखाएं पवन बिना थिर रहें तो उनसे अग्निरूप परिणाम नहीं पदा होसक्ता है।

आत्माकी शुद्ध परिणतिके होनेमें भी निमित्तकी आवश्यक्ता है उसीकी तरफ लक्ष्य देकरके आचार्य शुद्धोपयोगके लिये कौन२ निमित्तकी आवश्यक्ता है उसको कहते हुए शुद्धोपयोगी मानवका स्वरूप बताते हैं। सबसे पहला विशेषण यह दिया है कि उसको जिनवाणीके रहस्यका अच्छीतरह ज्ञान होना चाहिये। जिनशासनमें कथन निश्चय और व्यवहार नयके द्वारा इस लिये किया गया है कि जिससे अज्ञानी जीवको अपनी वर्तमान अवस्थाके होनेका कारण तथा उस अवस्थाके दूर होनेका उपाय विदित हो और यह भी खबर पड़े कि निश्चय नयसे वास्तवमें जीव और अजीवका क्या २ स्वरूप है तथा शुद्ध आत्मा किसको कहते हैं। जिनशासनमें छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थोंका ज्ञान अच्छी तरह होनेकी जरूरत है जिससे कोई संशय शेष न रहे। जबतक यथार्थ स्वरूपका ज्ञान न होगा तबतक भेद विज्ञान नहीं होसक्ता है। भेदज्ञान विना स्वात्मानुभव व शुद्धोपयोग नहीं होसक्ता। इसलिये शास्त्रके रहस्यका ज्ञान प्रबल निमित्तकारण है। दूसरा विशेषण यह बताया है कि उसे शुद्धात्मा आदि पदार्थोंका ज्ञाता और श्रद्धावान होकर चारित्रवान भी होना चाहिये इसलिये कहा है कि वह संयमी हो और तपस्वी हो जिससे यह स्पष्टरूपसे प्रगट है कि वह महाव्रती साधु होना चाहिये क्योंकि पूर्ण इन्द्रिय संयम तथा प्राण संयम इस ही अवस्थामें होसक्ता है। गृहस्थकी श्रावक अवस्थामें आरंभ परिग्रहका थोड़ा या बहुत सम्बन्ध रहनेसे संयम एकदेश ही पलसक्ता है पूर्ण नहीं पलता है। संयमीके साथ २ तपस्वी भी हो। उप-

वास, वेला, तेला, रसत्याग, अटपटी आखरी, कठिन स्थानोंमें ध्यान करना आदि गुण विशष्ट हो तब ही शुद्धोपयोगके जगनेकी शक्ति होसक्ती है। जिसका मन ऐसा वशमें हो कि कठिन कठिन उपसर्ग पड़ने पर भी चलायमान न हो, शरीरका ममत्व जिसका बिलकुल हट गया होगा उसीके अपने स्वरूपमें दृढ़ता होना संभव हैं। नग्न स्वरूप रहना भी बड़ी भारी निस्पृहताका काम है। इसी लिये साधुको सर्व वस्त्रादि परिग्रह त्याग बालकके समान कषायभाव रहित रहना चाहिये। साधुके चारित्रको पालनेवाला ही शुद्धोपयोगका अधिकारी होसक्ता है। तीसरा विशेषण वीतराग है। इस विशेषणमें अंतरंग भावोंकी शुद्धताका विचार है। जिसका अंतरंग आत्माकी ओर प्रेमालु तथा जगत व शरीर व भोगोंमें उदासीन हो वही शुद्ध आत्म भावको पासक्ता है। निरंतर आत्म रसका पिपासु ही शुद्धोपयोगका अधिकारी होसक्ता है। चौथा विशेषण यह दिया है कि जिसकी इतनी कषायोंकी मंदता हो गई है कि जिसके सांसारीक सुखके होते हुए हर्ष होता नहीं व दुःख व क्लेशके होनेमें दुःखभाव व आर्तभाव नहीं प्रगट होता है। जिनकी पूजा की जाय अथवा जिनकी निन्दा की जाय व खड्गका प्रहार किया हो भी हर्ष व विषाद नहीं हो। जो तलवारकी चोटको भी फूलोंका हार मानते हों, जिन्होंने शरीरको अपने आत्मासे बिलकुल भिन्न अनुभव किया है वे ही जगतके परिणमनमें समताभाव हैं। इन विशेषणों कर सहित साधु जब ध्यानका अभ्यास करता तब सविकल्प भावमें रमते हुए निर्विकल्प भावमें आजाता जब तक उसमें जमा रहता है तब तक इस साधुके शुद्धोपयोग

कहा जाता है। इसीलिये आगममें शुद्धोपयोग सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे कहा गया है। सातवें गुणस्थानसे नीचे भी चौथे गुणस्थान आदि धारकोंके भी कुछ अंश शुद्धोपयोग होजाता है परन्तु वहां शुभोपयोग अधिक होता है इसीसे शुद्धोपयोग न कह कर शुभोपयोग कहा है।

यहां आचार्यकी यही सूचना है कि निर्वाणके अनुपम सुखका कारण शुद्धोपयोग है। इसलिये परम सुखी होनेवाले आत्माको अशुभोपयोग व शुभोपयोगमें न रंगकर मात्र शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका उद्यम करना चाहिये। यदि संयम धारनेकी शक्ति हो तो मुनिपदमें आकर विशेष उद्यम करना योग्य है-मुनिपदके बाहरी आचरणको निमित्तकारण मात्र मानकर अंतरंग स्वरूपाचरणका ही लाभ करना योग्य है। बाहरी आचरणके विकल्पमें ही अपने समयको न खोदेना चाहिये। जो मुनिका संयम नहीं पालसक्ते वे एक देश संयमको पालते हुए भी शुद्धोपयोगकी भावना करते हैं तथा अनुभव दशामें इस स्वात्मानुभव रूप शुद्धोपयोगका स्वरूप वेदकर सुखी रहते हैं। भाव यह है कि जिस तरह हो शुद्धोपयोग व उसके धारी महा पुरुषोंको ही उपादेय मानना चाहिये।

इस तरह शुद्धोपयोगका फल जो अनंत सुख है उसके पाने योग्य शुद्धोपयोगमें परिणमन करनेवाले पुरुषका कथन करते हुए पांचवें स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका-इस प्रवचनसारकी व्याख्यामें मध्यम रुचि धारी शिष्यको समझानेके लिये मुख्य तथा गौण रूपसे

अंतरंग तत्त्व आत्मा और बाह्य तत्त्व अन्य पदार्थ इनको वर्णन करनेके लिये पहले ही एकसौ एक गाथामें ज्ञानाधिकारको कहेंगे। इसके पीछे एकसौ तेरा गाथाओंमें दर्शनका अधिकार कहेंगे। उसके पीछे सत्तानवें गाथाओंमें चारित्रका अधिकार कहेंगे। इस तरह समुदायसे तीनसौ ग्यारह सूत्रोंसे ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप तीन महा अधिकार हैं। अथवा टीकाके अभिप्रायसे सम्यग्ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार चूलिका सहित अधिकार तीन हैं।

इन तीन अधिकारोंमें पहले ही ज्ञान नामके महाअधिकारमें बहत्तर गाथा पर्यंत शुद्धोपयोग नामके अधिकारको कहेंगे। इन ७२ गाथाओंके मध्यमें "एस सुरासुर" इस गाथाको आदि लेकर पाठ क्रमसे चौदह गाथा पर्यंत पीठिकारूप कथन है जिसका व्याख्यान कर चुके हैं। इसके पीछे ७ सात गाथाओं तक सामान्यसे सर्वज्ञकी सिद्धि करेंगे। इसके पीछे तेतीस गाथाओंमें ज्ञानका वर्णन है। फिर अठारह गाथा तक सुखका वर्णन है। इस तरह अंतर अधिकारोंसे शुद्धोपयोगका अधिकार है। आगे पचीस गाथा तक ज्ञान कंठिका चतुष्टयको प्रतिपादन करते हुए दूसरा अधिकार है। इसके पीछे चार स्वतंत्र गाथाएं हैं इस तरह एकसौ एक गाथाओंके द्वारा प्रथम महा अधिकारमें समुदाय पातनिका जाननी चाहिये।

यहां पहली पातनिकाके अभिप्रायसे पहले ही पांच गाथाओं तक पांच परमेष्टीको नमस्कार आदिका वर्णन है, इसके पीछे सात गाथाओं तक ज्ञानकंठिका चतुष्टयकी पीठिकाका व्याख्यान है इनमें भी पांच स्थल हैं। जिसमें आदिमें नमस्कारकी मुख्यतासे गाथाएं

पांच हैं फिर चारित्रकी सूचनाकी मुख्यतासे "संपज्जइ णिव्वाणं" इत्यादि गाथाएं तीन हैं, फिर शुभ, अशुभ शुद्ध उपयोगकी सूचनाकी मुख्यतासे "जीवो परिणमदि" इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर उनके फल कथनकी मुख्यतासे "धम्मेण परिणदप्पा" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर शुद्धोपयोगको ध्यानेवाले पुरुषके उत्साह बढ़ानेके लिये तथा शुद्धोपयोगका फल दिखानेके लिये पहली गाथा है। फिर शुद्धोपयोगी पुरुषका लक्षण कहते हुए दूसरी गाथा है इस तरह "अइसइमादसमुत्थं" को आदि लेकर दो गाथाएं है। इस तरह पीठिका नामके पहले अंतराधिकारमें पांच स्थलके द्वारा चौदह गाथाओंसे समुदाय पातनिका कही है, जिसका व्याख्यान हो चुका।

इस तरह १४ गाथाओंके द्वारा पांच स्थलोंसे पीठिका नामका प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

आगे सामान्यसे सर्वज्ञकी सिद्धि व ज्ञानका विचार तथा संक्षेपसे शुद्धोपयोगका फल कहते हुए गाथाएं सात हैं। इनमें चार स्थल हैं। पहले स्थलमें सर्वज्ञका स्वरूप कहते हुए पहली गाथा है, स्वयंभूका स्वरूप कहते हुए दूसरी इस तरह "उवओग विसुद्धो" को आदि लेकर दो गाथाएं हैं। फिर उस ही सर्वज्ञ भगवानके भीतर उत्पाद व्यय ध्रौव्यपन स्थापित करनेके लिये प्रथम गाथा है। फिर भी इस ही बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरी गाथा है। इस तरह "भंग विहीणो" को आदि लेकर दो गाथाएं हैं। आगे सर्वज्ञके श्रद्धान करनेसे अनन्त सुख होता है। इसके दिखानेके लिये "त सव्वत्थ वरिट्ठं" इत्यादि सुत्र एक है। आगे

अतीन्द्रिय ज्ञान तथा सुखके परिणमनके कथनकी मुख्यतासे प्रथम गाथा है और केवलज्ञानीको भोजनका निराकरणकी मुख्यतासे दूसरी गाथा है, इस तरह " पक्खीण घाइ कम्मो " को आदि लेकर दो गाथाएं हैं। इस तरह दूसरे अंतर अधिकारमें चार स्थलसे समुदाय पातनिका पूर्ण।

आगे अब यह कहते हैं कि शुद्धोपयोगके लाभ होनेके पीछे केवलज्ञान होता है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव संबोधन करते हैं कि, हे शिवकुमार महाराज! कोई भी निकट भव्य जीव जिसकी रुचि संक्षेपमें जाननेकी है पीठिकाके व्याख्यानको ही सुनकर आत्माका कार्य करने लगता है। दूसरा कोई जीव जिसकी रुचि विस्तारसे जाननेकी है इस बातको विचार करके कि शुद्धोपयोगके द्वारा सर्वज्ञपना होता है और तब अनंतज्ञान अनंतसुख आदि प्रगट होते हैं फिर अपने आत्माका उद्धार करता है इसीलिये अब विस्तारसे व्याख्यान करते हैं—

उवओगविसुद्धो जो, विगदावरणंतरायमोहरओ
भूदो सयमेवादा, जादि परं णेयभूदाणं ॥ १५ ॥

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणतरायमोहरजाः।
भूतः स्वयमेवात्मा याति परं ज्ञेयभूतानाम् ॥ १५ ॥

सामान्यार्थ-जो शुद्धोपयोगके द्वारा निर्मल हो जाता है, वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय तथा मोह कर्मकी रजके चले जानेपर स्वयं ही सर्व ज्ञेय पदार्थोंके अंतको प्राप्त हो जाता है अर्थात् सर्वज्ञ होजाता है—

अन्वयसहित विशेषार्थ-(जो उवओगविसुद्धो) जो उपयोग करके विशुद्ध है अर्थात् जो शुद्धोपयोग परिणामोंमें रहता हुआ शुद्ध भावधारी होजाता है सो (आदा) आत्मा (सयमेव) स्वयं ही अपने आप ही अपने पुरुषार्थसे (विगदावरणांतराय मोह रओ भूदो) आवरण, अंतराय और मोहकी रजसे छूटकर अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय तथा मोहनीय इन चार घातिया कर्मोंके बंधनोंसे बिलकुल अलग होकर (णेयभूदाण) ज्ञेय पदार्थोंके (परं) अंतको (जादि) प्राप्त होता है अर्थात् सर्व पदार्थोंका ज्ञाता होजाता है। इसका विस्तार यह है कि जो कोई मोहरहित शुद्ध आत्माके अनुभव लक्षणमई शुद्धोपयोगसे अथवा आगम भाषाके द्वारा पृथक्त्व वितर्कवीचार नामके पहले शुक्लध्यानसे पहले सर्वमोहको नाश करके फिर पीछे रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे शून्य स्वसंवेदन लक्षणमई एकत्ववितर्क अवीचार नाम दूसरे शुक्लध्यानके द्वारा क्षीण कषाय गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्त्त ठहरकर उसी गुणस्थानके अंत समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय इन तीन घातिया कर्मोंको एक साथ नाश करता है वह तीन जगत तीन कालकी समस्त वस्तुओंके भीतर रहे हुए अनन्त स्वभावोंको एक साथ प्रकाशनेवाले केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धोपयोगसे सर्वज्ञ होजाता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने यह बताया है कि शुद्धोपयोगसे अथवा साम्यभावसे ही यह आत्मा स्वयं बिना किसी दूसरेकी सहायताके क्षपक श्रेणी चढ़ जाता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें ही प्रमत्त भाव नहीं रहता है। बुद्धि पूर्वक कषायका झलकना

बंद होजाता है। बुद्धिमें स्वात्म रस स्वाद ही अनुभवमें आता है। इस स्वात्मानुभव रूपी उत्कृष्ट धर्मध्यानके द्वारा कषायोंका बल घटता जाता है। ज्यों ज्यों कषायका उदय निर्बल होता जाता है त्यों २ अनन्त गुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है। जहांपर समय २ अनन्त गुणी विशुद्धता होती है वहींसे अधोकरणलब्धि-का प्रारम्भ होता है यह दशा सातवेंमें ही अंतर्मुहूर्त तक रहती है। तब ऐसे परिणामोंकी विशुद्धता बढ़ती है कि जो विशुद्धता अधोकरणसे भिन्न जातिकी है। यह भी समय २ अनन्त गुणी बढ़ती जाती है। इसकी उन्नतिके कालको अपूर्वकरण नामका आठवां गुणस्थान कहते हैं। फिर और भी विलक्षण विशुद्धता अनतगुणी बढ़ती जाती है क्योंकि कषायोंका बल यहां बहुत ही तुच्छ होजाता है। यह दशा अंतर्मुहूर्त्त रहती है। इस वर्तनको अनिवृत्तिकरणलब्धि कहते हैं। इस तरह विशुद्धताकी चढ़तीसे सर्व मोहनीय कर्म नष्ट होजाता है केवल सूक्ष्म लोभका उदय रह जाता है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानसे पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान शुरू होजाता है। यही ध्यान सूक्ष्मलोभ नामके दसवें गुणस्थानमें भी रहता है। यद्यपि इस ध्यानमें शब्द, पदार्थ, तथा योगका पलटना है तथापि यह सब पलटन ध्याताकी बुद्धिके अगोचर होता है। ध्याताका उपयोग तो आत्मस्थ ही रहता है। वह आत्मीक रसमें मग्न रहता है। इसी स्वरूपमग्नताके कारण आत्मा दसवें गुणस्थानके अतर्मुहूर्त कालमें ही सूक्ष्म लोभको भी नाशकर सर्व मोहकर्मसे छूटकर निर्मोह वीतरागी होजाता है तब इसको क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती कहते हैं। अब यहां मोहके चले

जानेसे ऐसी निश्चलता व वीतरागता होगई है कि यह आत्मा, बिलकुल ध्यानमें तन्मयी है यहां पलटना बंद हो रहा है। इसीसे यहां एकत्त्व वितर्क अवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान होता है। यहांके परम निर्मल उपयोगके द्वारा यह आत्मा अंतर्मुहूर्त्तमें ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, तथा अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंके बलको क्षीण करता हुआ अंत समयमें इनका सर्वथा नाश कर अर्थात् अपने आत्मासे इनको बिलकुल छुड़ाकर शुद्ध अरहंत परमात्मा होजाता है। आत्माके स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य क्षायिकसम्यक्त व वीतरागता आदि गुण प्रगट होजाते हैं। अब इसको पूर्ण निराकुलता हो जाती है। क्योंकि सर्व दुःख व आकुलताके कारण मिट जाते हैं। परिणामोंमें आकुलताके कारण ज्ञानदर्शनकी कमी, आत्मबलकी हीनता तथा रागद्वेष कषायोंका बल है। यहांपर अनंत ज्ञानदर्शनवीर्य्य व वीतराग भाव प्रगट हो जाते हैं इससे आकुलताके सब कारण मिट जाते हैं। अरहंत परमात्मा सर्वको जानते हुए भी अपने आत्मीक स्वादमें मगन रहते हैं। यह अरहंत पद महान पद है। जो इस पदमें जाता है वह जीवन मुक्त परमात्मा हो जाता है उसके अलौकिक लक्षण प्रगट हो जाते हैं, उसके मति श्रुत अवधि मनपर्यय ये ज्ञान नहीं रहते—ये ज्ञान सब केवलज्ञानमें समाजाते हैं ऐसा अद्भुत सर्वज्ञपद जिसके सर्व इन्द्र गणेन्द्र विद्याधर राजा आदि पूजा करते हैं, मात्र शुद्धोपयोग द्वारा आत्मामें प्रगट होजाता है ऐसा जान विकल्प त्याग धर्मध्यान चित ठान आत्मानंद रसमें तन्मई हो शुद्धोपयोगका विलास भोगना चाहिये। यहां इतना

और जानना कि आचार्यने मूल गाथामें कर्म रजको वर्णन किया है इससे यह सिद्ध किया है कि कर्म पुद्गल द्रव्यसे रची हुई कार्माण वर्गणाएं हैं जो वास्तवमें मूल द्रव्य हैं कोई कल्पित नहीं हैं। कर्म बंधकी बात अजैन लोग भी करते हैं परन्तु अजैन ग्रंथोंमें स्पष्ट रीतिसे कर्म वर्गणाओंके बंध, फल व खिरने आदिका वर्णन नहीं है। जैन ग्रंथोंमें वैज्ञानिक रीतिसे कर्मोंको पुद्गलमई बतलाकर उनके कार्यको व उनके क्षयको बताया है। दूसरा अभिप्राय यह भी सूचित किया है कि आत्मामें पूर्ण ज्ञानकी शक्ति स्वयं विद्यमान है कुछ नई पैदा नहीं होती है। कर्म रजके कारण शक्तिकी प्रगटता नहीं होती है। शक्तिको प्रगट होनेमें बाधकपना ही कर्म पुद्गलका असर है। इसलिये शुद्धोपयोगके बलसे कर्म पुद्गल आत्मासे भिन्न हो जाते हैं तब आत्माकी शक्तियें प्रगट होजाती हैं।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि शुद्धोपयोगसे उत्पन्न जो शुद्ध आत्माका लाभ है उसके होनेमें भिन्न कारककी आवश्यकता नहीं है। किन्तु अपने आत्मा ही के आधीन है।

तह सो लद्धसहावो, सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा, हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः।
भूतः स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥ १६ ॥

सामान्यार्थ-तथा वह आत्मा स्वयमेव ही विना किसी परकी सहायतासे अपने स्वभावको प्राप्त हुआ सर्वज्ञ तीन लोकका पति तथा इन्द्रादिसे पूजनीय होजाता है इसी लिये उसको स्वयंभू कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(वह) तथा (सो आदा) वह आत्मा (सयमेव) स्वयं ही (लद्धसहावः भूदः) स्वभावका लाभ करता हुआ अर्थात् निश्चय-रत्नत्रय लक्षणमई शुद्धोपयोगके प्रसादसे जैसे आत्मा सर्वका ज्ञाता हो जाता है वैसा वह शुद्ध आत्माके स्वभावका लाभ करता हुआ (सव्वण्हू) सर्वज्ञ व (सव्व-लोयपदमहिदो) सर्व लोकका पति तथा पूजनीय (हवदि) हो जाता है इस लिये वह (सयंभुत्ति) स्वयंभू इस नामसे (णिद्दिट्ठो) कहा गया है। भाव यह है कि निश्चयसे कर्त्ता कर्म आदि छः कारक आत्मामें ही हैं। अभिन्न कारककी अपेक्षा यह आत्मा चिदानन्दमई एक चैतन्य स्वभावके द्वारा स्वतंत्रता रखनेसे स्वयं ही अपने भावका कर्त्ता है तथा नित्य आनन्दमई एक स्वभावसे स्वयं अपने स्वभावको प्राप्त होता है इसलिये यह आत्मा स्वयं ही कर्म है। शुद्ध चैतन्य स्वभावसे यह आत्मा आप ही साधकतम है अर्थात् अपने भावसे ही आपका स्वरूप झलकाता है इसलिये यह आत्मा आप ही करण है। विकार रहित परमानन्दमई एक परिणति रूप लक्षणको रखनेवाली शुद्धात्मभाव रूप क्रियाके द्वारा अपने आपको अपना स्वभाव समर्पण करनेके कारण यह आत्मा आप ही संप्रदान स्वरूप है। तैसे ही पूर्वमें रहनेवाले मति श्रुत आदि ज्ञानके विकल्पोंके नाश होनेपर भी अखंडित एक चैतन्यके प्रकाशके द्वारा अपने अविनाशी स्वभावसे ही यह आत्मा आपका प्रकाश करता है इसलिये यह आत्मा आप ही अपादान है। तथा यह आत्मा निश्चय शुद्ध चैतन्य आदि गुण स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे आप ही अधिकरण होता है। इस तरह अभेद

षट् कारकसे स्वयं ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्म स्वभाव तथा केवल ज्ञानकी उत्पत्तिमें भिन्नकारककी अपेक्षा नहीं रखता है इसलिये आप ही स्वयंभू कहलाता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि अर्हंत परमात्माको स्वयंभू क्यों कहते हैं। यही शुद्धोपयोगमें परि: णमता हुआ आत्मा आपहीसे अपने भावको अपने लिये आपमेंसे आपमें ही समर्पण करता है। षट् कारकोंका विकल्प कार्योंमें हुआ करता है। इस विकल्पके दो भेद हैं-अभिन्न षट्कारक और भिन्न षट्कारक। भिन्नकारकका दृष्टान्त यह है कि जैसे किसानने अपने भंडारसे बीजोंको लेकर अपने खेतमें धन प्राप्तिके लिये अपने हाथोंसे बोया। यहां किसान कर्ता है, बीज कर्म है, हाथ करण हैं, धन संप्रदान है, भंडार अपादान है, खेत अधि: करण है। इस तरह यहां छहों कारक भिन्न २ हैं। आत्माकी शुद्ध अवस्थाकी प्राप्तिके लिये अभिन्न कारककी आवश्यक्ता है। निश्चय नयसे हरएक वस्तुके परिणमनमें जो परिणाम पैदा होता है उसमें ही अभिन्न कारक सिद्ध होते हैं। जैसे सुवर्णकी डलीसे एक कुंडल बना। यहां कुंडल रूप परिणामका उपादान कारण सुवर्ण है। अभिन्न छः कारक इस तरह कहे जासक्ते हैं कि सुवर्ण कर्ताने कुंडल कर्मको अपने ही सुवर्णपनेके द्वारा (करण कारक) अपने ही कुन्डलभाव रूप शोभाके लिये (संप्रदान) अपने ही सुवर्ण धातुसे (अपादान) अपने ही सुवर्णपनेमें (अधि· करण) पैदा किया। यह अभिन्न षट्कारकका दृष्टांत है। इसी तरह आत्म ध्यान करनेवाला सम्पूर्ण पर द्रव्योंसे अपना विकल्प

हटा लेता है, केवल अपने ही आत्माके सन्मुख उपयुक्त होनेकी चेष्टा करता है। स्वानुभव रूप एकाग्रताके पूर्व आत्माकी भावनाके समयमें यह विचारवान प्राणी अपने ही आपमें षट्कारकका विकल्प इस तरह करता है कि मैं अपनी परिणतिका आप ही कर्त्ता हूं, मेरी परिणति जो उत्पन्न हुई है सो ही मेरा कर्म है। अपने ही उपादान कारणसे अपनी परिणति हुई है इससे मैं आप ही अपना करण हूं। मैंने अपनी परिणतिको उत्पन्न करके अपने आपको ही दी है इससे मैं आप ही सम्प्रदान रूप हूं। अपनी परिणतिको मैंने कहीं औरसे नहीं लिया है किंतु अपने आत्मासे ही लिया है इस लिये मैं आप ही अपादान रूप हूं। अपनी परिणतिको मैं अपने आपमें ही धारण करता हूं इसलिये मैं स्वयं अधिकरण रूप हूं। इस तरह अभेद षट्कारकका विकल्प करता हुआ ज्ञानी जीव अपने आत्माके स्वरूपकी भावना करता है। इस भावनाको करते करते जब आप आपमें स्थिर हो जाता है तब अभेद षट्कारकका विकल्प भी मिट जाता है। इस निर्विकल्प रूप शुद्ध भावके प्रतापसे यह आत्मा आप ही चार घातिया कर्मोंसे अलग हो अरहंत परमात्मा हो जाता है इसलिये अरहंत महाराजको स्वयंभू कहना ठीक है।

इस कथनसे आचार्यने यह भाव भी झलकाया है कि यदि तुम स्वाधीन, सुखी तथा शुद्ध होना चाहते हो तो अपने आप पुरुषार्थ करो। कोई दूसरा तुमको शुद्ध बना नहीं सक्ता है। मुक्तिका देनेवाला कोई नहीं है। तथा मोक्ष या शुद्ध अवस्था मांगनेसे नहीं मिलती है, न भक्ति पूजन करनेसे प्राप्त होती है।

वह तो आपका ही निज स्वभाव है, उसकी प्रगटता अपने ही पुरुषार्थसे होती है। जितने भी सिद्ध हुए हैं, होते हैं व होंगे वे सर्व ही स्वयंभू हैं।

इस कथनसे यह भी वात झलकती है कि यह आत्मा अपने कार्यका आप ही अधिकारी है। यह किसी एक ईश्वर परमात्माके शासनमें नहीं है। वैज्ञानिक रीतिसे यह अपने परिणामोंका आप ही कर्ता और भोक्ता है। जैसे भोजन करनेवाला स्वयं भोजन करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है व स्वयं ही भोजनका त्याग करे तो त्यागी होजाता है, वैसे यह आत्मा स्वयं अपने अशुद्ध भावोंमें परिणमन करता है और उनका स्वयं फल भोगता है। यदि आप ही अशुद्ध परिणति छोड़े और शुद्ध भावोंमें परिणमन करे तो यह शुद्ध भावको भोगता है तथा शुद्धोपयोगके अनुभवसे स्वयं शुद्ध होजाता है।

इस प्रकार सर्वज्ञकी मुख्यतासे प्रथम गाथा और स्वयंभूकी मुख्यतासे दूसरी गाथा इस तरह पहले स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे उपदेश करते हैं कि अरहंत भगवानके द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे नित्यपना होनेपर भी पर्यायार्थिक नयसे अनित्यपना है।

भंगविहीणो य भवो, संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो, ठिदिसंभवणाससमवायो ॥

भङ्गविहीनश्च भवः संभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः ॥१७॥

सामान्यार्थ-उन सिद्ध शुद्ध परमात्माके नाश रहित स्वरूपकी प्रगटता है तथा जो विभाव भावोंका व अशुद्धताका नाश हो गया है वह फिर उत्पाद रहित है ऐसा नित्य स्वभाव होने पर भी उस परमात्माके उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकता पाई जाती है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(य भंगविहीणः) तथा विनाश रहित (भवः) उत्पाद अर्थात श्री सिद्ध भगवानके जीना मरना आदिमें समताभाव है लक्षण जिसका ऐसे परम उपेक्षा रूप शुद्धोपयोगके द्वारा जो केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका प्रकाश हुआ है वह विनाश रहित है तथा उनके (सम्भव परिव-ज्जिदः) उत्पत्ति रहित (विणासः) विनाश है अर्थात विकार रहित आत्मतत्त्वसे विलक्षण रागादि परिणामोंके अभाव होनेसे फिर उत्पत्ति नहीं हो सक्ती है इस तरह मिथ्यात्त्व व रागादि द्वारा भ्रमणरूप संसारकी पर्यायका जिसके नाश हो गया है। (हि) निश्चय करके ऐसा नित्यपना सिद्ध भगवानके प्रगट हो जाता है जिससे यह बात जानी जाती है कि द्रव्यार्थिक नयसे सिद्ध भगवान अपने स्वरूपसे कभी छूटते नहीं हैं। ऐसा है (पुणः) तौभी (तस्सेव) उन ही सिद्ध भगवानके (ठिदिसम्भवणाससमवायः) ध्रौव्य उत्पाद व्ययका समुदाय (विज्जदि) विद्यमान रहता है। अर्थात् शुद्ध व्यंजन पर्यायकी अपेक्षा पर्यायार्थिक नयसे सिद्ध पर्यायका जब उत्पाद हुआ है तब संसार पर्यायका नाश हुआ है तथा केवलज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत द्रव्यपना होनेसे ध्रौव्यपना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि सिद्ध भगवानके द्रव्यार्थिक

नयसे नित्यपना है तौ भी पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों हैं।

भावार्थ–आचार्यने इस गाथामें यह सिद्ध किया है कि शुद्धोपयोगके फलसे जो शुद्ध अवस्था होजाती है वह यद्यपि सदा बनी रहती है तथापि द्रव्य लक्षणसे गिर नहीं जाती है। द्रव्यका लक्षण सत् है, सत् है सो उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है तथा द्रव्य गुण पर्यायवान है। यह लक्षण हरएक द्रव्यमें हरसमय पाया जाना चाहिये अन्यथा द्रव्यका अभाव ही होजायगा। अशुद्ध जीवमें तो हम देखते हैं कि कोई जीव मनुष्य पर्यायके त्यागसे देव पर्यायरूप होजाता है, पर आत्मापनेसे ध्रौव्य है अर्थात् आत्मा दोनों पर्यायोंमें वही है अथवा एक मनुष्य बालवयके नाशसे युवावयका उत्पाद करता है परन्तु मनुष्य उपेक्षा वही है, ध्रौव्य है। इसी तरह पुद्गल भी झलकता है। लकड़ीकी पर्यायसे जब चौकीकी पर्याय बनती है तब लकड़ीका व्यय, चौकीका उत्पाद तथा जितने पुद्गलके परमाणु लकड़ीमें हैं उनका ध्रौव्यपना है। यदि यह बात न माने तो किसी भी वस्तुसे कोई काम नहीं हो सक्ता। वस्तुका वस्तुत्व ही इस त्रिलक्षणमई सत लक्षणसे रहता है। यदि मट्टी, पानी, वायु, अग्नि कूटस्थ जैसेके तैसे बने रहते तो इनसे वृक्ष, मकान, बर्तन, खिलौने, कपड़े आदि कोई भी नहीं बन सक्ते। जिस समय मिट्टीका घड़ा बनता है उसी समय घड़ेकी अवस्थाका उत्पाद है घड़ेकी, बननेवाली पूर्व अवस्थाका व्यय है तथा जितने परमाणु घड़ेकी पूर्व पर्यायमें थे उतने ही परमाणु घड़ेकी वर्तमान पर्यायमें है। यदि कुछ झड़ गए होंगे तो

कुछ मिल भी गए होंगे। यही ध्रौव्यपना है। यह लोक कोई विशेष वस्तु नहीं है किन्तु सत्ता रूप सर्व द्रव्योंके समुदायको लोक कहते हैं। जितने द्रव्य लोकमें हैं वे सदासे हैं सदा रहेंगे क्योंकि वे सब ही द्रव्य द्रव्य और अपने सहभावी गुणोंकी अपेक्षा अविनाशी नित्य हैं परन्तु अवस्थाएं समय २ होती हैं वे अनित्य हैं क्योंकि पिछली अवस्था बिगड़कर अगली अवस्था होती है। इसी लिये द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। द्रव्य का दूसरा लक्षण गुण पर्यायवान कहा है सो भी द्रव्यमें सदा पाया जाता है। एक द्रव्य अनंत गुणोंका समुदाय है। ये गुण उस समुदायी द्रव्यमें सदा साथ साथ रहते हैं इस लिये गुणोंकी ही नित्यता या ध्रौव्यता रहती है। गुणके विकारको पर्याय कहते हैं। हरएक गुण परिणमनशील है--इसलिये हरएक समयमें पुरानी पर्यायका व्यय और नवीन पर्यायका उत्पाद होता है परन्तु पर्यायोंसे रहित गुण होते नहीं इसलिये द्रव्य गुण पर्यायवान होता है यह लक्षण भी द्रव्यका हर समय द्रव्यमें मिलना चाहिये। यहां एक बात और जाननी योग्य है कि एक द्रव्यमें बन्धन प्राप्त दूसरे द्रव्यके निमित्तसे जो पर्यायें होती हैं वे अशुद्ध या विभाव पर्यायें कहलाती हैं और जो द्रव्यमें विभावकारक द्रव्यका निमित्त न होनेपर पर्यायें होती हैं उनको स्वभाव या सदृश पर्याय कहते हैं। जब जीव पुद्गल कर्मके बन्धनसे गृसित है तब इसके विभाव पर्याय होती है। परन्तु जब जीव शुद्ध हो जाता है तब केवल स्वभाव पर्यायें ही होती हैं। इस गाथामें आचार्यने पहले तो यह बताया है कि जब यह आत्मा शुद्ध हो जाता है तब

सदा शुद्ध बना रहता है, फिर कभी अशुद्ध नहीं होता है। इसी लिये यह कहा कि जब यह आत्मा शुद्धोपयोगके प्रसादसे शुद्ध होता है अथवा जब उसके शुद्धताका उत्पाद होजाता है तब वह विनाश रहित उत्पाद होता है और जो अशुद्धताका नाश होगया है सो फिर उत्पाद रहित नाश हुआ है। इस तरह सिद्ध भगवान नित्य अविनाशी हैं तथापि उनमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप लक्षण घटता है। इसको वृत्तिकारने इस तरह बताया है कि जिस समय सिद्ध पर्यायका उत्पाद हुआ उसी समय संसार पर्यायका नाश हुआ और जीव द्रव्य सदा ही ध्रौव्य रूप है। इस तरह सिद्ध पर्यायके जन्म समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों सिद्ध होते हैं। इसके सिवाय सिद्ध व्यवस्थाके रहते हुए भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य पना सिद्धोंके बाधा रहित है। क्योंकि अल्पज्ञानियोंको विभाव पर्यायका ही अनुभव है स्वभाव पर्यायका अनुभव नहीं है इसलिये शुद्ध जीवादि द्रव्योंमें जो स्वभाव पर्यायें होती हैं उनका बोध कठिन मालूम होता है। आगममें अगुरुलघु गुणके विकारको अर्थात् षट् गुणी हानि वृद्धिरूप परिणमनको स्वभाव पर्याय बतलाया है। इसका भाव यह समझमें आता है कि अगुरुलघु गुणमें जो द्रव्यमें सर्वांग व्यापक है समुद्रजलकी कल्लोलवत् तरंगे उठतीं हैं जिससे कहीं वृद्धि व कहीं हानि होती है परन्तु अगुरुलघु बना रहता है। जैसे समुद्रमें तरंगें उठने पर भी समुद्रका जल ज्योंका त्यों बना रहता है केवल कहीं उठा कहीं बैठा हो जाता है इसी तरह अगुरुलघु गुणके अंशोंमें वृद्धि हानि होती है क्योंकि हरएक गुण द्रव्यमें सर्वांग व्यापक है इस

लिये अगुरुलघु गुणके परिणमनसे सर्व ही गुणोंमें परिणमन हो जाता है। इस तरह शुद्ध द्रव्यमें स्वभाव पर्यायें समझमें आती हैं। इस स्वभाव पर्यायका विशेष कथन कहीं देखनेमें नहीं आया। आलाप पद्धतिमें अगुरुलघु गुणके विकारको स्वभाव पर्याय कहा है और समुद्रमें जल कल्लोलका दृष्टांत दिया है इसीको हमने ऊपर स्पष्ट किया है। यदि इसमें कुछ त्रुटि हो व विशेष हो तो विद्वज्जन प्रगट करेंगे व निर्णय करके शुद्ध करेंगे।

द्रव्यमें पर्यायोंका होना जब द्रव्यका स्वभाव है तब शुद्ध या अशुद्ध दोनों ही अवस्थाओंमें पर्यायें रहनी ही चाहिये। यदि शुद्ध अवस्थामें परिणमन न माने तब अशुद्ध अवस्थामें भी नहीं मान सक्ते हैं। पर जब कि अशुद्ध अवस्थामें परिणमन होता है तब शुद्ध अवस्थामें भी होना चाहिये, इसी अनुमानसे सिद्धोंमें भी सदा पर्यायोंका उत्पाद व्यय मानना चाहिये। परिणमन स्वभाव होने ही से सिद्धोंका ज्ञान समय समय परम शुद्ध स्वात्मानन्दका भोग करता है। शुद्ध सिद्ध भगवानमें कोई कर्म बंध नहीं रहा है इसीसे वहां विभाव परिणाम नहीं होते, केवल शुद्ध परिणाम ही होते हैं। परिणाम समय २ अन्य अन्य हैं इसीसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना तथा गुण पर्यायवानपना सिद्धोंके सिद्ध है। इस कथनसे आचार्यने यह भी बताया है कि मुक्त अवस्थामें आत्माकी सत्ता जैसे संसार अवस्थामें रहती है वैसे बनी रहती है। सिद्ध जीव सदा ही अपने स्वभावमें व सत्तामें रहते हैं न किसीमें मिलते हैं न सत्ताको खो बैठते हैं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे सुवर्ण आदि मूर्तीक

पदार्थोंमें उत्पाद् व्यय ध्रौव्य देखे जाते हैं वैसे ही अमूर्तीक सिद्ध स्वरूपमें भी जानना चाहिये क्योंकि सिद्ध भगवान भी पदार्थ हैं।

उप्पादो य विणासो, विज्जदि सव्वस्स अत्थजादस्स।
पज्जाएण दु केण वि अत्थो खलु होदि सब्भूदो॥१८॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य ।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूतः ॥ १८ ॥

सामान्यार्थ-किसी भी पर्यायकी अपेक्षा सर्व ही पदार्थोंमें उत्पाद तथा विनाश होते हैं तौभी पदार्थ निश्चयसे सत्तारूप रहता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(केण दु पज्जाएण) किसी भी पर्यायसे अर्थात् किसी भी विवक्षित अर्थ या व्यंजन पर्यायसे अथवा स्वभाव या विभाव रूपसे (सव्वस्स अत्थजादस्स) सर्व पदार्थ समूहके (उप्पादो य विणासो) उत्पाद और विनाश (विज्जदि) होता है। (अत्थो) पदार्थ (खलु) निश्चय करके (सब्भूदो होदि) सत्तारूप है, सत्तासे अभिन्न है। प्रयोजन यह है कि सुवर्ण, गोरस, मिट्टी, पुरुष आदि मूर्तीक पदार्थोंमें जैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है तैसे अमूर्तीक मुक्त जीवमें हैं। यद्यपि मुक्त होते हुए शुद्ध आत्माकी रुचि उसीका ज्ञान तथा उसीका निश्चलतासे अनुभव इस रत्नत्रय मई लक्षणको रखनेवाले संसारके अंतमें होनेवाले कारण समयसार रूप भाव पर्यायका नाश होता है तैसे ही केवलज्ञानादिकी प्रगटता रूप कार्य समयसार रूप भाव पर्यायका उत्पाद होता है तौ भी दोनों ही पर्यायोंमें परिणमन करनेवाले आत्म द्रव्यका ध्रौव्यपना

रहता है क्योंकि आत्मा भी एक पदार्थ है। अथवा ज्ञेय पदार्थ जो ज्ञानमें झलकते हैं वे क्षण क्षणमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमन करते हैं वैसे ही ज्ञान भी उनको जाननेकी अपेक्षा तीन भंगसे परिणमन करता है। अथवा षट् स्थान पतित अगुरुलघु गुणमें वृद्धि व हानिकी अपेक्षा तीन भंग जानने चाहिये ऐसा सूत्रका तात्पर्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने पहली गाथाके इस भावको स्वयं स्पष्टकर दिया है कि सिद्ध भगवानमें अविनाशी पना होते हुए भी उत्पाद और विनाश किस तरह सिद्ध होते हैं। इसका बहुत सीधा उत्तर श्री आचार्य महाराजने दिया है कि हरएक वस्तु जो जो जगतमें है उस हरएक पदार्थमें जैसे उस द्रव्यकी सत्ता सदा बनी रहती है वैसे उसमें अवस्थाका उत्पाद और विनाश भी देखा जाता है वैसे ही सिद्ध भगवानमें भी जानना चाहिये। वस्तु कभी अपरिणामी तथा कूटस्थ नित्य नहीं हो सक्ती है। हरएक द्रव्य परिणामी है क्योंकि द्रव्यत्व नामका सामान्य गुण सर्व द्रव्योंमें व्यापक है। द्रव्यत्व वह गुण है जिसके निमित्तसे द्रव्य कभी कूटस्थ न रहकर परिणमन किया करे। इस परिणमन स्वभावके ही कारण प्रत्यक्ष जगतमें अपने इंद्रियगोचर पदार्थोंमें कार्य दिखलाई पड़ते हैं। सुवर्ण परिणमनशील है इसीसे उसके कुंडल, कड़े, मुद्रिका आदि बन सक्ते हैं तथा मुद्रिकाको तोड़ व गलाकर पीटकर थाली बाले बन सक्ते हैं। मिट्टीके वर्तन व मकान, गौके दूधसे खोवा, खोवेसे लड्डू, बर्फी, पेड़े आदि बन सक्ते हैं। यदि बदलनेकी शक्ति पुद्गलमें न होती तो मिट्टी, पानी, वायु, अग्नि

द्वारा कोई फल फूल वनस्पति नहीं हो सक्ती और न वनास्पतिसे जलानेकी लकड़ी, द्वारके कपाट, चौकी, कुरसी, पलंग आदि बन सके। यह जगत परिणमनशील पदार्थसमूहके कारण ही नाना विचित्र दृश्योंको दिखला रहा है। मूलमें देखें तो इस लोकमें केवल छः द्रव्य हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इनमें चार तो सदा उदासीन रूपसे निष्क्रिय रहते हैं कुछ भी हलन चलन करके काम नहीं करते और न प्रेरणा करते हैं। किन्तु जीव और पुद्गल क्रियावान हैं। दो ही द्रव्य इस संसारमें चलते फिरते हैं तथा परस्पर संयोगसे अनेक संयुक्त अवस्थाओंको भी दिखाते हैं। इनकी क्रियाएं व इसके कार्य प्रगट हैं। इनहीसे यह भारी तीनलोक बनता बिगड़ता रहता है। संसारी जीव पुद्गलोंको लेकर उनकी अनेक प्रकार रचना बननेमें कारण होते हैं। तथा पुद्गल संसारी जीवोंके निमित्तसे अथवा अन्य पुद्गलोंके निमित्तसे अनेक प्रकार अवस्थाओंको पैदा करते हैं। संसारी आत्माओंके द्रव्य कर्मोका बंध स्वयं ही कार्माण वर्गणाओंके कर्म रूप परिणमनसे होता है यद्यपि इस परिणमनमें संसारी आत्माके योग और उपयोग कारण हैं। जगतमें कुछ काम आत्माके योग उपयोगकी प्रेरणासे होते हैं जैसे मकान, आभूषण, वर्तन, पुस्तक, वस्त्र आदिका बनाना। कुछ काम ऐसे हैं जिनको पुद्गल परस्पर निमित्त बन किया करते हैं जैसे पानीका भाफ बनना, भाफका मेघरूप होना, मेघोंका गजरना, बिजलीका चमकना, नदीमें बाढ़ आना, गावोंका वह जाना, मिट्टीका जमना, पर्वतोंका टूटना, बर्फका गलना आदि। यदि परिणमनशक्ति द्रव्यमें न हो तो कोई काम नहीं होसक्के। जब

प्रत्यक्ष दिखने योग्य कार्योंमें परिणमनशक्ति काम करती मालूम पड़ती है तब अति सूक्ष्म शुद्ध द्रव्योंमें परिणमनशक्ति न रहे तथा वे परिणमन न करें यह बात असंभव है। इसीसे सिद्धोंमें भी पर्यायका उत्पाद और विनाश मानना होगा। वृत्तिकारने तीन तरह उत्पाद व्यय बताया है। एक तो अगुरुलघु गुणके द्वारा, दूसरा परकी अपेक्षासे जैसे ज्ञानमें जैसे ज्ञेय परिणमन करके झलकते हैं वैसे ज्ञानमें परिणमन होता है, तीसरे सिद्ध अवस्थाका उत्पाद पूर्व पर्यायका व्यय और आत्म द्रव्यका ध्रौव्यपना। इनमें स्वाश्रित स्वभाव पर्यायोंका होना अगुरुलघु गुणके द्वारा कहना वास्तविक स्व अपेक्षारूप है और ऐसा परिणमन शुद्ध आत्म द्रव्यमें सदा रहता है। यहां गाथामें पर्यायकी अपेक्षासे ही उत्पाद तथा व्यय कहा है तथा ध्रौव्यपना कहनेमें उत्पाद व्यय अलग रह जाते हैं इससे किसी प्रत्यभिज्ञानके गोचर स्वभाव रूप पर्यायके द्वारा ही ध्रौव्यपना है। द्रव्यार्थिक नयसे इन तीन रूप सत्ताको रखने वाला द्रव्य है। यदि पर्यायोंका पलटना सिद्धोंमें न मानें तो समय समय अनंत सुखका उपभोग सिद्धोंके नहीं हो सकेगा। इस तरह सिद्ध जीवमें द्रव्यार्थिक नयसे नित्यपना होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपनेको कहते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो पूर्वमें कहे हुए सर्वज्ञको मानते हैं वे ही सम्यग्दृष्टी होते हैं और वे ही परम्परा मोक्षको प्राप्त करते हैं:—

तं सव्वत्थवरिट्ठं, इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहंति जीवा, तेसिं दुक्खाणि खीयंति॥ १॥

तं सर्वार्थवरिष्टं इष्टं अमरासुरप्रधानैः
ये श्रद्दधति जीवाः तेषां दुःखानि क्षीयन्ते ॥ १ ॥

सामान्यार्थ-जो जीव देवोंके इन्द्रोंसे पूज्यनीक ऐसे सब पदार्थोंमें श्रेष्ठ परमात्माका श्रृद्धान रखते हैं उनके दुःख नाश हो जाते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(ये जीवाः) जो भव्यजीव (अमरासुरप्पहाणेहिं) स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिकके इन्द्रोंसे (इट्ठं) माननीय (तं सव्वट्ठवरित्थ) उस सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठ परमात्माको (सद्दहंति) श्रद्धान करते हैं (तेसिं) उनके (दुक्खाणि) सब दुःख (खीयंति) नाशको प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ-इस गाथाकी टीका श्री अमृतचन्द्र आचार्यने नहीं की है परन्तु श्री जयसेनाचार्यने की है। इस गाथाका भाव यह है-शुद्धोपयोगमई साम्यभावका आश्रय करके जिन भव्यजीवोंने सर्वज्ञ पद या सिद्ध पद प्राप्त किया है वे ही हमारे उपासकोंके लिये पूज्यनीय उदाहरण रूप आदर्श हैं। जिस पूर्ण वीतरागता, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण वीर्य तथा पूर्ण सुखका लाभ हरएक आत्मा चाहता है उसका लाभ जिसने कर लिया है वह आत्मा तथा जिस उपायसे ऐसा लाभ किया है वह मार्ग दोनों ही धर्मेच्छु जीवके लिये आदर्श रूप हैं-शुद्धोपयोग मार्ग है और शुद्ध आत्मस्वरूप उस मार्गका फल है इन दोनोंका यथार्थ श्रृद्धान और ज्ञान होना

ही शुद्धोपयोग और उसके फलरूप सर्वज्ञ पदकी प्राप्तिका उपाय है। इसी लिये सुखके इच्छुक पुरुषको उचित है कि अरहंत सिद्ध परमात्माके स्वरूपका श्रृद्धान अच्छी तरह रक्खे और उनकी पूजा भक्ति करे, उनका ध्यान करे तथा उनके समान होनेकी भावना करे। प्रमत्त गुणस्थानोंमें पूज्य पूजक ध्येय ध्याताका विकल्प नहीं मिटता है इसलिये छठे गुणस्थानतक भक्तिका प्रवाह चलता है। यद्यपि सच्चे श्रद्धान सहित यह भक्ति शुभोपयोग है तथापि शुद्धोपयोगके लिये कारण है। क्योंकि सर्वज्ञ भगवानकी व उनकी भक्तिकी श्रृद्धामें विपरीताभिनिवेशका अभाव है अर्थात् सर्वज्ञ व उनकी भक्तिकी श्रृद्धा इसी भावपर आलम्बन रखती है कि शुद्धोपयोग प्राप्त करना चाहिये। शुद्धोपयोग ही उपादेय है। क्योंकि यही वर्तमानमें भी अतीन्द्रिय आनन्दका कारक है तथा भविष्यमें भी सिद्ध स्वभावको प्रगट करनेवाला है। इसलिये हरएक धर्मधारीको रागी द्वेषी मोही सर्व आप्तों या देवोंको त्यागकर एक मात्र सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी अरहंतमें तथा परम निरंजन शुद्ध परमात्मा सिद्ध भगवानमें ही श्रृद्धा रखकर हरएक मंगलीक कार्यमें इनका पूजन भजन करना चाहिये।

इस तरह निर्दोष परमात्माके श्रृद्धानसे मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थलमें गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका–आगे शिष्यने प्रश्न किया कि इस आत्माके विकार रहित स्वसंवेदन लक्षणरूप शुद्धोपयोगके प्रभावसे सर्वज्ञपना प्राप्त होनेपर इन्द्रियोंके द्वारा उपयोग तथा भोगके बिना

किस तरह ज्ञान और आनन्द होसके हैं इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

पक्खीणघादिकम्मो, अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो
जादो अदिंदिओ सो, णाणं सोक्खं च परिणमदि॥२०

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजाः ।
जातोतीन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमते ॥ २० ॥

सामान्यार्थ—यह आत्मा घातिया कर्मोको नाशकर अनंत वीर्यकाधारी होता हुआ व अतिशय ज्ञान और दर्शनके तेजको रखता हुआ अतीन्द्रिय होकर ज्ञान और सुखरूप परिणमन करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सः) वह सर्वज्ञ आत्मा जिसका लक्षण पहले कहा है (पक्खीणघादिकम्मः) घातिया कर्मोको क्षयकर अर्थात् अनंतज्ञान अनतदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य इन चतुष्टयरूप परमात्मा द्रव्यकी भावनाके लक्षणको रखनेवाले शुद्धोपयोगके बलसे ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोको नाशकर (अणंतवरवीर्यः) अंत रहित और उत्कृष्ट वीर्यको रखता हुआ (अधिकतेजः) व अतिशय तेजको धारता हुआ अर्थात केवलज्ञान केवलदर्शनको प्राप्त हुआ (अणिंदियः) अतीन्द्रिय अर्थात इंद्रियोंके विषयोंके व्यापारसे रहित (जादो) होगया (च) तथा ऐसा होकर (णाणं) केवलज्ञानको (सोक्खं) और अनंत सुखको (परिणमदि) परिणमन करता है। इस व्याख्यानसे यह कहा गया कि आत्मा यद्यपि निश्चयसे अनंतज्ञान और अनंत सुखके स्वभावको रखनेवाला है तौ भी व्यवहारसे संसारकी अवस्थामें पड़ा हुआ जबतक

इसका केवलज्ञान और अनंत सुख स्वभाव कर्मोंसे ढका हुआ है तबतक पांच इंद्रियोंके आधारसे कुछेक अल्पज्ञान व कुछेक अल्प सुखमें परिणमन करता है। फिर जब कभी विकल्प रहित स्वसंवेदन या निश्चल आत्मानुभवके बलसे कर्मोंका अभाव होता है तब क्षयो-पशमज्ञानके अभाव होनेपर इन्द्रियोंके व्यापार नहीं होते हैं तब अपने ही अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखको अनुभव करता है क्योंकि स्वभावके प्रगट होनेमें परकी अपेक्षा नहीं है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथाका भाव यह है कि सर्वज्ञपना और अनंत निर्विकार निराकुल सुखपना इस आत्माका निज स्वभाव है। संसारी आत्माके कर्मोंका बंधन अनादिकालसे हो रहा है। इसीसे स्वाभाविक ज्ञान और सुख प्रगट नहीं है। जितना ज्ञाना-वरणीय कर्मका क्षयोपशम है उतना ही ज्ञान प्रगट है। सर्व संसारी जीवोंमें जबतक केवलज्ञान न हो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो प्रगट रहते ही हैं, परन्तु ये ज्ञान परोक्ष हैं-इन्द्रिय और मनकी सहायता विना नहीं होते हैं। जितना मतिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है उतना मतिज्ञान व जितना श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है उतना श्रुतज्ञान प्रगट रहता है। आत्माका साक्षात् प्रत्यक्ष केवलज्ञान होनेपर होता है वह केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरणीयके हट जानेसे ही प्रगट होता है तब पराधीन परके आश्रयसे जाननेकी जरूरत नहीं रहती है। आत्माका ज्ञान स्वभाव है तब आत्मा लोक अलोक सर्वको उनके अनंत द्रव्य और उनके अनंत गुण और अनंत पर्याय सहित एक ही समयमें विना क्रमके जान लेता है। और यह ज्ञान कभी मिटता नहीं है

अनंतकालतक रहता है। क्योंकि यह ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इसी तरह अनंत अतीन्द्रिय निर्मल सुख भी आत्माका स्वभाव है। इसको चारों ही घातिया कर्मोंने रोक रक्खा है। इन कर्मोंके उदयके कारण प्रत्यक्ष निर्मल सुखका अनुभव नहीं होता है। इन चार कर्मोंमेंसे सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है। इसमें भी मिथ्यात्व प्रकृति और अनंतानुबंधी कषाय सबसे प्रबल हैं। जब-तक इनका उपशम या क्षय नहीं होता है तबतक सुख गुणका विपरीत परिणमन होता है अर्थात् इंद्रिय द्वारा सुख होता है ऐसा समझता है, पराधीन कल्पित सुखको सुख मानता है और निरंतर ज्यों २ इस इंद्रिय जनित सुखका भोग पाता है त्यों २ अधिक २ तृष्णाकी वृद्धि करता है उस तृष्णासे आतुर होकर जैसे मृग वनमें भ्रमसे घासको पानी समझ पीनेको दौड़ता है और अपनी प्यास बुझानेकी अपेक्षा अधिक बढ़ा लेता है तैसे अज्ञानी मोही जीव भ्रमसे इन्द्रिय सुखको सुख मानकर बार बार इन्द्रियके पदार्थोंके भोगमें प्रवर्तता है और अधिक २ इन्द्रिय चाहकी दाहमें जलकर दुःखी होता है। परन्तु जिस किसी आत्माको दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षयोपशम या क्षय होकर सम्यक्त पैदा हो जाता है उसी आत्माको सम्यक्तके होते ही आत्माका अनुभव अर्थात् स्वाद आता है तब ही सच्चे सुखका परोक्ष अनुभव होता है, यद्यपि यह अनुभव प्रत्यक्ष केवलज्ञानकी प्रगटता न होनेसे परोक्ष है तथापि इन्द्रिय और मनका व्यापार बन्द होनेसे तथा आत्माकी सन्मुखता आत्माकी तरफ रहनेसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है। सम्यक्त

होते ही सच्चे सुखका स्वाद आने लगता है। फिर जितना जितना ज्ञान बढ़ता जाता है तथा कषाय मंद होता जाता है उतना उतना अधिक निर्मल और अधिक कालतक सच्चे सुखका स्वाद आता है। केवलज्ञान होनेपर पूर्ण शुद्ध प्रत्यक्ष और अनंत सच्चे सुखका लाभ हो जाता है क्योंकि यह स्वाभाविक अतीन्द्रिय सुख है, जो कर्मोंके आवरणसे ढका था अब आवरण मिट गया इससे पूर्णपने प्रगट हो गया। अंतरायके अभावसे अनंत बल आत्मामें पैदा हो जाता है इसी कारण अनंतज्ञान व अनंत सुख सदाकाल अपनी पूर्ण शक्तिको लिये हुए विराजमान रहते हैं। इस तरह आचार्यने शिष्यकी शंका निवारण करते हुए बता दिया कि जिस इन्द्रियजनित ज्ञान व सुखसे संसारी रागी जीव अपनेको ज्ञानी और सुखी मान रहे हैं वह ज्ञान व सुख न वास्तविक निर्मल स्पष्ट ज्ञान है न सच्चा सुख है। सच्चा स्वाभाविक स्पष्ट ज्ञान और सुख तो अरहंत और सिद्ध परमात्माको ही होता है जिसकी उत्पत्तिका कारण शुद्धोपयोग या साम्यभाव है जिसके आश्रय करनेकी सूचना आचार्यने पहले ही की थी इसलिये सर्व रागद्वेष मोहसे उपयोग हटाकर शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी चाहिये कि मेरा स्वभाव निश्चयसे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप है ऐसा तात्पर्य है।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि अतींद्रियपना होनेसे ही केवलज्ञानीके शरीरके आधारसे उत्पन्न होनेवाला भोजनादिका सुख तथा क्षुधा आदिका दुःख नहीं होता है।

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं, जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥

सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम्।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥ २० ॥

सामान्यार्थ–केवलज्ञानीके शरीर सम्बन्धी सुख तथा दुःख नहीं होते हैं क्योंकि उनके अतीन्द्रियपना प्रगट होगया है इसलिये उनके तो अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय सुख ही जानने चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(पुण) तथा (केवलणाणिस्स) केवलज्ञानीके (देहगदं) देहसे होनेवाला अर्थात् शरीरके आधारमें रहनेवाली जिह्वा इन्द्रिय आदिके द्वारा पैदा होनेवाला (सोक्खं) सुख (वा दुक्खं) और दुःख अर्थात् असाता वेदनीय आदिके उदयसे पैदा होनेवाला क्षुधा आदिका दुःख (णत्थि) नहीं होता है। (जम्हा) क्योंकि (अदिंदियत्तं) अतीन्द्रियपना अर्थात् मोहनीय आदि घातिया कर्मोंके अभाव होनेपर पांचों इंद्रियोंके विषय सुखके लिये व्यापारका अभावपना ऐसा अतीन्द्रियपना (जादं) प्रगट होगया है (तम्हा) इसलिये (तं दु) वह अर्थात अतीन्द्रियपना होनेके कारणसे अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख तो (णेयं) जानना चाहिये। भाव यह है कि जैसे लोहेके पिंडकी संगतिको न पाकर अग्नि हथौड़ेकी चोट नहीं सहती है तैसे यह आत्मा भी लोहपिंडके समान इन्द्रिय ग्रामोंका अभाव होनेसे अर्थात् इंद्रियजनित ज्ञानके बन्द होनेसे सांसारिक सुख तथा दुःखको अनुभव नहीं करता है।

यहां किसीने कहा कि केवलज्ञानीके भोजन है क्योंकि औदारिक शरीरकी सत्ता है तथा असाता वेदनीय कर्मके उदयका सद्भाव है, जैसे हमलोगोंके भोजन होता है इसका खंडन करते हैं कि श्री केवली भगवानके औदारिक शरीर नहीं है किन्तु परम औदारिक है जैसा कहा है–

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजो मूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातु विवार्जितम् ॥

अर्थात् दोष रहित केवलज्ञानीके शुद्ध स्फटिक मणिके समान परमतेजस्वी तथा सात धातुसे रहित शरीर होता है। और जो यह कहा है कि असाता वेदनीयके उदयके सद्भावसे केवलीके भूख लगती है और वे भोजन करते हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे धान्य जौ आदिका बीज जल सहकारी कारण सहित होनेपर ही अंकुर आदि कार्यको उत्पन्न करता है तैसे ही असाता वेदनीय कर्म मोहनीय कर्मरूप सहकारी कारणके साथ ही क्षुधा आदि कार्यको उत्पन्न करता है क्योंकि कहा है " मोहस्सबलेण घाददे जीवं " कि वेदनीय कर्म मोहके बलको पाकर जीवको घात करता है। यदि मोहनीय कर्मके अभाव होने पर भी असाता वेदनीय कर्म क्षुधा आदि परिषहको उत्पन्न करदे तो वध रोग आदि परीषह भी उत्पन्न हो जावें सो ऐसा होता नहीं है क्योंकि कहा है " भुक्त्युपसर्गाभावात् " कि केवलीके भोजन व उपसर्ग नहीं होते। और भी दोष यह आता है कि यदि केवलीको क्षुधाकी बाधा है तब क्षुधाके कारण शक्ति

क्षीण होनेसे अनन्तवीर्य्य नहीं बनेगा वैसे ही क्षुधा करके जो दुःखी होगा उसके अनन्त सुख भी नहीं हो सकेगा तथा रसना इन्द्रिय द्वारा ज्ञानमें परिणमन करते हुए मतिज्ञानीके केवलज्ञानका होना भी सम्भव न होगा । अथवा और भी हेतु है । असाता वेदनीयके उदयकी अपेक्षा केवलीके साता वेदनीयका उदय अनन्त गुणा है । इस कारणसे जैसे शक्करके ढेरमें नीमका कण अपना असर नहीं दिखलाता है वैसे अनन्तगुण साता वेदनीयके उदयमें असातावेदनीयका असर नहीं प्रगट होता । तैसे ही और भी बाधक हेतु हैं । जैसे प्रमत्तसंयमी आदि साधुओंके वेदका उदय रहते हुए भी मन्द मोहके उदयसे अखंड ब्रह्मचारियोंके स्त्री परीषहकी बाधा नहीं होती है तथा नव ग्रैवेयक आदिके अहमिन्द्रोंके वेदका उदय होते हुए भी मन्द मोहके उदयसे स्त्री सेवन सम्बन्धी बाधा नहीं होती है तैसे ही श्री केवली अरहंतके असाता वेदनीयका उदय होते हुए भी सम्पूर्ण मोहका अभाव होनेसे क्षुधाकी बाधा नहीं होसक्ती है । यदि ऐसा आप कहें कि मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोग केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक होते हैं ऐसा आहारक मार्गणाके सम्बन्धमें आगममें कहा हुआ है इस कारणसे केवलियोंके आहार है ऐसा मानना चाहिये सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस गाथाके अनुसार आहार छः प्रकारका होता है ।

"१. णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥१०॥

भाव यह है कि आहार छः प्रकारका होता है जैसे नो कर्मका आहार, कर्मोका आहार, ग्रासरूप कवलाहार, लेपका आहार, ओज आहार, तथा मानसिक आहार। आहार उन परमाणुओंके ग्रहणको कहते हैं जिनसे शरीरकी स्थिति रहे। आहारक वर्गणाका शरीरमें प्रवेश सो नोकर्मका आहार है। जिन परमाणुओंके समूहसे देवोंका, नारकियोंका, मनुष्य या तिर्यचोंका वैक्रियिक, औदारिक शरीर और मुनियोंके आहारक शरीर बनता है उसको आहारक वर्गणा कहते हैं। कार्माण वर्गणाके ग्रहणको कर्म्म आहार कहते हैं। इन्हीं वर्गणाओंसे कर्मोका सूक्ष्म शरीर बनता है। अन्नपानी आदि पदार्थोंको मुखद्वारा चबाकर व मुंह चलाकर खाना पीना सो कवलाहार है। यह साधारण मनुष्योंके व द्वेन्द्रियसे ले पचेन्द्रिय तकके पशुओंके होता है। स्पर्शसे शरीर पुष्टिकारक पदार्थोंको ग्रहण करना सो लेप आहार है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति कायधारी एकेन्द्रिय जीवोंके होता है। अंडोंको माता सेती है उससे जो गर्मी पहुंचाकर अंडोंको बढ़ा करती है सो ओज आहार है। भवनवासी, व्यंतर, जोतिषी तथा कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंमें मानसिक आहार होता है। इनके वैक्रियिक सूक्ष्म शरीर होता है जिसमें हाड़ मांस रुधिर नहीं होता है इसलिये इनके कवलाहार नहीं है यह मांस व अन्न नहीं खाते हैं। देवोंके जब कभी भूखकी बाधा होती है उनके कंठमेंसे ही अमृतमई रस झड़जाता है उसीसे ही उनकी भूखकी बाधा मिट जाती है। नारकियोंके कर्मोका भोगना यही आहार है तथा वे नरककी पृथ्वी-

की मिट्टी खाने हैं परन्तु उससे उनकी भूख मिटती नहीं है। इन छः प्रकारके आहारोंमेंसे केवली अरहंत भगवानके मात्र नोकर्मका आहार है इसी ही अपेक्षासे केवली अरहंतोंके आहारकपना जानना चाहिये, कवलाहारकी अपेक्षासे नहीं। सूक्ष्म इंद्रियोंके अगोचर, रसवाले सुगंधित अन्य मनुष्योंके लिये असंभव, कवलाहारके विना भी कुछ कम एक कोड़ पूर्व तक शरीरकी स्थितिके कारण, सात धातुओंसे रहित परमौदारिक शरीर रूप नोकर्मके आहारके योग्य आहारक वर्गणाओंसे पुद्गल लाभान्तराय कर्मके पूर्ण क्षय होजानेसे केवली महाराजके शरीरमें योग शक्तिके आकर्षणसे प्रति समय समय आते हैं। यही केवलीके आहार है यह बात नवकेवललब्धिके व्याख्यानके अवसर पर कही गई है इस लिये यह जाना जाता है कि केवली अरहंतोंके नोकर्मके आहारकी अपेक्षासे ही आहारकपना है यदि आप कहो कि आहारकपना अनाहारकपना नोकर्मके आहारकी अपेक्षा कहना तथा कवलाहारकी अपेक्षा न कहना यह आपकी कल्पना है, यदि सिद्धांतमें है तो कैसे मालूम पड़े तो इसका समाधान यह है कि श्री उमास्वामी महाराजकृत तत्वार्थसूत्रके दूसरे अ० में यह वाक्य है "एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः" ३० ॥

इस सूत्रका भावरूप अर्थ कहा जाता है। एक शरीरको छोड़कर दूसरे भवमें जानेके कालमें विग्रह गतिके भीतर स्थूल शरीरका अभाव होते हुए नवीन स्थूल शरीर धारण करनेके लिये तीन शरीर और छः पर्याप्तिके योग्य पुद्गल पिंडका ग्रहण होना नोकर्म आहार कहा जाता है। ऐसा नोकर्म

आहार विग्रह गतिके भीतर कर्मोंका ग्रहण या कार्माण वर्गणाका आहार होते हुए भी एक, दो या तीन समय तक नहीं होता है। इसलिये ऐसा माना जाता है कि आगममें नोकर्म आहारकी अपेक्षासे आहारक अनाहारकपना कहा है। यदि कहोगे कि कवलाहारकी अपेक्षासे है तो ग्रासरूप भोजनके कालको छोड़कर सदा ही अनाहारकपना ही रहेगा। तब तीन समय अनाहारक हैं ऐसा नियम न रहेगा। यदि कहोगे कि वर्तमानके मनुष्योंकी तरह केवलियोंके कवलाहार है क्योंकि केवली भी मनुष्य हैं सो कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानोगे तो वर्तमानके मनुष्योंकी तरह पूर्वकालके पुरुषोंके सर्वज्ञपना न रहेगा तथा राम रावण आदिको विशेष सामर्थ्य थी सो बात नहीं रहेगी सो यह बात नहीं बन सक्ती। और भी समझना चाहिये कि अल्पज्ञानी छद्मस्थ प्रमत्तसंयतनामा छठे गुणस्थानधारी साधु भी जिनके सात धातु रहित परम औदारिक शरीर नहीं है इस वचनसे कि "छट्ठोत्ति पढम सण्णा" प्रथम आहारकी संज्ञा अर्थात् भोजन करनेकी चाह छठे गुणस्थान तक ही है यद्यपि वे आहारको लेते हैं तथापि ज्ञान और संयम तथा ध्यानकी सिद्धिके अर्थ लेते हैं देहके मोहके लिये नहीं लेते हैं। कहा भी है—

कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते,
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशो परमं सुखं ॥ १ ॥
ण वलाउ साहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठं ।
णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥ २ ॥

भाव यह है कि मुनियोंके आहार शरीरकी स्थितिके लिये होता है, शरीरको ज्ञानके लिये रखते हैं, आत्मज्ञान कर्म नाशके लिये सेवन करते हैं क्योंकि कर्मोंके नाशसे परम सुख होता है। मुनि शरीरके बल, आउ, चेष्ठा तथा तेजके लिये भोजन नहीं करते हैं किन्तु ज्ञान, संयम तथा ध्यानके लिये करते हैं।

उन भगवान केवलीके तो ज्ञान, संयम तथा ध्यान आदि गुण स्वभावसे ही पाए जाते हैं आहारके बलसे नहीं। उनको संयमादिके लिये आहारकी आवश्यक्ता तो है नहीं क्योंकि कर्मोंके आवरणके न होनेसे संयमादि गुण तो प्रगट हो रहे हैं फिर यदि कहो कि देहके ममत्वसे आहार करते हैं तो वे केवली छद्मस्थ मुनियोंसे भी हीन होजांयगे।

यदि कहोगे कि उनके अतिशयकी विशेषतासे प्रगटरूपसे भोजनकी भुक्ति नहीं है गुप्त है तो परमौदारिक शरीर होनेसे भुक्ति ही नहीं है ऐसा अतिशय क्यों नहीं होता है। क्योंकि गुप्त भोजनमें मायाचारका स्थान होता है, दीनता की वृत्ति आती है तथा दूसरे भी पिंड शुद्धिमें कहे हुए बहुतसे दोष होते हैं जिनको दूसरे ग्रंथसे व तर्कशास्त्रसे जानना चाहिये। अध्यात्म होनेसे यहां अधिक नहीं कहा ८

यहां यह भावार्थ है कि ऐसा ही वस्तुका स्वरूप जानना चाहिये। इसमें हठ नहीं करना चाहिये। खोटा आग्रह या हठ करनेसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है जिससे निर्विकार चिदानंदमई स्वभावरूप परमात्माकी भावनाका घात होता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि अरहंतोंके मतिज्ञानादि चार ज्ञानका अभाव होनेसे तथा केवलज्ञानका प्रकाश होनेसे उपयोगकी प्राप्ति निज आत्मामई है। उपयोग पांच इंद्रिय तथा मनके द्वारा परिणमन नहीं करता है। परोक्षज्ञानका अभाव होगया है। प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होगया है। इसलिये छद्मस्थ अल्प ज्ञानियोंके जो इंद्रियोंके द्वारा पदार्थ ग्रहण होता था व मनमें सकल्प विकल्प होते थे सो सब मिट गए हैं। इसलिये इंद्रियोंके द्वारा पदार्थ भोग नहीं है न इंद्रियोंकी बाधा है न उनके विषयकी चाहका दुःख है न इंद्रियोंके द्वारा सुख है। क्योंकि देहके मम-त्वसे सर्वथा रहित होनेसे अरहंतोंकी सन्मुखता ही उस ओर नहीं है इसलिये शरीर सम्बन्धी दुःख या सुख केवलीके अनुभवमें नहीं आता है। केवली मन्द सुगन्ध पवन व समवशरणादि लक्ष्मी आदि किसी भी पदार्थका भोग नहीं करते इसलिये इन पदार्थोंके द्वारा केवलज्ञानीको कोई सुख नहीं है न शरीरकी दशाकी अपेक्षासे कभी कोई दुःख होसक्ता है, न उनको भूख प्यासकी बाधा होती, न रोगकी आकुलता होती, न कोई थकन होती, न खेद होता-देह सम्बन्धी सुख दुःखका वेदन केवलीके नहीं है इसलिये कभी क्षुधाके भावका विकार नहीं पैदा होता है न मैं निर्बल हूं यह भाव होता है। उनका भाव सदा सन्तोषी परमा-नंद मई स्वात्माभिमुखी होता है। केवली भगवानका शरीर दीर्घकालतक विना ग्रासरूप भोजन किये भी पुष्ट रहता है क्योंकि उनके लेप आहारकी तरह नोकर्म आहार है जिससे पौष्टिक वर्ग-णाएं शरीरमें मिलती रहती हैं। केवलीका शरीर कभी निर्बल नहीं

होसक्ता वहां लाभांतरायका सर्वथा क्षय है तथा सातावेदनीयका परम उदय है । श्वेताम्बर आम्नायमें जो केवलीके क्षुधाकी बाधा बताकर भोजन करना बताया है उसका वृत्तिकारने बहुत अच्छी तरह समाधान कर दिया है। केवलज्ञानीके अतीन्द्रिय स्वाभाविक ज्ञान तथा अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द रहता है, कर्मोदयकी प्रधानता मिटकर स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, तात्पर्य्य यह है कि परमज्ञान स्वरूप तथा परमानंदमई केवलीकी अवस्थाको उपादेय मानकर उसकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करनी योग्य है ।

इस तरह अनन्तज्ञान और सुखकी स्थापना करते हुए प्रथम गाथा तथा केवलीके भोजनका निराकरण करते हुए दूसरी गाथा इस तरह दो गाथाएं पूर्ण हुई ।

इति सात गाथाओंके द्वारा चार स्थलोंसे सामान्यसे सर्वज्ञ सिद्धि नामका दूसरा अंतर अधिकार समाप्त हुआ ।

उत्थानिका सूची सहित–आगे ज्ञान प्रपंच नामके अंतर अधिकारमें ३३ तेतीस गाथाएं हैं उनमें आठ स्थल हैं जिनमें आदिमें केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए **'परिणमदो खलु'** इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर आत्मा और ज्ञानके निश्चयसे असंख्यात प्रदेश होनेपर भी व्यवहारसे सर्वव्यापी बना है इत्यादि कथनकी मुख्यतासे **"आदा णाणपमाणं"** इत्यादि गाथाएं पांच हैं। उसके पीछे ज्ञान और ज्ञेय पदार्थोंका एक दूसरेमें गमनके निषेधकी मुख्यतासे "णाणी णाणसहावो" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। आगे निश्चय और व्यवहार केवलीके प्रतिपादन आदि

मुख्यता करके "जोहि सुदेण" इत्यादि सूत्र चार हैं। आगे वर्तमानकालके ज्ञानमें तीनकालकी पर्यायोंके ज्ञानपनेको कहने आदिकी मुख्यतासे "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादि सूत्र पांच हैं। आगे केवलज्ञान बन्धका कारण नहीं है न रागादि विकल्प रहित छद्मस्थका ज्ञान बन्धका कारण है किन्तु रागादिक बन्धके कारण हैं इत्यादि निरूपणकी मुख्यतासे "परिगमदि णेय" इत्यादि सूत्र पांच हैं। आगे केवलज्ञान सर्वज्ञान है इसीको सर्वज्ञपना करके कहते हैं इत्यादि व्याख्यानकी मुख्यतासे "जं तक्कालिय-मिदरं" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। आगे ज्ञान प्रपंचको संकोच करनेकी मुख्यतासे पहली गाथा है तथा नमस्कारको कहते हुए दूसरी है। इस तरह "ण वि परिणमदि" इत्यादि गाथाएं दो हैं। इस तरह ज्ञान प्रपंच नामके तीसरे अन्तर अधिकारमें तेतीस गाथाओंसे आठ स्थलोंसे समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञानमें परिणमन करते हैं इस कारणसे उनको सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं—

परिणमदो खलु णाणं, पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं॥२१॥

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः।
स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः॥ २२॥

सामान्यार्थ—वास्तवमें केवलज्ञानमें परिणमन करनेवाले केवली भगवानके सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें प्रत्यक्ष प्रगट हो जाती हैं। वह केवली उन द्रव्यपर्यायोंको अवग्रहपूर्वक

क्रियाओंके द्वारा क्रमसे नहीं जानते हैं किन्तु एक साथ एक समयमें सबको जान लेते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(खलु) वास्तवमें (णाणं) अनन्त पदार्थोंको जाननेमें समर्थ केवलज्ञानको (परिणमदो) परिणमन करते हुए केवली अरहंत भगवानके (सव्वदव्वपज्जाया) सर्व द्रव्य और उनकी तीनकालवर्ती सर्व पर्यायें (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष हो जाती हैं। (सः) वह केवली भगवान (ते) उन सर्व द्रव्य पर्यायोंको (ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं) अवग्रह पूर्वक क्रियाओंके द्वारा (णेव विजाणदि) नहीं जानते हैं किन्तु युगपत् जानते हैं ऐसा अर्थ है। इसका विस्तार यह है कि आदि और अन्त रहित, बिना किसी उपादान कारणके सत्ता रखनेवाले तथा चैतन्य और आनन्दमई स्वभावके धारी अपने शुद्ध आत्माको उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीजभूत जिसको आगमकी भाषासे शुक्लध्यान कहते हैं ऐसे रागादि विकल्पोंके जालसे रहित स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है तब स्वसंवेदन ज्ञानके फल स्वरूप केवलज्ञानमई ज्ञानाकारमें परिणमन करनेवाले केवली भगवानके उसी ही क्षणमें जब केवलज्ञान पैदा होता है तब क्रम क्रमसे जाननेवाले मतिज्ञानादि क्षयोपशमिक ज्ञानके अभावसे विना क्रमके एक साथ सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सहित सर्व द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान होजाते हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानकी महिमा बताई हैं। अभिप्राय यह है कि सहजज्ञान आत्माका स्वभाव है।

आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है। इनका तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी मिट नहीं सक्ता। ज्ञान उसे कहते हैं जो सर्व ज्ञेयोंको जान सके। जितने द्रव्य हैं उन सबमें प्रमेयत्वनामा साधारण गुण व्यापक है। जिस गुणके निमित्तसे पदार्थ किसी न किसीके ज्ञानका विषय हो वह प्रमेयत्व गुण है। आत्माका निरावरण शुद्ध ज्ञान तब ही पूर्ण और शुद्ध कहा जासक्ता है जब वह सर्व जान-नेयोग्य विषयको जान सके। इसी लिये केवली सर्वज्ञ भगवानके सर्व पदार्थ, गुण, पर्याय एक साथ झलकते रहते हैं। जब तक ज्ञान गुणमें ज्ञानावरणीय कर्मका आवरण थोड़ा या बहुत रहता है तबतक ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ नहीं जान सक्ता है। थोड़े थोड़े पदार्थोंको जानकर फिर उनको छोड़ दूसरोंको जानता है ऐसा क्रमवर्ती क्षयोपशमिक ज्ञान है। मतिज्ञानमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार ज्ञानकी श्रेणियां क्रमसे होती हैं तब कहीं इंद्रिय या मनमें प्राप्त पदार्थका कुछ बोध होता है ऐसा ज्ञान केवली भगवानके नहीं है। क्षायिकज्ञानके होते ही क्षयोपशमिक ज्ञान चारों नष्ट होजाते हैं। वास्तवमें ज्ञान एक ही है। आवरण कम अधिककी अपेक्षासे ज्ञानके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अव-धिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान ऐसे चार भेद हैं। जब आवरणका परदा बिलकुल हट गया तब ज्ञानके भेद भी मिट गए—जैसा स्व-भाव आत्माका था वैसा ज्ञान स्वभाव प्रगट होगया। चार ज्ञानोंकी अपेक्षासे इस स्वाभाविक ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। जिससमय क्षीणमोह गुणस्थानमें तिष्ठकर अंतर्मुहूर्त तक आत्मानुभव किया जाता है उसी समय आत्मानुभवरूप

द्वितीय शुक्लध्यानके बलसे जैसे मेघपटल हटकर सूर्य्य प्रगट हो जाता है वैसे सर्व ज्ञानावरण हटकर ज्ञान सूर्य्य प्रगट होजाता है। तब ही सर्व चर अचरमई लोक हाथपर रक्खे हुए आमलेके समान प्रकाशमान होजाता है। यही ज्ञान अनन्तकाल तक बना रहता है, क्योंकि कर्म आवरणका कारण मोह है सो केवली भगवानके बिलकुल नष्ट होगया है। केवली भगवान सर्वको सदा जानते रहते हैं इसी लिये क्रमवर्ती जाननेवालोंके जैसे आगेके जाननेके लिये कामना होती है सो कामना केवलीके नहीं होती है। जैसे छद्मस्थोंमें किसी बातके जाननेकी चाह होती है और वह चाह जब तक मिट नहीं जाती तबतक बड़ी आकुलता रहती है। अक्रमज्ञान होने हीसे केवली भगवानके किसी ज्ञेयके जाननेकी चिंता या आकुलता नहीं होती है। केवलज्ञानकी महिमा वचन अगोचर है। ऐसा निराकुलताका कारण केवलज्ञान जिनके पैदा होजाता है वे धन्य हैं–वे ही परमात्मा हैं। उन्होंने ही भवसागरसे पार पा लिया है। उनहीने भ्रम और विकल्पके मेघोंको दूर भगा दिया है। वे ही आवागमनके चक्रसे बाहर होजाते हैं। ऐसा केवलज्ञान जिस शुद्धोपयोगकी भावनासे प्राप्त होता है उस ही शुद्धोपयोगकी निरंतर भावना करनी चाहिये।

आगेकी उत्थानिका–आगे कहते हैं कि केवलज्ञानीको सर्व प्रत्यक्ष होता है यह बात अन्वयरूपसे पूर्व सूत्रमें कही गई। अब केवलज्ञानीको कोई बात भी परोक्ष नहीं है इसी बातको व्यतिरेकसे दृढ़ करते हैं–

णत्थि परोक्खं किंचिवि, समंत सव्वक्खगुण-
समिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा, सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२

नास्ति परोक्षं किञ्चिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य।
अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥ २२ ॥

सामान्यार्थ-सर्व आत्माके प्रदेशोंमें सर्व इन्द्रियोंके गुणसे परिपूर्ण और अतीन्द्रिय तथा स्वयमेव ही केवलज्ञानको प्राप्त होनेवाले भगवानके सदा ही कोई भी विषय परोक्ष नहीं है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(समंत) समस्तपने अर्थात् सर्व आत्माके प्रदेशोंके द्वारा (सव्वक्खगुणसमिद्धस्स) सर्व इन्द्रियोंके गुणोंसे परिपूर्ण अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्दके जाननरूप जो इन्द्रियोंके विषय उन सबके जाननेकी शक्ति सर्व आत्माके प्रदेशोंमें जिसके प्राप्त होगई है ऐसे तथा (अक्खातीदस्स) अतीन्द्रिय स्वरूप अर्थात् इंद्रियोंके व्यापारसे रहित अथवा ज्ञान करके व्याप्त है आत्मा जिसका ऐसे निर्मल ज्ञानसे परिपूर्ण और (सयमेव हि) स्वयमेव ही (णाणजादस्स) केवलज्ञानमें परिणमन करनेवाले अरहंत भगवानके (किंचिवि) कुछ भी (परोक्खं) परोक्ष (णत्थि) नहीं है। भाव यह है कि परमात्मा अतीन्द्रिय स्वभाव हैं। परमात्माके स्वभावसे विपरीत क्रम क्रमसे ज्ञानमें प्रवृत्ति करनेवाली इंद्रियें हैं उनके द्वारा जाननेसे जो उल्लंघन कर गए हैं अर्थात् जिस परमात्माके इन्द्रियोंके द्वारा पराधीन ज्ञान नहीं है ऐसे परमात्मा तीन जगत और तीन कालवर्ती समस्त

पदार्थोंको एक साथ प्रत्यक्ष जाननेको समर्थ, अविनाशी तथा अखंडपनेसे प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानमें परिणमन करते हैं अत-एव उनके लिये कोई भी पदार्थ परोक्ष नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि केवलज्ञानीकी अतीव भारी सामर्थ्य है। इन्द्रिय ज्ञानमें बहुत तुच्छ शक्ति होती है। जो इंद्रिय स्पर्शका विषय जानती है वह अन्य विषयोंको नहीं जान सक्ती, जो रसको जानती है वह गंधको नहीं जान सक्ती। इस तरह एक एक इंद्रिय एक एक विषयको जानती है। परंतु केवलज्ञानीकी आत्मामें सर्व ज्ञानावरणीय कर्मके नाश होनेसे ऐसी शक्ति पैदा होजाती है कि आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमेंसे हरएक प्रदेशमें सर्व ही इन्द्रियोंसे जो ज्ञान अलग २ क्रमसे होता है वह सर्व ज्ञान होसक्ता है अर्थात् हरएक आत्माका प्रदेश सर्व ही विषयोंको एक साथ जाननेको समर्थ है। यहां तक कि तीनलोक तीन कालकी सर्व पर्यायोंको और अलोकाकाशको एक आत्माका प्रदेश जान सक्ता है। ऐसा निर्मल ज्ञान शुद्ध आत्मामें सर्व प्रदेशोंमें व्याप्त होता है। इस ज्ञानके लिये इन्द्रियोंकी सहायता बिलकुल नहीं रही है। यह ज्ञान पराधीन नहीं है किन्तु स्वाधीन है। ऐसा केवलज्ञान एक साधुको स्वयं ही शुद्धोपयोगमें तन्मय होनेसे प्राप्त होता है। कोई केवलज्ञानकी शक्तिको देता नहीं है न यह आत्मा किसी अन्य पदार्थसे इस ज्ञानकी शक्तिको प्राप्त करता है। यह केवलज्ञान इस आत्माका ही स्वभाव है। यह इस आत्मामें ही था, आवरणके दूर होनेसे अपने ही द्वारा प्रकाशित होजाता है। ऐसे केवल-

ज्ञानमें सर्व ही ज्ञेय सदाकाल प्रत्यक्ष रहते हैं, कोई भी कहीं भी कभी भी कोई पदार्थ या गुण या पर्याय ऐसी नहीं है जो केवलज्ञानीके ज्ञानसे परे हो या परोक्ष हो, इसीको सर्वज्ञता कहते हैं। केवलज्ञानमें सबसे अधिक अविभाग परिच्छेद होते हैं, उत्कृष्ट अनंतानंतका भेद यहीं प्राप्त होता है। इस लिये षट्द्रव्यमयी उपस्थित समुदायके सिवाय यदि अनन्तानन्त ऐसे समुदाय हों तौ भी केवलज्ञानमें जाने जा सक्ते हैं। ऐसी अपूर्व शक्ति इस आत्माको शुद्धोपयोग द्वारा प्राप्त होती है ऐसा जानकर आत्मार्थी जीवको उचित है कि रागद्वेष मोहका त्याग करके एक मनसे साम्यभाव या शुद्धोपयोगका मनन करे, यही तात्पर्य है।

इस तरह केवलज्ञानियोंको सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए प्रथम स्थलमें दो गाथाए पूर्ण हुईं ॥ २२ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान व्यवहारसे सर्वगत है–

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोगालोगं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २३ ॥

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥ २३ ॥

सामान्यार्थ–आत्मा ज्ञानगुणके बराबर है, तथा ज्ञान ज्ञेय पदार्थोंके बराबर कहा गया है और ज्ञेय लोक और अलोक हैं इसलिये ज्ञान सर्वगत या सर्वव्यापक है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(आदा णाणपमाणं)

आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञानके साथ आत्मा हीन या अधिक नहीं है इसलिये ज्ञान जितना है उतना आत्मा है। कहा है " समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति " अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायों समान होता है इस वचनसे वर्तमान मनुष्यभवमें यह आत्मा वर्तमान मनुष्य पर्यायके समान प्रमाणवाला है तैसे ही मनुष्य पर्यायके प्रदेशोंमे रहनेवाला ज्ञान गुण है। जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्यायमे ज्ञान गुणके बराबर प्रत्यक्षमें दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चयसे सदा ही अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभुत जो यह केवलज्ञान गुण तिस प्रमाण यह आत्मा है। (णाणं णेयप्पमाणं) ज्ञान ज्ञेय प्रमाण (उद्दिट्ठं) कहा गया है। जैसे ईंधनमें स्थित आग ईंधनके बराबर है ऐसे ही ज्ञान ज्ञेयके बराबर है। (णेयं लोयालोयं) ज्ञेय लोक और अलोक हैं। शुद्धबुद्ध एक स्वभावमई सर्व तरहसे उपादेयभूत गृहण करने योग्य परमात्म द्रव्यको आदि लेकर छः द्रव्यमई यह लोक है। लोकके बाहरी भागमें जो शुद्ध आकाश है सो अलोक है। ये दोनों लोकालोक अपने अपने अनन्त पर्यायोंमें परिणमन करते हुए अनित्य हैं तौ भी द्रव्यार्थिक नयसे नित्य हैं। ज्ञान लोक अलोकको जानता है। (तम्हा) इस कारणसे (णाणं तु सव्वगयं) ज्ञान भी सर्वगत है। अर्थात् क्योंकि निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धोपयोगकी भावनाके बलसे पैदा होनेवाला जो केवलज्ञान है वह पत्थरमें टांकीसे उकेरे हुएके न्यायसे पूर्वमें कहे गये सर्व ज्ञेयको जानता है इसलिये व्यवहार नयसे ज्ञान सर्वगत कहा गया है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है।

भावार्थ-यहां आचार्यने बताया है कि गुण और गुणी एक क्षेत्रावगाही होते हैं तथा हरएक गुण अपने आधारभूत द्रव्यमें व्यापक होता है। जितने प्रदेश द्रव्यके होते हैं उतने ही प्रदेश गुणोंके होते हैं। ऐसा होनेपर भी गुण स्वतंत्रतासे अपना अपना कार्य करता है। यहां आत्मा द्रव्य है, और उसका मुख्य गुण ज्ञान है। ज्ञान आत्माके प्रमाण है आत्मा ज्ञानके प्रमाण है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी है इसलिये उसका ज्ञान गुण भी असंख्यात प्रदेशी है। दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध है, जो कभी अलग नहीं था न अलग होसकता है। यद्यपि ज्ञान गुणकी सत्ता आत्मामें ही है तथापि ज्ञान गुण अपने पूर्ण कार्यको करता है अर्थात् सर्व जानने योग्य पदार्थोंको जानता है, कोई ज्ञेय उससे बाहर नहीं रह जाता इससे विषयकी अपेक्षा ज्ञान ज्ञेयोंके बराबर है। ज्ञेयोंका विस्तार देखा जाय तो सर्व लोक और अलोक है। जितने द्रव्य गुण व तीनकालवर्ती पर्याय हैं वे सब जाननेके विषय हैं और ज्ञान उन सबको जानता है इस कारण ज्ञानको सर्वगत या सर्वव्यापक कह सकते हैं।

यहां पर आंखका दृष्टांत है। जैसे आंखकी पुतली अपने स्थान पर रहती हुई भी विना स्पर्श किये बहुत दूरसे भी पदार्थोंको जान लेती है, ऐसे ही ज्ञान आत्माके प्रदेशोंमें ही रहता है तथापि विषयकी अपेक्षा सर्व लोकालोकको जानता है। यहां पर कोई २ ज्ञानको सर्वथा आकाश प्रमाण व्यापक मान लेते हैं उनका निषेध किया कि ज्ञान द्रव्यको छोड़कर चला नहीं जाता। वह लोकालोकको जानता है तथापि आत्मामें ही रहता है। कोई २

आत्माको भी सर्वव्यापक मानते हैं उनके लिये यह कहा गया कि जब ज्ञान विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है तब ज्ञानका धनी आत्मा भी विषयकी अपेक्षा सर्वव्यापक है। परन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्मा असंख्यात प्रदेशोंसे कमती बढ़ती नहीं होता–उसी प्रमाण उसका ज्ञान गुण रहता है। यद्यपि आत्मा निश्चयसे असंख्यात प्रदेशी है तथापि किसी भी शरीरमें रहा हुआ संकोचरूप शरीरके प्रमाण रहता है। मोक्ष अवस्थामें भी अंतिम शरीरसे किंचित् कम आकार रखता हुआ सदा स्थिर रहता है। इस तरहका पुरुषाकार होनेपर भी वह आत्मा ज्ञान गुणकी अपेक्षा सर्वको जानता है। आत्माका यह स्वभाव जैनाचार्योंने ऐसा बताया है जो स्वरूप अनुभव किये जानेपर ठीक जंचता है क्योंकि हम आप सर्व अलग २ आत्मा हैं, यदि भिन्न २ न होते तो एकका ज्ञान, सुख व दुःख दूसरेको हो जाता, जब एक सुखी होते सर्व सुखी होते, जब एक दुःखी होते सर्व दुःखी होते, सो यह बात प्रत्यक्षसे विरोधरूप है। हरएक अलग २ मरता जीता व सुख दुःख उठाता है। आत्मा भिन्न होनेपर भी शरीर प्रमाण किस तरह है इसका समाधान यह है, कि यदि आत्मा शरीर प्रमाण न होकर लोक प्रमाण होता तो जैसे शरीर सम्बन्धी सुख दुःखका भोग होता है वैसे शरीरसे बाहरके पदार्थोंसे भी सुख दुःखका अनुभव होता–सो ऐसा होता नहीं है। अपने शरीरके भीतर ही जो कुछ दुःख सुखका कारण होता है उसहीको आत्मा अनुभव करता है इससे शरीरसे अधिक फैला हुआ आत्मा नहीं है। यदि शरीरमें सर्व ठिकाने

व्यापक आत्माको न माने, केवल एक बिन्दुमात्र माने तो जहां वह बिंदुमात्र होगा वहींका सुख दुःख मालूम पड़ेगा—सर्व शरीरके सर्व ठिकानोंका नहीं—यह बात भी प्रत्यक्षसे विरुद्ध है। यदि शरीरमें एक ही साथ पगमें मस्तकमें व पेटमें सुई भोकी जावे तो वह एक साथ तीनों दुःखोंको वेदन करेगा—अथवा मुंखसे स्वाद लेते, आंखसे देखते व विषयभोग करते सर्वांग वेदन होता है, कारण यही है कि आत्मा अखंड रूपसे सर्व शरीरमें व्यापक है। शरीरके किसी एक स्थानपर सुख भासनेसे सर्व अंग प्रफुल्लित हो जाता है। शरीरमें आत्मा संकुचित अवस्थामें है उसके असंख्यात प्रदेश कम व बढ़ नहीं होते। यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञानादि अनंत गुणोंका निवास आत्माके असंख्यात प्रदेश ही हैं तथापि उसके गुण अपने २ कार्यमें स्वतंत्रतासे काम करते हैं, उन्हींमें ज्ञान गुण सर्व ज्ञेयोंको जानता है—और जब ज्ञेय लोकालोक हैं तब ज्ञान विषयकी अपेक्षा व्यवहारसे लोकालोक प्रमाण है ऐसा यहां तात्पर्य है। ऐसी अपूर्व ज्ञानकी शक्तिको पहचानकर हमारा यह कर्तव्य होना चाहिये कि इस केवलज्ञानकी प्रगटताके लिये हम शुद्धोपयोगका अनुभव करें तथा उसीकी भावना करें ॥२३

उत्थानिका-अब जो आत्माको ज्ञानके बराबर नहीं मानते हैं, ज्ञानसे कमती बढ़ती मानते हैं उनको दूषण देते हुए कहते हैं—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अधिगो वा, णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥

हीणो जदि सो आदा, तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अधिगो वा णाणादो, णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥

ज्ञानप्रमाणमात्मा, न भवति यस्येह तस्य स आत्मा ।
हीनो वा अधिको वा, ज्ञानाद् भवति ध्रुवमेव ॥ २४ ॥
हीनो यदि स आत्मा, तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति ।
अधिको वा ज्ञानात्, ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥ २५ ॥

सामान्यार्थ–इस जगतमें जिसका यह मत है कि ज्ञान प्रमाण आत्मा नहीं है उसके मतमें निश्चयसे यह आत्मा ज्ञानसे न या ज्ञानसे अधिक हो जायगा । यदि वह आत्मा ज्ञानसे छोटा हो तब ज्ञान अचेतन होकर कुछ न जान सकेगा और जो आत्मा ज्ञानसे अधिक होगा वह ज्ञानके विना कैसे जान सकेगा?

अन्वय सहित विशेषार्थ–(इह) इस जगतमें (जस्स) जिस वादीके मतमें (आदा) आत्मा (णाणपमाणं) ज्ञान प्रमाण (ण हवदि) नहीं होता है (तस्स) उसके मतमें (सो आदा) वह आत्मा (णाणदो) ज्ञान गुणसे (हीणो वा) या तो हीन अर्थात् छोटा (अधिगो वा) या अधिक अर्थात् बड़ा (हवदि) हो जाता है (ध्रुवम् एव) यह निश्चय ही है ।

(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (हीणो) हीन या छोटा होता है तब (तं णाणं) सो ज्ञान (अचेदणं) चेतन रहित होता हुआ (ण जाणादि) नहीं जानता है अर्थात् यदि वह आत्मा ज्ञानसे कम या छोटा माना जाय तब जैसे अग्निके विना उष्ण गुण ठंडा हो जायगा और अपने जलानेके कामको न कर सकेगा

जैसे आत्माके विना जितना ज्ञानगुण बचेगा वह ज्ञानगुण अपना आश्रयभूत चैतन्यमई द्रव्यके विना जिस आत्मद्रव्यके साथ ज्ञानगुणका समवाय सम्बन्ध है, अचेतन या जड़रूप होकर कुछ भी नहीं जान सकेगा (वा णाणादो) अथवा ज्ञानसे (अधिगो) अधिक या बडा आत्माको माने तब (णाणेण विणा) ज्ञानके विना (कहं) कैसे (णादि) जान सक्ता है अर्थात् यदि यह माने कि ज्ञान गुणसे आत्मा बड़ा है तब जितना आत्मा ज्ञानसे बड़ा है उतना आत्मा जैसे उष्णगुणके विना अग्नि ठंडी होकर अपने जलानेके कामको नहीं कर सक्ती है तैसे ज्ञानगुणके अभावमें अचेतन होता हुआ किस तरह कुछ जान सकेगा अर्थात् कुछ भी न जान सकेगा। यहां यह भाव है कि जो कोई आत्माको अंगूठेकी गांठके बराबर या श्यामाक तंदुकके बराबर या वडके बीजके बराबर आदि रूपसे मानते हैं उनका निषेध किया गया तथा जो कोई सात समुद्घातके बिना आत्माको शरीरप्रमाणसे अधिक मानते हैं उनका भी निराकरण किया गया।

भावार्थ–इन दो गाथाओंमें आत्माको और उसके ज्ञान गुणको सम प्रमाण सिद्ध किया गया है। द्रव्य और गुणका प्रदेशोंकी अपेक्षा एक क्षेत्रावगाह समवाय या तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जहां २ द्रव्य वहां २ उसके गुण, जहां २ गुण वहां २ उसके द्रव्य। वास्तवमें द्रव्य गुणोंके एक समुदायको कहते हैं जिसमें हरएक गुण एक दूसरेमें व्यापक होता है। प्रदेशत्वनामा गुण जितने प्रदेश जिस द्रव्यके रखता है अर्थात् जो द्रव्य जितने आकाशको व्यापकर रहता है उतने ही में सर्व गुण व्यापक रहते

हैं। प्रदेशत्त्वगुणकी अपेक्षा द्रव्यका जितना प्रमाण है उतने ही प्रमाणमें अन्य सर्वगुण उस द्रव्यमें रहते हैं, क्योंकि कहा है कि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' उमा० त० सू० ५/४१ कि गुण द्रव्यके आश्रय रहते हैं तथा गुणोंके गुण नहीं होते इसलिये द्रव्य और गुणोंका तादात्म्य है, द्रव्यसे गुण न छोटे होते हैं न बड़े, उसी तरह द्रव्य भी गुणोंसे न छोटा होता है न बड़ा। ऐसी व्यवस्था है। यहां आत्मा द्रव्य और उसके ज्ञान गुणको लेकर तर्क उठाया गया है कि यदि आत्मज्ञान गुणसे छोटा माना जायगा तो जितना ज्ञान गुण आत्मासे बड़ा होगा उतना ज्ञानगुण अपने आधार द्रव्यके विना रह नहीं सक्ता, कदाचित् रहेगा तो अचेतन द्रव्यके आधार रहकर चेतन द्रव्यके आधारके विना जड़रूप होकर कुछ भी जाननेके कामका न करसकेगा। जैसे जड़ नहीं जानता है तैसे वह ज्ञान जड़ होता हुआ कुछ न जानेगा, सो यह बात हो नहीं सक्ती क्योंकि जो जान नहीं सक्ता है उसको ज्ञान कह ही नहीं सके। जैसे यदि कहें कि अग्निसे उसका उष्ण गुण अधिक है अग्नि उससे छोटी है तब जितना उष्णगुण अग्नि विना माना जायगा वह अग्निके आधार विना एक तो रह ही नहीं सक्ता, यदि रहे तो उसको ठंडा होकर रहना होगा अर्थात् अग्निके विना उष्ण गुण जलानेकी क्रियाको न कर सकेगा सो यह बात असंभव है क्योंकि तब (ण जे) उसे ही उष्णगुण कहसके सो अग्निके आधार हुआ (ण जाणादि) नहीं होसक्ता क्योंकि उष्णगुणका आधार ज्ञानसे कम या छोटा ज्ञगुणको जानना चाहिये। ज्ञान गुण गुण ठंडा हो जायगा आधार शून्य व जड होजायगा सो यह

बात असंभव है। दूसरा पक्ष यदि यह मानाजाय कि आत्मा ज्ञानगुणसे बड़ा है ज्ञानगुण छोटा है तब भी नहीं बन सक्ता है क्योंकि जितना आत्मा ज्ञानगुणसे बड़ा माना जायगा उतना आत्मा ज्ञानगुण रहित अज्ञानमय अचेतन होजायगा और अपने जाननेके कामको न करसकनेके कारण जड़ पुद्गलमय होता हुआ अपने नामको कभी नहीं रखसक्ता है कि मैं आत्मा हूं। जैसे यदि अग्निको उष्ण गुणसे बड़ा माना जाय तो जितनी अग्नि उष्णता रहित होगी वह ठंढी होगी तब जलानेके कामको न कर सकेगी तब वह अपने नामको ही खो बैठेगी सो यह बात असंभव है वैसे आत्मा ज्ञानगुणके विना जड़ अवस्थामें आत्माके नामसे जीवित रह सके यह बात भी असंभव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि न आत्मा ज्ञानगुणसे छोटा है न बड़ा है, जितना बड़ा आत्मा है उतना बड़ा ज्ञान है, जितना ज्ञान है उतना आत्मा है। प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्मा असंख्यात प्रदेशी है उतना ही बड़ा उसका गुण ज्ञान है। शरीरमें रहता हुआ आत्मा शरीर प्रमाण है अथवा मोक्ष अवस्थामें अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारवाला है उतना ही बड़ा उसका ज्ञानगुण है। जब समुद्घात करता है अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी फैलकर शरीरके बाहर आत्माके प्रदेश जाते हैं जो अन्य छ समुद्घातोंमें थोड़ी २ दूर जाते हैं परंतु केवल समुद्घातमें लोकव्यापी होजाते हैं और फिर शरीर प्रमाण हो जाते हैं तब भी जैसा आत्मा फैलता सकुड़ता है वैसे ही उसके ज्ञानादि गुण रहते हैं। चंद्रमा जैसे अपनी प्रभा सहित ही छोटा या बड़ा होता है वैसे आत्मा अपने ज्ञानादि गुण सहित छोटा या

बड़ा होता है। प्रयोजन यह है कि आत्मा ज्ञानगुणके प्रमाण है ज्ञानगुण आत्माके प्रमाण है। आत्माका और ज्ञानगुणका तादात्म्य सम्बन्ध है। जो कोई आत्माको सर्व व्यापक या बहुत छोटा मानते हैं उसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है। यहां उसीका पुष्टिकरण है कि जब हम अपने शरीरमें सर्व स्थानोंपर ज्ञानका काम कर सक्ते हैं तब हमारा आत्मा शरीर प्रमाण सिद्ध हो गया। जैसे प्रदेशोंकी अपेक्षा ज्ञानगुण और आत्माकी समानता है वैसे विषयकी अपेक्षा भी समानता कह सक्ते हैं, जैसे ज्ञान गुण लोकालोकको जानता हुआ लोकालोक प्रमाण सर्वव्यापक कहलाता है वैसे ही आत्माको भी लोकालोक ज्ञायक या सर्वज्ञ कह सक्ते हैं। यहां यही दिखलाया है कि द्रव्य और गुणकी प्रमाणकी अपेक्षा समानता है। यहां यह भी खुलासा समझ लेना कि जो लोग आत्माको प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्वव्यापक मानते हैं उनका निराकरण करके यह कहा गया कि सर्वके जाननेकी अपेक्षा तो सर्वव्यापक कह सक्ते हैं, परन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं कह सक्ते। यहां यह तात्पर्य है कि जिस केवलज्ञानके बराबर आत्मा है वह केवलज्ञान ही सर्वको जानता हुआ आकुलतारहित होता है जिसकी प्राप्ति शुद्धोपयोगकी भावनासे होती है अतएव सर्व तरहसे रुचिवान होकर इस शुद्धोपयोगमई साम्यभावकी भावना कर्तव्य है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे ज्ञानको पहले सर्वव्यापक कहा गया है वैसे ही सर्वव्यापक ज्ञानकी अपेक्षासे भगवान् अरहंत आत्मा भी सर्वगत हैं।

सव्वगदो जिणवसहो, सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो, विसयादो तस्स ते भणिदा॥

सर्वगतो जिनवृषभः सर्वेपि च तद्गता जगत्यर्थाः।
ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिताः॥ २६॥

सामान्यार्थ-ज्ञानमयी होनेके कारणसे श्री जिनेन्द्र अर्हंत भगवान सर्वगत या सर्व व्यापक हैं तथा उस भगवानके ज्ञानके विषयपनाको प्राप्त होनेसे जगतमें सर्व ही जो पदार्थ हैं सो उस भगवानमें गत हैं या प्राप्त हैं ऐसे कहे गए हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(णाणमयादो य) तथा ज्ञानमयी होनेके कारणसे (जिणवसहो) जिन जो गणधरादिक उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान (जिणो) जिन अर्थात् कर्मोंको जीतनेवाले अरहंत या सिद्ध भगवान (सव्वगदो) सर्वगत या सर्व व्यापक हैं। (तस्स) उस भगवानके ज्ञानके (विसयादो) विषयपनाको प्राप्त होनेके कारणसे अर्थात् ज्ञेयपनेको रखनेके कारणसे (सव्वेवि य जगदि ते अट्ठा) सर्व ही जगतमें जो पदार्थ हैं सो (तग्गया) उस भगवानमें प्राप्त या व्याप्त (भणिदा) कहे गए हैं। जैसे दर्पणमें पदार्थका बिम्ब पड़ता है तैसे व्यवहार नयसे पदार्थ भगवानके ज्ञानमें प्राप्त हैं। भाव यह है कि जो अनन्तज्ञान है तथा अनाकुलपनेके लक्षणको रखनेवाला अनन्त सुख है उनका आधारभूत जो है सो ही आत्मा है इस प्रकारके आत्माका जो प्रमाण है वही आत्माके ज्ञानका प्रमाण है और वह ज्ञान आत्माका अपना स्वरूप है। ऐसा अपना निज स्वभाव देहके भीतर प्राप्त आत्माको

नहीं छोड़ता हुआ भी लोक अलोकको जानता है । इस कारणसे व्यवहार नयसे भगवान्‌को सर्वगत कहा जाता है । और क्योंकि जैसे नीले पीत आदि बाहरी पदार्थ दर्पणमें झलकते हैं ऐसे ही बाह्य पदार्थ ज्ञानाकारसे ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये व्यवहारसे पदार्थोंके द्वारा कार्यरूप हुए पदार्थोंके ज्ञान आकार भी पदार्थ कहे जाते हैं । इसलिये वे पदार्थ ज्ञानमें तिष्ठते हैं ऐसा कहनेमें दोष नहीं है । यह अभिप्राय है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि आत्माको सर्वगत या सर्वव्यापक किस अपेक्षासे कहा जासक्ता है । जिसतरह दूसरे कोई मानते हैं कि आत्मा अपनी सत्तासे प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्वव्यापक है उसतरह तो सर्वव्यापक नहीं होसक्ता । प्रदेशोंकी अपेक्षा तो समुद्घातके सिवाय शरीरके आकारके प्रमाण आत्माका आकार रहता है और उस आत्माके आकार ही आत्माके भीतर सर्व प्रदेशोंमें व्यापक ज्ञान आदि गुण पाए जाते हैं । परन्तु जैसे पहले ज्ञानको सर्वलोक अलोकके जाननेकी अपेक्षा व्यवहारसे सर्वव्यापक कहा है वैसे ही यहां व्यवहारसे आत्माको सर्वव्यापक कहा है । यद्यपि हरएक आत्मामें सर्वज्ञपनेकी शक्ति है तथापि यहां व्यक्ति अपेक्षा केवलज्ञानी अरहंत और सिद्ध परमात्माको ही लक्ष्यमें लेकर उनको सर्वगत या सर्वव्यापक इसलिये कहा गया है कि उनका आत्मा ज्ञानसे तन्मय है। जब ज्ञान सर्वगत है तब ज्ञानी आत्माको भी सर्वव्यापक कहसक्ते हैं। जैसे आत्माको सर्वगत कहसक्ते हैं वैसे यह भी कहसक्ते हैं कि सर्व ज्ञेय पदार्थ मानों भगवानकी आत्मामें समागए या प्रवेश होगए।

क्योंकि केवलीके ज्ञानमें सर्व ज्ञेयोंके आकार ज्ञानाकार होगए हैं। यद्यपि ज्ञेय पदार्थ भिन्न २ हैं तथापि उनके ज्ञानाकारोंका ज्ञानमें झलकना मानों पदार्थोंका झलकना है। ज्ञानमें जैसे प्राप्त हैं वैसे आत्मामें प्राप्त हैं दोनों कहना विषयकी अपेक्षा समान है। जैसे दर्पणमें मोर दीखता है इसमें मोर कुछ दर्पणमें पैठा नहीं, मोर अलग है, दर्पण अलग है, तथापि मोरके आकार दर्पणकी प्रभा परिणमी है, इससे व्यवहारसे यह कह सक्ते हैं कि दर्पण या दर्पणकी प्रभा मोरमें व्याप्त है अथवा मोर दर्पणकी प्रभामें या दर्पणमें व्याप्त है। इसी तरह केवलज्ञानी भगवान अरहंत या सिद्ध तथा उनका स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान अपने ही प्रदेशोंकी सत्तामें रहते हैं। न वे पदार्थोंके पास जाते और न पदार्थ उनके पास आते तथापि झलकनेकी अपेक्षा यह कह सक्ते हैं कि अरहंत या सिद्ध भगवान या उनका ज्ञान सर्वगत या सर्व व्यापक है अथवा सर्व लोकालोक ज्ञेय रूपसे भगवान अरहंत या सिद्धमें या उनके शुद्ध ज्ञानमें व्याप्त है। यहां आचार्यने उसी केवलज्ञानकी विशेष महिमा बताई है कि वह सर्वगत होकरके भी पूर्ण निराकुल रहता है। आत्मामें रागद्वेषका सद्भाव न होनेसे ज्ञान या ज्ञानी आत्मा स्वभावसे सर्वको जानते हुए भी निर्विकार रहते हैं—ऐसा अनुपम केवलज्ञान जिस शुद्धोपयोग या साम्यभावके अनुभवसे प्राप्त होता है उसहीकी भावना करनी चाहिये, यह तात्पर्य्य है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञान आत्माका स्वभाव है तथापि आत्मा ज्ञान स्वभाव भी है तथा सुख आदि स्वभाव रूप भी है—केवल एक ज्ञानगुणका ही धारी नहीं है—

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२८॥

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम् ।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा ॥ २८ ॥

सामान्यार्थ-ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है क्योंकि ज्ञान आत्माके विना कहीं नहीं रहता है इसलिये ज्ञान आत्मारूप है परन्तु आत्मा ज्ञानरूप भी है तथा अन्यरूप भी है ।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(णाणं) ज्ञानगुण (अप्पत्ति) आत्मा रूप है ऐसा (मदं) माना गया है कारण कि (णाणं) ज्ञान गुण (अप्पाणं) आत्मा द्रव्यके (विणा) विना अन्य किसी घट पट आदि द्रव्यमें (ण वट्टदि) नहीं रहता है (तम्हा) इसलिये यह जाना जाता है कि किसी अपेक्षासे अर्थात् गुण गुणीकी अभेद दृष्टिसे (णाणं) ज्ञानगुण (अप्पा) आत्मारूप ही है । किन्तु (अप्पा) आत्मा (णाणं व) ज्ञानगुण रूप भी है, जब ज्ञान स्वभावकी अपेक्षा विचारा जाता है (अण्णं वा) तथा अन्य गुणरूप भी है जब उसके अंदर पाए जानेवाले सुख वीर्य आदि स्वभावोंकी अपेक्षा विचारा जाता है । यह नियम नहीं है कि मात्र ज्ञानरूप ही आत्मा है । यदि एकान्तसे ज्ञान ही आत्मा है ऐसा कहा जाय तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त हो गया फिर सुख आदि स्वभावोंका अवकाश नहीं रहा । तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावोंके समुदायका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायगा । जब आधारभूत आत्माका अभाव हो गया तब उसका आधेयभूत

ज्ञानगुणका भी अभाव हो गया इस तरह एकान्त मतमें ज्ञान और आत्मा दोनोंका ही अभाव हो जायगा। इसलिये किसी अपेक्षासे ज्ञान स्वरूप आत्मा है सर्वथा ज्ञान ही नहीं है। यहां यह अभिप्राय है कि आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है इस लिये ज्ञान स्वरूप आत्मा हो सक्ता है। तथा आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य स्वभाव रूप भी है। जैसा ही कहा है "व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च" व्यापकमें व्याप्य एक और दूसरे अनेक रह सके हैं जबकि व्याप्य व्यापकमें ही रहता है।

भावार्थ-इन गाथामें आचार्यने इस बातको स्पष्ट किया है कि आत्मा केवल ज्ञानमात्र ही नहीं है किंतु अनंत धर्म स्वरूप है। कोई कोई आत्माको ज्ञान मात्र ही मानते हैं-ऐसा माननेसे आत्मा द्रव्य, ज्ञानगुण ऐसा कहनेकी कोई जरूरत न रहेगी फिर तो मात्र एक ज्ञानको ही मानना पड़ेगा। तब अकेला ज्ञानगुण विना किसी आधारके कैसे ठहर सकेगा क्योंकि कोई गुण द्रव्यके विना पाया नहीं जा सक्ता, द्रव्यका अभाव होनेसे ज्ञानगुणका भी अभाव हो जायगा इससे आचार्यने कहा है कि ज्ञानगुण तो अवश्य आत्मारूप है क्योंकि ज्ञानका और आत्माका एक लक्षणात्मक सम्बन्ध है। आत्मा लक्ष्य है ज्ञान उसका लक्षण है। ज्ञानलक्षणमें अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव दोष नहीं हैं क्योंकि ज्ञान सर्व आत्माओंको छोड़कर अन्य पुद्गल आदि पांच द्रव्योंमें नहीं पाया जाता तथा ज्ञानवर्जित कोई आत्मा नहीं है इसलिये ज्ञान स्वभाव रूप तो आत्मा अवश्य है परन्तु आत्मा द्रव्य है इससे वह अनंतगुण व पर्यायोंका आधारभूत समुदाय है। आत्मामें सामान्य व

विशेष अनेक गुण या स्वभाव पाए जाते हैं–हरएक गुण या स्वभाव आत्मामें व्यापक है। तब जैसे एक आम्रके फलको वर्णके व्यापनेकी अपेक्षा हरा, रसके व्यापनेकी अपेक्षा मीठा, गंधके व्यापनेकी अपेक्षा सुगंधित, स्पर्शके व्यापनेकी अपेक्षा नर्म कह सक्ते हैं वैसे ही आत्माको अस्तित्व गुणकी अपेक्षा सतरूप द्रव्यत्वगुणकी अपेक्षा द्रव्यरूप, प्रदेशत्व गुणकी अपेक्षा प्रदेश रूप आकारवान, नित्यत्व स्वभावकी अपेक्षा नित्य. अनित्यत्व स्वभावकी अपेक्षा अनित्य सम्यक्त गुणकी अपेक्षा सम्यक्ती. चारित्र गुणकी अपेक्षा चारित्रवान, वीर्य गुणकी अपेक्षा वीर्यवान सुख गुणकी अपेक्षा परम सुखी इत्यादि रूप कह सक्ते हैं–आत्मा अनंत धर्मात्मक है तब ही उसको द्रव्यकी संज्ञा है–गुणोंके समुदायको ही द्रव्य कहते हैं। जो अनेक गुणोंका अखंड पिंड होता है उसे ही द्रव्य कहते हैं उसमें जब जिस गुणकी मुख्यतासे कहें तब उसको उसी गुण रूप कह सक्ते हैं ऐसा कहने परभी अन्य गुणोंकी सत्ताका उसमेंसे अभाव नहीं होजाता। जैसे एक पुरुषमें पितापन पुत्रकी अपेक्षा, पुत्रपना पिताकी अपेक्षा, भानजापना मामाकी अपेक्षा, भतीजापना चाचाकी अपेक्षा, भाईपना भाईकी अपेक्षा इस तरह अनेक सम्बन्ध एक ही समयमें पाए जाते हैं परंतु जब पिता कहेंगे तब अन्य सम्बन्ध गौण हो जावेंगे तथापि उसमेंसे सम्बन्ध चले नहीं गए–यह हमारी शक्तिका अभाव है कि हम एक ही काल अनेक सम्बन्धोंको कह नहीं सक्ते इसी तरह आत्मा अनंत धर्मात्मक है। जब जिस धर्मकी मुख्यतासे कहा जाय तब उस धर्मरूप आत्माको कह सक्ते हैं। अन्य गुणोंकी अपेक्षा ज्ञान गुण

प्रधान है क्योंकि इसहीके द्वारा अन्य गुणोंका व स्वभावोंका बोध होता है इसलिये ज्ञानरूप आत्माको यत्रतत्र कहा है, परन्तु ऐसा कहनेका मतलब यह न निकालना कि आत्मा मात्र ज्ञानरूप ही है किंतु यही समझना कि ज्ञानरूप कहनेमें ज्ञानकी मुख्यता ली गई है। ऐसा वस्तुका स्वरूप है—जो इसको समझता है वही अरहंत और सिद्ध भगवानको तथा अपने तथा परके आत्माको पहचान सक्ता है।

यह जानते हुए कि केवलज्ञानकी व्यक्तता परमानंदमई अनंत सुखी यह आत्मा हो जाता है इसको जिस तरह बने केवलज्ञानके कारणभूत शुद्धोपयोग या साम्यभावका ही मनन करना चाहिये।

इस तरह आत्मा और ज्ञानकी एकता तथा ज्ञानके व्यवहारसे सर्वव्यापकपना है इत्यादि कथन करते हुए दूसरे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेयोंके समीप नहीं जाता है ऐसा निश्चय है—

णाणी णाणसहावो, अत्था णेयापगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं, णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः।
रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥ २९ ॥

सामान्यार्थ-निश्चय करके ज्ञानी आत्मा ज्ञान स्वभाववाला है तथा ज्ञानीके ज्ञेयस्वरूप पदार्थ चक्षुओंके भीतर रूपी पदार्थोंकी तरह परस्पर एक दूसरेमें प्रवेश नहीं करते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(हि) निश्चयसे (णाणी) केवलज्ञानी भगवान आत्मा (णाणसहावः) केवलज्ञान स्वभावरूप है तथा (णाणिस्स) उस ज्ञानी जीवके भीतर (अत्था) तीन जगतके तीन कालवर्ती पदार्थ ज्ञेयस्वरूप पदार्थ (चक्खुणां) आंखोंके भीतर (रूवाणि व) रूपी पदार्थोंकी तरह (अण्णोण्णेपु) परस्पर एक दूसरेके भीतर (णेव वट्टंति) नहीं रहते हैं। जैसे आंखोंके साथ रूपी मूर्तिक द्रव्योंका परस्पर सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आंख शरीरमें अपने स्थानपर है और रूपी पदार्थ अपने आकारका समर्पण आंखोंमें करदेते हैं तथा आंखें उनके आकारोंको जाननेमें समर्थ होती हैं तैसे ही तीनलोकके भीतर रहनेवाले पदार्थ तीन कालकी पर्यायोंमें परिणमन करते हुए ज्ञानके साथ परस्पर प्रदेशोंका सम्बन्ध न रखते हुए भी ज्ञानीके ज्ञानमें अपने आकारके देनेमें समर्थ होते हैं तथा अखंडरूपसे एक स्वभाव झलकनेवाला केवलज्ञान उन आकारोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है ऐसा भाव है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि सर्वव्यापक या सर्वगत जो पहले आत्माको या उसके ज्ञानको कहा है उसका अभिप्राय यह न लेना चाहिये कि अपने २ प्रदेशोंकी अपेक्षा एक द्रव्य दूसरोंमें प्रवेश करजाते हैं। किन्तु ऐसा भाव लेना चाहिये कि ज्ञानीका ज्ञान तो आत्माके प्रदेशोंमें रहता है। तब आत्मा जैसा आकार रखता है, उस ही आकारके प्रमाण आत्माका ज्ञान रहता है ? केवलज्ञानी अरहंतका आत्मा अपने शरीर मात्र आकार रखता है तथा सिद्ध भगवानका आत्मा अंतिम शरीरके किंचित् ऊन अपना आकार रखता है। इसी आकारमें ज्ञान भी रहता

है, क्योंकि ज्ञान गुण है, आत्मा द्रव्य है। द्रव्य और गुणमें सदृश प्रदेशी तादात्म्य सम्बन्ध है। ऐसा निश्चयसे ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध है। तो भी ज्ञान अपने कार्यके करनेमें स्वाधीन है। ज्ञानका काम सर्व तीन कालकी सर्व लोकालोकवर्ती पदार्थोंकी सर्व पर्यायोंको एक साथ जानना है। इस ज्ञानपनेके कामको करता हुआ यह आत्मा तथा उसका ज्ञान अपने नियत स्थानको छोड़कर नहीं जाते हैं। और न ज्ञेयरूपसे ज्ञानमें झलकनेवाले पदार्थ अपने २ स्थानको त्यागकर ज्ञानमें या आत्मामें आजाते हैं। कोई भी अपने २ क्षेत्रको छोड़ता नहीं तथापि जैसे आंखें अपने मुखमें नियत स्थान पर रहती हुई भी और सामनेके रूपी पदार्थोंमें न जाती हुई भी रूपी पदार्थोंका प्रवेश आंखोंमें न होते हुए भी सामनेके रूपी पदार्थोंको देख लेती हैं ऐसा परस्पर ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है कि पदार्थोंके आकारोंमें आंखोंके भीतर झलकनेकी और आंखोंके भीतर उनके आकारोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य है वैसे ही आत्माका ज्ञान अपने नियत आत्माके प्रदेशोंमें रहता है तथा सर्व ज्ञेयरूप पदार्थ अपने २ क्षेत्रमें रहते हैं कोई एक दूसरेमें आते जाते नहीं तथा इनका ऐसा कोई अपूर्व ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है जिससे सर्वज्ञेय पदार्थ तो अपने २ आकारोंको केवलज्ञानमें झलकानेको समर्थ हैं और केवलज्ञान उनके सर्व आकारोंको जाननेमें समर्थ है। दर्पणका भी दृष्टांत ले सक्ते हैं—एक दर्पणमें एक सभाके विचित्र वस्त्रालंकृत हजारों मनुष्य दिखलाई पड़ रहे हैं। दर्पण अपने स्थान भीतपर स्थित है। सभाके लोग सभाके कमरेमें अपने अपने आसनपर बिराजमान

हैं न दर्पण उनके पास जाता न वे सभाके लोग दर्पणमें प्रवेश करते तथापि परस्पर ऐसी शक्ति रखते हैं कि पदार्थ अपने आकार दर्पणको अर्पण करते हैं और दर्पण उनको ग्रहण करता है ऐसा ही ज्ञानका और ज्ञेयका सम्बन्ध जानना चाहिये।

इस बातके स्पष्ट करनेसे आचार्यने आत्माकी सत्ताकी भिन्नता बताकर उसकी केवलज्ञानकी शक्तिकी महिमा प्रतिपादन की है और यह बतलाया है कि जैसे आंख अग्निको देखकर जलती नहीं, समुद्रको देखकर डूबती नहीं, दुःखीको देखकर दुःखी व सुखीको देखकर सुखी होती नहीं ऐसी ही केवलज्ञानकी महिमा है—सर्व शुभ अशुभ पदार्थ और उनकी अनेक दुःखित व सुखित अवस्थाको जानते हुए भी केवलज्ञानमें कोई विकार रागद्वेष मोहका नहीं होता है। वह सदा ही निराकुल रहता है। ऐसे केवलज्ञानके प्रभुत्वको जानकर हमारा कर्तव्य है कि उस शक्तिकी प्रगटताके लिये हम शुद्धोपयोगकी भावना करें यही तात्पर्य्य है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थोंमें निश्चय नयसे प्रवेश नहीं करता हुआ भी व्यवहारसे प्रवेश किये हुए है ऐसा झलकता है ऐसी आत्माके ज्ञानकी विचित्र शक्ति है।

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम् ॥२९॥

सामान्यार्थ-ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थोंमें निश्चयसे नहीं पैठा है किन्तु व्यवहारसे पैठा नहीं है ऐसा नहीं है, किन्तु पैठा है जैसे चक्षु रूपी पदार्थोंमें निश्चयसे पैठी नहीं है किन्तु उनको देखती है इससे व्यवहारसे पैठी ही हुई है। ऐसा ज्ञानी जीव इन्द्रियोंसे रहित होता हुआ अपने अतीन्द्रिय ज्ञानसे ज्योंका त्यों यथार्थरूपसे सम्पूर्ण जगतको जानता देखता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अक्खातीदः) इंद्रियोंसे रहित अतीन्द्रिय (णाणी) ज्ञानी आत्मा (चक्खु) आंख (रूवम् इव) जैसे रूपके भीतर वैसे (णेयेसु) ज्ञेय पदार्थोंमें (ण पविट्ठः) निश्चयसे प्रवेश न करता हुआ अथवा (ण अविट्ठः) व्यवहारसे अप्रविष्ठ न होता हुआ अर्थात् प्रवेश करता हुआ (णियदं) निश्चितरूपसे व संशय रहितपनेसे (असेसं) सम्पूर्ण (जगम्) जगतको (पस्सदि) देखता है (जाणदि) जानता है।

जैसे लोचन रूपी द्रव्योंको यद्यपि निश्चयसे स्पर्श नहीं करता है तथापि व्यवहारसे स्पर्श कर रहा है ऐसा लोकमें झलकता है। तैसे यह आत्मा मिथ्यात्त्व रागद्वेष आदि आस्रव भावोंके और आत्माके सम्बन्धमें जो केवलज्ञान होनेके पूर्व विशेष भेदज्ञान होता है उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवल दर्शनके द्वारा तीन जगत और तीनकालवर्ती पदार्थोंको निश्चयसे स्पर्श न करता हुआ भी व्यवहारसे स्पर्श करता है तथा स्पर्श करता हुआ ही ज्ञानसे जानता है और दर्शनसे देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुखके स्वादमें परिणमन करता हुआ इन्द्रियोंके विषयोंसे अतीत होगया है। इसलिये जाना जाता है कि निश्चयसे आत्मा पदार्थोंमें प्रवेश

न करता हुआ ही व्यवहारसे ज्ञेय पदार्थोंमें प्रवेश हुआ ही घटता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा और इसका केवलज्ञान अपूर्व शक्तिको रखनेवाले हैं। ज्ञान गुण ज्ञानी गुणीसे अलग कहीं नहीं रह सक्ता है। इसलिये ज्ञान गुणके द्वारा आत्मा सर्व जगतको देखता जानता है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है कि ज्ञान आपेआप तीन जगतके पदार्थोंके तीन कालवर्ती अवस्थाओंको एक ही समयमें जाननेको समर्थ है। जैसे दर्पण इस बातकी आकांक्षा नहीं करता है कि मैं पदार्थोंको झलकाऊं परन्तु दर्पणकी चमकका ऐसा ही कोई स्वभाव है जिसमें उसके विषयमें आ सकनेवाले सर्व पदार्थ आपेआप उसमें झलकते हैं—वैसे निर्मल केवलज्ञानमें सर्व ज्ञेय स्वयं ही झलकते हैं। जैसे दर्पण अपने स्थानपर रहता और पदार्थ अपने स्थानपर रहते तौ भी दर्पणमें प्रवेश हो गए या दर्पण उनमें प्रवेश होगया ऐसा झलकता है तैसे आत्मा और उसका केवलज्ञान अपने स्थानपर रहते और ज्ञेय पदार्थ अपने स्थानपर रहते कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता तौ भी ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे जब सर्व ज्ञेय ज्ञानमें झलकते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि मानों आत्माके ज्ञानमें सर्व विश्व समा गया या वह आत्मा सर्व विश्वमें व्यापक होगया। निश्चयसे ज्ञाता ज्ञेयोंमें प्रवेश नहीं करता यही असली बात है। तौभी व्यवहारसे ऐसा कहनेमें आता है कि आत्मा ज्ञेयोंमें प्रवेश कर गया। गाथामें आंखका दृष्टांत है। वहां भी ऐसा ही भाव लगा लेना चाहिये। आंख शरीरसे कहीं न जाकर सामनेके पदार्थोंको देखती है। असल बात यही है—इसी बातको व्यवहारमें हम इस तरह कहते

हैं कि मानों आंख पदार्थोंमें घुस गई व पदार्थ आंखमें घुस गये। ज्ञानकी ऐसी अपूर्व महिमा जानकर हम लोगोंका कर्तव्य है कि उस ज्ञान शक्तिको प्रफुल्लित करनेका उपाय करें। उपाय निजात्मानुभव या शुद्धोपयोग है। इसलिये हमको निरंतर भेद विज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माके अनुभवकी भावना करनी चाहिये और क्षणिक संकल्प विकल्पोंसे पराङ्मुख रहना चाहिये जिससे जगत मात्रको एक समयमें देखने जाननेको समर्थ जो केवलज्ञान और केवल दर्शन सो प्रगट हो जावें।

उत्थानिका–आगे ऊपर कही हुई बातको दृष्टान्तके द्वारा दृढ़ करते हैं–

रदणमिह इंदणीलं, दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तंपि दुद्धं, वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

रत्नमिहेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा।
अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥३०॥

सामान्यार्थ–इस लोकमें जैसे इन्द्रनीलमणि अर्थात् प्रधान नीलमणि दूधमें डुबाया हुआ अपनी प्रभासे उस दूधको भी तिरस्कार करके वर्तता है वैसे ही ज्ञान पदार्थोंमें वर्तन करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(इह) इस जगतमें (जहा) जैसे (इंदणीलं रदणम्) इन्द्रनील नामका रत्न (दुद्धज्झसियं) दूधमें डुबाया हुआ (सभासाए) अपनी चमकसे (तंपि दुद्धं) उस दूधको भी (अभिभूय) तिरस्कार करके (वट्टदि) वर्तता है (तह) वैसे (णाणम्) ज्ञान (अत्थेसु) पदार्थोंमें

वर्तता है। भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नामका प्रधानरत्न कर्त्ता होकर अपनी नीलप्रभारूपी कारणसे दूधको नीला करके वर्तन करता है तैसे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप परम सामायिक नामा संयमके द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा परको जाननेकी शक्ति रखनेके कारण सर्व अज्ञानके अंधेरेको तिरस्कार करके एक समयमें ही सर्व पदार्थोंमें ज्ञानाकारसे वर्तता है-यहां यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थोंके कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञानमें झलकते हैं उनको उपचारसे पदार्थ कहते हैं। उन पदार्थोंमें ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहारसे दोष नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने ज्ञानकी महिमाको और भी दृढ़ किया है। और इन्द्रनीलमणिका दृष्टांत देकर यह बताया है कि जैसे प्रधान नीलरत्नको यदि सफेद दूधमें डाल दिया जाय तो वह नीलरत्न अपने आकार रूप दूधके भीतर पड़ा हुआ तथा दूधके आकार निश्चयसे न होता हुआ भी अपनी प्रभासे सर्व दूधमें व्याप्त होजाता है अर्थात् दूधका सफेद रंग छिप जाता है और उस दूधका नीला रंग होजाता है तब व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि नीलरत्नने सारे दूधको घेर लिया अथवा दूध नीलरत्नमें समा गया तैसे ही आत्माका पूर्ण केवलज्ञान निश्चयसे आत्माके आकार रहता हुआ आत्माको छोड़कर कहीं न जाता हुआ तथा न अन्य ज्ञेय पदार्थों-को अपनेमें निश्चयसे प्रवेश कराता हुआ अपनी अपूर्व ज्ञानकी सामर्थ्यसे सर्व ज्ञेय पदार्थोंको एक समयमें एक साथ जान लेता है।

ज्ञानका ऐसा महात्म्य है कि आपको भी जानता है और परको भी जानता है। आप पर दोनों ज्ञेय हैं तथा ज्ञायक आप है। तब व्यवहारसे ऐसा कहे कि आत्माका ज्ञान सर्व जगतमें प्रवेश कर गया व सर्व जगतके पदार्थ ज्ञानमें प्रवेश कर गए तो कुछ दोष नहीं है।

ज्ञानमें सर्व ज्ञेय पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है जो ज्ञानाकार पदार्थोंका ज्ञानमें होता है उनके निमित्त कारण बाहरी पदार्थ हैं। इसलिये उपचारसे उन ज्ञानाकारोंको पदार्थ कहते हैं। ज्ञान अपने ज्ञानाकारोंको जानता है इसीको कहते हैं कि ज्ञान पदार्थोंको जानता है। ज्ञानमें ज्ञानाकारोंका भेद करके कहना ही व्यवहार है। निश्चयसे ज्ञान आप अपने स्वभावमें ज्ञायकरूपसे विराजमान है-ज्ञेय ज्ञायकका व्यवहार करना भी व्यवहारनयसे है। यहां यह तात्पर्य्य है कि ऐसा केवलज्ञान इस संसारी आत्माको निश्चय रत्नत्रयमई परम सामायिक संयमरूप स्वात्मानुभवमई शुद्धोप-योगके द्वारा प्राप्त होता है इसलिये हरतरहका पुरुषार्थ करके इस साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका अभ्यास करना योग्य है। यही परम सामायिकरूप शांतभाव है इस ही भावके द्वारा यह आत्मा यहां भी आनंद भोगता है और शुद्धि पाता हुआ सर्वज्ञ हो अनन्त सुखी हो जाता है।

उत्थानिका-आगे पूर्व सूत्रसे यह बात कही गई कि व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें वर्तन करता है अब यह उपदेश करते हैं कि पदार्थ ज्ञानमें वर्तते हैं।

जदि ते ण सन्ति अत्था, णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं, कहं ण णाणट्ठिया अत्था ॥३१॥

यदि ते न सन्त्यार्था ज्ञाने, ज्ञानं न भवति सर्वगतम्।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्थाः ॥३१॥

सामान्यार्थ-यदि वे पदार्थ केवलज्ञानमें न होवें तो ज्ञान सर्वगत न होवे और जब ज्ञान सर्वगत है तो किस तरह पदार्थ ज्ञानमें स्थित न होंगे ? अवश्य होंगे।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) यदि (ते अट्ठा) वे पदार्थ (णाण) केवलज्ञानमें (ण संति) नहीं हों अर्थात् जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब झलकता है इस तरह पदार्थ अपने ज्ञानाकारको समर्पण करनेके द्वारा ज्ञानमें न झलकते हों तो (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत (ण होइ) नहीं होवे। (वा) अथवा यदि व्यवहारसे (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत आपकी सम्मतिमें है तो व्यवहार नयसे (अट्ठा) पदार्थ अर्थात् अपने ज्ञेयाकारको ज्ञानमें समर्पण करनेवाले पदार्थ (कहं ण) किस तरह नहीं (णाणट्ठिया) केवलज्ञानमें स्थित हैं-किन्तु ज्ञानमें अवश्य तिष्ठते हैं ऐसा मानना होगा। यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहार नयसे ही जब ज्ञेयोंके ज्ञानाकारको ग्रहण करनेके द्वारा सर्वगत कहा जाता है इसीलिये ही तब ज्ञेयोंके ज्ञानाकार समर्पण द्वारसे पदार्थ भी व्यवहारसे ज्ञानमें प्राप्त हैं ऐसा कह सके हैं। पदार्थोंके आकारको जब ज्ञान ग्रहण करता है तब पदार्थ अपना आकार ज्ञानको देते हैं यह कहना होगा।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने ज्ञानके सर्वव्यापकपनेको और भी साफ किया है और केवलज्ञानकी महिमा दर्शाई है। ज्ञान यद्यपि आत्माका गुण है और उन ही प्रदेशोंमें निश्चयसे ठहरता है जिनमें आत्मा व्यापक है व जो आत्माके निज प्रदेश हैं तथापि ज्ञानमें ऐसी स्वच्छता है कि यमं जैसे दर्पणकी स्वच्छतामें दर्पणके विषयभूत पदार्थ दर्पणमें साफ साफ झलकते हैं इसीसे दर्पणको आदर्श व पदार्थोंका झलकानेवाला कहते हैं वैसे सम्पूर्ण जगतके पदार्थ अपने तीन कालवर्ती पर्यायोंके साथमें ज्ञानमें एक साथ प्रतिबिम्बत होते हैं इसीसे ज्ञानको सर्वगत या सर्वव्यापी कहते हैं। जिसतरह ज्ञानको सर्वगत कहते हैं उसी तरह यह भी कहसक्ते हैं कि सर्वपदार्थ भी ज्ञानमें झलकते हैं अर्थात सर्वपदार्थ ज्ञानमें समागए। निश्चय नयसे न ज्ञान आत्माके प्रदेशोंको छोड़कर ज्ञेय पदार्थोंके पास जाता है और न ज्ञेय पदार्थ अपने २ प्रदेशोंको छोड़कर ज्ञानमें आते हैं कोई किसीमें जाता आता नहीं तथापि व्यवहार नयसे जब ज्ञानज्ञेयका ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है तब यह कहना कुछ दोषयुक्त नहीं है कि जब सर्व ज्ञेयोंके आकार ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं तब जैसे ज्ञानज्ञेयोंमें फैलनेके कारण सर्वगत या सर्वव्यापक हैं वैसे पदार्थ भी ज्ञानमें प्राप्त, गत या व्याप्त हैं। दोनोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान और ज्ञेय दोनोंकी सत्ता होनेपर यह स्वतः सिद्ध है कि ज्ञान उनके आकारोंको ग्रहण करता है और ज्ञेय अपने आकारोंको ज्ञानको देते हैं। तथा पदार्थ ज्ञानमें तिष्ठते हैं ऐसा कहना किसी भी तरह अनुचित नहीं है। यहां यह भी दिखलानेका मतलब है कि

जगतमें एक ही द्रव्य नहीं है किन्तु जगत अनंत द्रव्योंका समुदाय है जिनमें अनन्त ही आत्मा हैं और अनन्त ही अनात्मा हैं। ज्ञानकी शक्ति आत्मामें ही है ज्ञानका स्वभाव दीपकके समान स्वपर प्रकाशक है। ज्ञान अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है। यदि स्वपरको न जाने तो ज्ञानका ज्ञानपना ही नहीं रहे। इसलिये निर्मल ज्ञान अपने आधारभूत आत्माके तथा अपने ही साथ रहनेवाले अन्य अनन्त गुणोंको व उनकी अनन्त पर्यायोंको तथा अन्य आत्माओंको और उनके गुण पर्यायोंको तथा अनंतगुण पर्याय सहित अनंत अनात्माओंको एक साथ जानता है अर्थात उनके सर्व आकार या विशेष ज्ञानमें पृथक् २ झलकते हैं तब ऐसा कहना कुछ भी अनुचित नहीं है कि ज्ञान ज्ञेयोंमें फैल गया, चला गया या व्याप गया तथा ज्ञेय ज्ञानमें फैल गये, चले गये या व्याप गये। जुदी २ सत्ताको रखते हुए व परस्पर ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे केवलज्ञानमें सर्व पर्याय तिष्ठते हैं ऐसा कहनेका व्यवहार है। तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञानकी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि आप अन्य पदार्थ रूप न होता हुआ भी सर्वको जैसाका तैसा जानता है उनके शुभ अशुभ हीन उच्च परिणमनमें रागद्वेष नहीं करता है। दर्पणके समान वीतरागी रहता है तथा कोई बात ज्ञानसे बाहर भी नहीं रह जाती है इसीसे जैसे रागद्वेष जनित आकुलता नहीं है वैसे अज्ञान जनित आकुलता नहीं है। इसी कारणसे केवलज्ञान उपादेय है-ग्रहण करने अथवा प्रगट करने योग्य है अतएव सर्व प्रपंच छोड़ शांत चित्त हो केवलज्ञानके कारणभूत स्वसंवेदनमयी शुद्धोपयोगकी भावना

निरंतर करनी योग्य है। यही भावना मुमुक्षु आत्मार्थी जीवके यहां भी आनन्द प्रदान करती है और भविष्यमें भी अनंत सुखकी प्रकटताकी कारण है।

उत्थानिका-आगे यह समझाते हैं कि यद्यपि व्यवहारसे ज्ञानीका ज्ञेय पदार्थोंके साथ ग्राह्य ग्राहक अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है तथापि निश्चयसे स्पर्श आदिका सम्बन्ध नहीं है इस लिये ज्ञानीका ज्ञेय पदार्थोंके साथ भिन्नपना ही है।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ ३२ ॥

गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान्।
पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषं ॥ ३२ ॥

सामान्यार्थ-केवली भगवान पर द्रव्यको न तो ग्रहण करते हैं, और न छोड़ते हैं और न पर द्रव्यरूप आप परिणमन करते हैं किन्तु वह विना किसी ज्ञेयको शेष रक्खे सर्व ज्ञेयोंको सर्व तरहसे देखने जानते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(केवली भगवं) केवली भगवान सर्वज्ञ (परं) पर द्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थको (णेव गिण्हदि) न तो ग्रहण करते हैं; (ण मुंचदि) न छोड़ते हैं (ण परिणमदि) न उसरूप परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि उनकी परद्रव्यसे भिन्नता ही है। तब क्या वे परद्रव्यको

नहीं जानते हैं ? उसके लिये कहते हैं कि यद्यपि भिन्न हैं तथापि व्यवहार नयसे (सो) वह भगवान (णिरवसेसं सव्वं) विना अव-शेषके सर्वको (समंतदः) सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंके साथ (पेच्छदि) देखते हैं तथा (जाणदि) जानते हैं। अथवा इसीका दूसरा व्याख्यान यह है कि केवली भगवान भीतर तो काम क्रोधादि भावोंको और बाहरमें पांचों इंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं न अपने आत्माके अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयको छोड़ते हैं। यही कारण है जो केवलज्ञानी आत्मा केवल-ज्ञानकी उत्पत्तिके कालमें ही एक साथ सर्वको देखते जानते हुए अन्य विकल्परूप नहीं परिणमन करते हैं। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते हैं ? अपने स्वभावरूप केवलज्ञानकी ज्योतिसे निर्मल स्फटिक मणिके समान निश्चल चैतन्य प्रकाशरूप होकर अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें जानते हैं- *अनुभव करते हैं। इसी कारणसे ही परद्रव्योंके साथ एकता नहीं* है भिन्नता ही है ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आत्माकी तथा उसके ज्ञानकी महिमाको और भी साफ कर दिया है तथा यह समझा दिया है कि कहीं कोई आत्माके ज्ञानको सर्व व्यापक और ज्ञेयोंका ज्ञानमें प्रवेश सुन कर यह न समझ बैठे कि ज्ञान आत्मासे बाहर अनात्मामें चला गया या ज्ञेय पदार्थ अपने क्षेत्रको त्याग आत्मामें प्रवेश कर गये। केवली भगवान परम वीतरागी निज स्वभावमें रमणकर्ता स्वोन्मुखी तथा निजानन्दरस भोगी हैं। वे भगवान अपने आत्मीक स्वभावमें तिष्ठते हुए अपने अनन्त ज्ञान दर्शन

सुख वीर्य आदि शुद्ध गुणोंके भीतर विलास करते हुए अपने गुणोंको कभी त्यागते नहीं-कभी भी गुणहीन होते नहीं और न काम क्रोधादि विकारी भावोंको ग्रहण करते हैं, न पर वस्तुको पकड़ते हैं, न अपने स्वाभाविक परिणमनको छोड़कर किसी पर द्रव्यकी अवस्थारूप परिणमन करते हैं वे प्रभु तो अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें अपने आत्मा हीको अनुभव करते हैं। उसीके ज्ञानामृतका स्वाद लेते हैं क्योंकि कहा भी है:-

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥४३॥
(समयसारकलश अमृत०)

भावार्थ-जब आत्मा अपनी पूर्ण शक्तिको समेटकर अपने आपमें लवलीन होजाता है तब मानो आत्माने जो कुछ त्यागने योग्य था उसको त्याग दिया और जो कुछ ग्रहण करने योग्य था उसको ग्रहण कर लिया। वास्तवमें केवलज्ञानी आत्मा अपने स्वरूपमें उसी तरह निश्चल हैं जैसे निर्मल स्फटिक मणि अपने स्वभावमें निश्चल है। केवलज्ञानी भगवानके कोई इच्छा या विकल्प नहीं पैदा होता है कि हम किसी वस्तुको ग्रहण करें या छोड़ें या किसी रूप परिणमन करें या हम किसी वस्तुको देखें, जानें। जैसे दीपककी शिखा पवन संचार रहित दशामें निश्चलरूपसे बिना किसी विकारके प्रकाशमान रहती है यह नहीं विकल्प करती है कि मैं किसीको प्रकाश करूं, न अपने क्षेत्रको छोड़कर कहीं जाती है तथापि अपने स्वभावसे ही घट पट आदि पदार्थोंको व शुभ अशुभ रूपोंको जैसे वे हैं तैसे बिना अपनेमें कोई विकार

पैदा किये प्रकाश करती है, तैसे केवलदर्शन और केवलज्ञान ज्योति परम निश्चलतासे आत्मामें झलकती रहती हैं। उनमें कोई रागद्वेष मोह सम्बन्धी विकार या कोई चाहना या कोई संकल्प विकल्प नहीं उत्पन्न होता है क्योंकि विकारके कारण मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय होगया है वह ज्ञानदर्शन ज्योति अपने आत्माके प्रदेशोंको छोड़कर कहीं जाती नहीं न परद्रव्यको पकड़ती है न उन रूप आप होती है। इस तरह परद्रव्योंसे अपनी सत्ताको भिन्न रखती है। वास्तवमें हरएक द्रव्य अपने गुणोंके साथ एक रूप है परन्तु अन्य द्रव्य तथा उसके गुणोंके साथ एक रूप नहीं है, भिन्न है। एकका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव एक उसीमें है परका द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव उसका उस हीमें है। यदि एकका चतुष्टय दूसरेमें चला जाय तो भिन्न २ द्रव्यकी सत्ताका ही लोप होजाय, सो इस जगतमें कभी होता नहीं। हरएक द्रव्य अनादि अनंत है और अपनी सत्ताको कभी त्यागता नहीं, न परसत्ताको ग्रहण करता है, न परसत्ता रूप आप परिणमन करता है। यही वस्तुका स्वभाव वस्तुमें एक ही काल अस्तित्व और नास्तित्व स्वभावको सिद्ध करता है, वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र, काल भावसे अस्ति स्वभाव है तथा परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तिस्वरूप है अर्थात् वस्तुमें अपना वस्तुपना तो है परन्तु परका वस्तुपना नहीं है। इस तरह आत्मा पदार्थ और उसके ज्ञानादि गुण अपने ही प्रदेशोंमें सदा निश्चल रहते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी भगवान आप स्वभाव ही-का भोग करते हैं, आप सुखगुणका स्वाद लेते हैं, उनको पर द्रव्योंके देखने जाननेकी कोई अभिलाषा नहीं होती है तथापि

उनके दर्शन ज्ञानकी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ अपनी अनंत पर्यायोंके साथ उस ज्ञानदर्शनमें प्रतिबिंबित होते हैं। इसीसे व्यवहारमें ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञानी सर्वको पूर्ण-पने देखते जानते हैं।

श्री समयसारजीमें भी आचार्यने ऐसा ही स्वरूप बताया है:—

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जई ण प दव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो विहु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥

अर्थात् ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार पुद्गल कर्मको जानता हुआ भी पुद्गल कर्मरूप न परिणमता है न उसे ग्रहण करता है और न उस पुद्गलकर्मकी अवस्थारूप आप उपजता है।

ज्ञानी आत्मा सर्व ज्ञेयोंको जानते हैं तथापि अपने आत्मीक स्वभावमें रहते हैं ऐसी आत्माकी अपूर्व शक्ति जानकर हमको उचित है कि शुद्ध केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करें। यही भावना परम हितकारिणी तथा सुख प्रदान करनेवाली है। इसतरह ज्ञान ज्ञेयरूपसे नहीं परिणमन करता है, इत्यादि व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे सब आवरण रहित सर्वको प्रगट करनेवाले लक्षणको धारनेवाले केवलज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है तैसे आवरण सहित एक देश प्रगट करनेवाले लक्षणको धरनेवाले तथा केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज रूप स्वसंवेदन ज्ञानमई भाव श्रुतज्ञानसे भी आत्माका ज्ञान होता है अर्थात् जैसे केवलज्ञानसे आत्माका जानपना होता है वैसा श्रुतज्ञानसे

भी आत्माका ज्ञान होता है आत्मज्ञानके लिये दोनों ज्ञान बराबर हैं। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि जैसे केवलज्ञान प्रमाण रूप है वैसे ही केवलज्ञान द्वारा दिखलाए हुए पदार्थोंको प्रकाश करनेवाला श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है। इस तरह दो पातनिकाओंको मनमें रख आगेका सूत्र कहते हैं—

जो हि सुदेण विजाणदि, अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा ॥३३

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥३३॥

सामान्यार्थ–जो कोई निश्चयसे श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ज्ञायक आत्माको अच्छी तरह जानता है उसको लोकके प्रकाश करनेवाले ऋषिगण श्रुतकेवली कहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जो) जो कोई पुरुष (हि) निश्चयसे (सुदेण) निर्विकार स्वसंवेदनरूप भाव श्रुत परिणामके द्वारा (सहावेण) समस्त विभावोंसे रहित स्वभावसे ही (जाणगं) ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप (अप्पाणं) निज आत्माको (विजाणदि) विशेष करके जानता है अर्थात् विषयोंके सुखसे विलक्षण अपने शुद्धात्माकी भावनासे पैदा होनेवाले परमानन्दमई एक लक्षणको रखनेवाले सुख रसके आस्वादसे अनुभव करता है। (लोगप्पदीवयरा) लोकके प्रकाश करनेवाले (इसिणो) ऋषि (तं) उस महायोगीन्द्रको (सुयकेवलिं) श्रुतकेवली (भणंति) कहते हैं। इसका विस्तार यह है कि एक समयमें परिणमन करनेवाले सर्व चैतन्यशाली केवलज्ञानके द्वारा आदि अंत रहित

अन्य किसी कारणके विना दूसरे द्रव्योंमें न पाइये ऐसे असाधारण अपनेआपसे अपनेमें अनुभव आने योग्य परम चैतन्यरूप सामान्य लक्षणको रखनेवाले तथा परद्रव्यसे रहितपनेके द्वारा केवल ऐसे आत्माका आत्मामें स्वानुभव करनेसे जैसे भगवानकेवली होते हैं वैसे यह गणधर आदि निश्चय रत्नत्रयके आराधक पुरुष भी पूर्वमें कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी आत्माका भाव श्रुतज्ञानके द्वारा अनुभव करनेसे श्रुतकेवली होते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई भी देवदत्त नामका पुरुष सूर्यके उदय होनेसे दिवसमें देखता है और रात्रिको दीपकके द्वारा कुछ भी देखता है वैसे सूर्यके उदयके समान केवलज्ञानके द्वारा दिवसके समान मोक्ष अवस्थाके होते हुए भगवान केवली आत्माको देखते हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रिके समान संसार अवस्थामें प्रदीपके समान रागादि विकल्पोंसे रहित परम समाधिके द्वारा अपने आत्माको देखते हैं। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है। उसका ध्यान कैसे किया जाय ऐसा सन्देह करके परमात्माकी भावनाको छोड़ न देना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि यद्यपि केवलज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है और सर्व स्वपर ज्ञेयोंको एक काल जाननेवाला है इसलिये आत्माको प्रत्यक्षपने जाननेवाला है तथापि उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण जो शुद्धोपयोग या साम्यभाव है उस उपयोगमें जो निज आत्मानुभव भाव-श्रुतज्ञानमई होता है वह भी निज आत्माको जाननेवाला है। आत्माका ज्ञान जैसा केवलज्ञानको है वैसा स्वसंवेदनमई श्रुतज्ञानको है। अंतर केवल इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, निराव-

रणरूप है और क्षायिक है जब कि श्रुतज्ञान परोक्ष है, मनकी सहायतासे प्रवर्तता है, एक देश निरावरण अर्थात् क्षयोपशम रूप है। केवलज्ञान सूर्यके समान है, श्रुतज्ञान दीपकके समान है। सूर्य स्वाधीनतासे प्रकाशमान है। दीपक तैलकी सहायतासे प्रकाश होता है। यद्यपि एक स्वाधीन दूसरा पराधीन है तथापि जैसे सूर्य घट पट आदि पदार्थोंको घट पट आदि रूप दर्शाता है वैसे दीपक घटपट आदि पदार्थोंको घटपट आदि रूप दर्शाता है अंतर इतना ही है कि सूर्यके प्रकाशमें पदार्थ पूर्ण स्पष्ट तथा दीपकके प्रकाशमें अपूर्ण अस्पष्ट दीखता है। श्रुतज्ञान द्वादशांग रूप जिनवाणीसे आत्मा और अनात्माके भेद प्रभेदोंको इतनी अच्छी तरह जान लेता है कि आत्मा बिलकुल अनात्मासे भिन्न झलकता है। द्रव्य श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका स्वरूप लक्ष्यमें लेकर वार वार विचार किया जाता है और यह भावना की जाती है कि जैसा आत्माका स्वभाव है वैसा ही मेरा स्वभाव है। ऐसी भावनाके दृढ़ संस्कारके बलसे ज्ञानोपयोग स्वयं इस आत्म स्वभावके श्रद्धा भावमें स्थिति प्राप्त करता है। जब स्थिति होती है तब स्वानुभव जागृत होता है। उस समय जो आत्माका दर्शन व उसके सुखका वेदन होता है वह अपनी जातिमें केवलज्ञानीके स्वानुभवके समान है। इसलिये श्रुतज्ञानीके स्वानुभवको भाव श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञानीके स्वानुभवको भाव केवलज्ञान कहते हैं। यह भाव केवलज्ञान जब सर्वथा निरावरण और प्रत्यक्ष है तब यह भाव श्रुतज्ञान क्षयोपशम रूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। भावनाके दृढ़ अभ्यासके बलसे आत्माकी ज्ञानज्योति स्फुरायमान होजाती है।

श्री समाधिशतकमें श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है:-

सोहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

भावार्थ-वह शुद्ध आत्मा मैं हूं ऐसा संस्कार होनेसे तथा उसीकी भावनासे व उसीमें दृढ़ संस्कार होनेसे आत्मा अपने आत्मामें ठहर जाता है।

श्री समयसार कलशमें श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं:-

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा
पर परिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥३-६॥

भावार्थ-यह है कि जिस तरहसे हो उस तरह लगातार आत्माके ज्ञानकी भावनासे शुद्ध आत्माको निश्चयसे प्राप्त करता हुआ तिष्ठता है तब यह आत्मा अपने आत्माके उपवनमें रमते हुए प्रकाशमान आत्माको परमें परिणतिके रुक जानेसे शुद्ध रूपसे ही प्राप्त करलेता है।

भाव श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। दोनोंमें आत्माका समान ज्ञान होता है। जैसे केवली विकल्परहित स्वभावसे ज्ञाता दृष्टा आत्माको देखते जानते हैं वैसे श्रुतज्ञानी विकल्प रहित स्वभावसे ज्ञाता दृष्टा आत्माको जानते हैं। यद्यपि श्रुतकेवली गणधर आदि ऋषि द्वादशांगके पारगामी होते हैं तथा वे ही स्वसंवेदन ज्ञानी श्रुतकेवली कहलाते हैं और ऐसा ही अभिप्राय टीकाकारने भी व्यक्त किया है तथापि स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा आत्माका

अनुभव करनेकी अपेक्षा द्वादशांगके पूर्ण ज्ञान विना अल्पज्ञानी, चतुर्थ, पंचम, व छठा गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी, या श्रावक या मुनि भी श्रुतकेवली उपचारसे कहे जासक्ते हैं क्योंकि वे भी उस ही तरह आत्माको अनुभव करते हैं जिस तरह द्वादशांगके ज्ञाता श्रुतकेवली।

यहां आचार्यने भावश्रुतज्ञानको जो स्वानुभव करनेवाला है महिमायुक्त दर्शाया है क्योंकि इस हीके प्रतापसे आत्माका स्वाद आता है तथा आत्माका ध्यान होता है जिसके द्वारा कर्म बंधन कटते हैं और आत्मा अपने स्वाभाविक केवलज्ञानको प्राप्त करलेता है। तात्पर्य्य यह है कि हमको प्रमाद छोड़कर शास्त्रज्ञानके द्वारा निज आत्माको पहचानकर व उसमें श्रद्धान दृढ़ जमाकर आत्माका मनन सतत् करना चाहिये जिससे साम्यभाव प्रगटे और वीतराग विज्ञानताकी शक्ति आत्माकी शक्तिको व्यक्त करती चली जावे ॥३३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शब्दरूप द्रव्यश्रुत व्यवहार नयसे ज्ञान है निश्चय करके अर्थ जाननरूप भावश्रुत ही ज्ञान है। अथवा आत्माकी भावनामें लवलीन पुरुष निश्चय श्रुत केवली हैं ऐसा पूर्व सूत्रमें कहा है, अब व्यवहार श्रुतकेवलीको कहते हैं अथवा ज्ञानके साथ जो श्रुतकी उपाधि है उसे दूर करते हैं—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं, पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तज्जाणणा हि णाणं, सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः ।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥ ३४ ॥

सामान्यार्थ-द्रव्यश्रुतरूप पुद्गलद्रव्यमई वचनोंसे जिनेंद्र भगवानके द्वारा उपदेश किया गया है। उस द्रव्यश्रुतका जो ज्ञान है वही निश्चयकर भावश्रुतज्ञान है। और द्रव्यश्रुतको श्रुतज्ञान व्यवहारसे कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सुत्तं) द्रव्यश्रुत (पोग्गल दव्वप्पगेहिं वयणेहिं) पुद्गल द्रव्यमई दिव्यध्वनिके वचनोंसे (जिणोवदिट्ठं) जिन भगवानके द्वारा उपदेश किया गया है। (हि) निश्चय करके (तज्जाणणा) उस द्रव्यश्रुतके आधारसे जो जानपना है (णाणं) सो अर्थज्ञानरूप भावश्रुत ज्ञान है। (य) और (सुत्तस्स) उस द्रव्यश्रुतको भी (जाणणा) जानपना या ज्ञान संज्ञा (भणिया) व्यवहार नयसे कही गई है। भाव यह है कि जैसे निश्चयसे यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप है पीछे व्यवहार नयसे जीव नर नारक आदि रूप भी कहा जाता है। तैसे निश्चयसे ज्ञान सर्व वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला अखंड एक प्रतिभास रूप कहा जाता है सो ही ज्ञान फिर व्यवहार नयसे मेघोंके पटलोंसे आच्छादित सूर्यकी अवस्थाविशेषकी तरह कर्म पटलसे आच्छादित अखंड एक ज्ञानरूप होकर मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि नामवाला हो जाता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि वास्तवमें ज्ञान ही सार गुण है जो कि इस आत्माका स्वभाव है तथा वह एक अखंड सर्व ज्ञेयोंको प्रकाश करनेवाला है। निश्च-

यसे उस ज्ञानमें भेद नहीं है। जैसे सूर्यका प्रकाश एकरूप है वैसे आत्माके ज्ञानका प्रकाश एकरूप है। परन्तु जैसे सूर्यके प्रकाशके रोकनेवाले बादल कम व अधिक होनेसे प्रकाश अनेक रूप कम व अधिक प्रगट होता है वैसे ज्ञानावरणीय कर्मका आवरण ज्ञानको रोकता है। वह कर्म जितना क्षयोपशमरूप होता है उतना ही ज्ञान प्रगट होता है। कर्मके क्षयोपशम नानारूप हैं इसीसे वह प्रगट ज्ञान भी नानारूप है। स्थूलपने उस ज्ञानकी कम व अधिक प्रगटताके कारण ज्ञानके पांच भेद कहे गए हैं–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष हैं–इन्द्रिय और मनके व बाह्य पदार्थोंके आलम्बनसे प्रगट होते हैं। शास्त्रज्ञान रूप जो भावश्रुतज्ञान है वह भी द्रव्य श्रुतरूप द्वादशांग वाणीके आधारसे प्रगट होता है। द्वादशांग वाणी पुद्गलमई वचनरूप है तथा उसका आधार केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनि है वह भी पुद्गलमई अनक्षरात्मक वाणी है। इस कारणसे निश्चयसे वह द्रव्यश्रुत श्रुतज्ञान नहीं है किन्तु द्रव्यश्रुतके द्वारा जो जानने व अनुभवनेमें आता है ऐसा भावश्रुत सो ही श्रुतज्ञान है और वह आत्माका ही स्वभाव है–अथवा आत्माके स्वभावका ही एक देश झलकाव है। इस कारण उसको एक ज्ञान ही कहना योग्य है। इस ज्ञानके श्रुतज्ञानकी उपाधि निमित्तवश है। वास्तवमें ज्ञानके श्रुतज्ञान आदिकी उपाधि नहीं है। यही कारण है जिससे द्रव्यश्रुतको उपचारसे या व्यवहारसे श्रुतज्ञान कहा है। तथा जो द्रव्यश्रुतरूप द्वादशांग वाणीको जानता है उसको व्यव-हारसे श्रुतकेवली और जो भावश्रुतरूप आत्माको जानता तथा

अनुभवता है उसको निश्चयसे श्रुतकेवली कहा है। आचार्य महाराजने **समयसार**जीमें भी यही बात कही है—

जो हि सुदेण भिगच्छादि अप्पाणमिणंतु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोकप्पदीवयरा॥
जो सुदणाणं सव्वं जाणादि सुदकेवली तमाहु जिणा।
सुदणाणमाद सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा॥

भाव यह है कि जो श्रुतज्ञानके द्वारा अपने इस आत्माको असहाय और शुद्ध अनुभव करता है उसको जिनेन्द्रोंने श्रुतकेवली कहा है यह निश्चय नयसे है तथा जो सर्व श्रुतज्ञानको जानता है उसको जिनेद्रोंने व्यवहार नयसे श्रुतकेवली कहा है। क्योंकि सर्व श्रुतज्ञान आत्मा ही है इस लिये आत्मा ही आत्माका ज्ञाता ही श्रुतकेवली है।

आत्मा निश्चयसे शुद्धबुद्ध एक स्वभाव है उसीको कर्मकी उपाधिकी अपेक्षासे व्यवहार नयसे नर, नारक, देव, तिर्यंच कहते हैं वैसे ही ज्ञान एक है उसको व्यवहारसे आवरणकी उपाधिके वशसे अनेक ज्ञान कहते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि आत्माका जानपना ही भावश्रुत है और वह केवलज्ञानके समान आत्माको जाननेवाला है इसलिये सर्व विकल्प छोड़कर निश्चित हो एक निज आत्माको जानकर उसीका ही अनुभव करना योग्य है। इसीसे ही साम्यभाव रूप शुद्धोपयोग प्रगट होगा जो साक्षात् केवलज्ञानका कारण है॥ ३४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा अपनेसे भिन्न

किसी ज्ञानके द्वारा ज्ञानी नहीं होता है अर्थात् ज्ञान और आत्माका सर्वथा भेद नहीं है किसी अपेक्षा भेद है। वास्तवमें ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं।

जो जाणदि सो णाणं, ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

यो जानाति स ज्ञानं न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा।
ज्ञानं परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिताः सर्वे ॥ ३६ ॥

सामान्यार्थ-जो जानता है सो ज्ञान है। आत्मा भिन्न ज्ञानके द्वारा ज्ञायक नहीं है। आत्माका ज्ञान आप ही परिणमन करता है और सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमें स्थित हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो जाणदि) जो कोई जानता है (सो णाणं) सो ज्ञान गुण है अथवा ज्ञानी आत्मा है। जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिके कारण अग्नि और उसके उष्ण गुणका भेद होनेपर भी अभेद नयसे जलानेकी क्रियाको करनेको समर्थ उष्ण गुणके द्वारा परिणमतीहुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है। वैसे संज्ञा लक्षणादिके द्वारा ज्ञान और आत्माका भेद होनेपर भी पदार्थ और क्रियाको जाननेको समर्थ ज्ञान गुणके द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहागया है। "**जानातीति ज्ञानमात्मा**" कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है। (आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञानके कारणसे (जाणगो) जाननेवाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है। किसीका ऐसा मत है कि जैसे भिन्न

दतीलेसे देवदत्त घासका काटनेवाला होता है वैसे भिन्न ज्ञानसे आत्मा ज्ञाता होवे कोई दोष नहीं है। उसके लिये कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सक्ता है। घास छेदनेकी क्रियाके सम्बन्धमें दतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सक्ता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्तकी छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देवदत्तसे अभिन्न ही है भिन्न नहीं है। वैसे ही ज्ञानकी क्रियामें उपाध्याय, प्रकाश पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं तो हों इसमें कोई दोप नहीं है परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मासे अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञानसे आत्मा ज्ञानी होजाता है तब दूसरेके ज्ञानसे अर्थात् भिन्न ज्ञानसे सर्व ही कुंभ, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी होजांयगे सो ऐसा होता नहीं। (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञानसे आत्मा ज्ञानी नहीं होता है तब जैसे घटकी उत्पत्तिमें मिट्टीका पिंड स्वयं उपादान कारणसे परिणमन करता है वैसे पदार्थोंके जाननेमें ज्ञान स्वयं उपादान कारणसे परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहारनयसे सर्व ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्ठिया) ज्ञानमें स्थित हैं अर्थात् जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ज्ञानाकारसे ज्ञानमें झलकते हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-यहां आचार्यने ज्ञान और आत्माकी एकताको दिखाया है तथा बताया है कि गुण और गुणी प्रदेशोंकी अपेक्षासे एक हैं। आत्मा गुणी है ज्ञान उसका गुण है इसलिये दोनोंका क्षेत्र एक है। गुण और गुणीमें संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है परंतु प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद है। जैसे अग्नि

द्रव्य है उष्णता उसका गुण है। इन दोनोंमें कथंचित् भेद व कथंचित अभेद है। अग्निकी संज्ञा जुदी है उष्णताकी जुदी है यह संज्ञा व नामभेद है। अग्निकी संख्या अनेक प्रकार होसक्ती है जैसे तिनकेकी अग्नि, लकडीकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि परंतु उष्णताकी संख्या एक है, अग्निका लक्षण दाहक पाचक प्रकाशक कहसक्ते हैं जब कि उष्णताका लक्षण मात्र दाह उत्पन्न करना है, अग्निका प्रयोजन अनेक प्रकारका होसक्ता है जब कि उष्णताका प्रयोजन गर्मी पहुंचाना व शीत निवारण मात्र है इस तरह भेद है तो भी अग्नि और उष्णताका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। जहां अग्नि है वहां उष्णता जरूर है इसी तरह आत्मा और ज्ञानका कथंचित भेद व कथंचित अभेदरूप सम्बन्ध है। आत्मा और ज्ञानकी संज्ञा भिन्न २ है। आत्मा की संख्या अनेक है ज्ञान गुण एक है। आत्माका लक्षण उपयोगवान है। ज्ञान वह है जो मात्र जाने, आत्माका प्रयोजन स्वाधीन होकर निजानन्द भोग करना है जब कि ज्ञानका प्रयोजन अहित त्याग व हितका ग्रहण है इस तरह ज्ञान और आत्मामें भेद है तथापि प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है।

यह आत्मा ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव की अपेक्षासे है। ऐसा नहीं कि ज्ञान कोई भिन्न वस्तु है उसके संयोगसे आत्माको ज्ञानी कहते हैं। जैसे लकड़ीके संयोगसे लकड़ीवाला, व दतीलेके संयोगसे घास काटनेवाला ऐसा संयोग सम्बन्ध जो आत्मा और ज्ञानका मानते हैं उसके मतमें ज्ञानके संयोग विना आत्मा जड़ पुद्गलवत् होजायगा तब जैसे ज्ञानके संयोगसे जड़ पुद्गलवत् कोई

आत्मा पदार्थ ज्ञानी होजायगा वैसे घट पट आदि प्रत्यक्ष पुद्गल भी ज्ञानके संयोगसे ज्ञानी होजावेंगे, सो ऐसा जगतमें होता नहीं, यदि ऐसा हो तो जड़से चेतन होजाया करें और जब ज्ञानके संयोगसे जड़ चेतन होगा तब चेतन भी ज्ञानके वियोगसे जड़ होजावेगा, यह बड़ा भारी दोष होगा। इससे यह बात निश्चित है कि आत्मा और ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी भी छूटनेवाला नहीं है। ज्ञानी आत्मा अपनी ही उपादान शक्तिसे अपने ज्ञानरूप परिणमन करता है। और उसी ज्ञान परिणतिसे अपनी निर्मलताके कारण सर्व ज्ञेय पदार्थोंको जान लेता है और वे पदार्थ भी अपनी शक्तिसे ही ज्ञानमें झलकते हैं जिसको हम व्यवहार नयसे कहते हैं कि सर्व पदार्थ ज्ञानमें समागये।

इस तरह आत्माको ज्ञान स्वभाव मानकर हमें निर्मल केवलज्ञानमई स्वभावकी प्रगटताके लिये शुद्धोपयोगकी सदा भावना करनी चाहिये यही तात्पर्य है ॥३५॥

उत्थानिका–आगे बताते हैं कि आत्मा ज्ञानरूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयका भेद प्रगट करते हैं—

तम्हा णाणं जीवो, णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।
दव्वंति पुणो आदा, परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

तस्मात् ज्ञानं जीवो, ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा, परश्च परिणामसंबद्धः ॥ ३६ ॥

सामान्यार्थ–इसलिये जीव ज्ञान स्वरूप है और और

जानने योग्य ज्ञेय द्रव्य तीन प्रकार कहा गया है। वह ज्ञेयभूत द्रव्य किसी अपेक्षा परिणमनशील होता हुआ आत्मा और अनात्मा है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूपसे ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थोंको जानता है ऐसा पूर्व सूत्रमें कहा गया है (तम्हा) इसलिये (जीवः) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्वं) उस ज्ञानस्वरूप आत्माका ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्यायमें परिणमन रूपसे या द्रव्य गुण पर्याय रूपसे या उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपसे ऐसे तीन प्रकार (समक्खादं) कहा गया है। (पुणः) तथा (परिणामसंबद्धः) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च परं) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वंति) द्रव्य हैं तथा क्योंकि ज्ञान दीपकके समान अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहांपर नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञानसे जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि अर्थात् ज्ञान स्वयं आपको नहीं जानता है। इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपकके साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है उसके प्रकाशके लिये अन्य दीपककी आवश्यक्ता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्माको प्रकाश करता है उसके लिये अन्य ज्ञानके होनेकी जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्वपर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञानसे प्रकाशता है तब वह

ज्ञान फिर दूसरे ज्ञानसे प्रकाशता है ऐसा माना जायगा तो अनंत आकाशमें फैलनेवाली व जिसका दूर करना अतिकठिन ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायगी सो होना सम्मत नहीं है । इसलिये ज्ञान स्वपर प्रकाशक है ऐसा सूत्रका अर्थ है ।

भावार्थ-यहां आचार्य ज्ञान और ज्ञेयका भेद करते हुए बताते हैं और इस बातका निराकरण करते हैं जो ज्ञान और ज्ञेयको सर्वथा एक मानते हैं । आत्मा द्रव्य है उसका मुख्य गुण ज्ञान है । उस ज्ञानसे ही आत्मा अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है । ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञेय और ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान कहलाता है । यदि मात्र आत्मा ही आत्मा एक पदार्थ हो तो अन्य ज्ञेय न होनेसे आत्माका ज्ञान किसको जाने । इसलिये ज्ञानसे ज्ञेय भिन्न हैं । यद्यपि ज्ञानमें आप अपनेको भी जाननेकी शक्ति है इसलिये आत्माका ज्ञान ज्ञेय भी है परन्तु इतना ही नहीं है–जगतमें अनंत अन्य आत्माएं हैं, पुद्गल हैं, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्य हैं ये सब एक शुद्ध स्वभावमें रमण करनेवाले आत्माके लिये ज्ञेय हैं । इस कथनका भाव यह है कि हरएक आत्मा स्वभावसे ज्ञाता है परन्तु जानने योग्य ज्ञेय हरएक आत्माके लिये सर्व लोक मात्रके द्रव्य हैं जिसमें आप भी स्वयं शामिल है । ये सर्व ज्ञेय पदार्थ तीन प्रकारसे कहे जासक्के हैं वह तीन प्रकारसे कथन नीचे प्रकार हो सक्ता है–

(१) द्रव्योंकी भूत, भविष्य, वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा ।

(२) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अपेक्षा ।

(३) द्रव्य, गुण, पर्यायकी अपेक्षा ।

हरएक द्रव्य इन तीन प्रकारसे तीन स्वभाव रूप है। इन सब छः प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंको द्रव्य इसी कारणसे कहते हैं कि ये सब द्रव्य परिणमनशील हैं–जो द्रवण करे–परिणमन करे उसे द्रव्य कहते हैं, ऐसा द्रव्यपना लोकके सब पदार्थोंमें विद्यमान है। आत्मा स्वयं ज्ञान स्वभाव रूप है वह अपनी ज्ञान शक्तिसे ही सर्व ज्ञेयोंको जानता है। उस ज्ञानके परिणमनके लिये अन्य किसी ज्ञानकी जरूरत नहीं है। जैसे दीपक स्वभावसे स्वपर प्रकाशक है ऐसे ही आत्माका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। द्रव्यको तीन प्रकार यदि नहीं माने तो द्रव्य अपनी सत्ताको नहीं रख सक्ता है। जब द्रव्य अपने नामसे ही द्रवणशील है तब उसमें समय २ अवस्थाएं होनी ही चाहिये, यदि द्रव्य सतरूप नित्य न हो तो उसका परिणमन सदा चल नहीं सक्ता। इस अपेक्षासे द्रव्य अपने पर्यायोंके कारण तीन प्रकारका होजाता है। भूतकालकी पर्यायें, भविष्यकालकी पर्यायें तथा वर्तमानकालकी पर्याय। जब पर्याय समय २ अन्य अन्य होती है तब स्वतः सिद्ध है कि हरएक समयमें प्राचीन पर्यायका व्यय होता है और नवीन पर्यायका उत्पाद होता है जब कि पर्यायोंका आधारभूत द्रव्य ध्रौव्यरूप है। इस तरह द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप है। द्रव्य गुण पर्यायोंका समुदाय है–समुदायकी अपेक्षा एक द्रव्य, वह द्रव्य अनंतगुणोंका समुदाय है इससे गुणरूप, और हरएक गुणमें समय २ पर्याय हुआ करती है इससे पर्यायरूप इस तरह द्रव्य, द्रव्य गुणपर्यायरूप है। सम्पूर्ण छः द्रव्य इस तीन प्रकारके स्वभावको रखनेवाले हैं। इन सर्व द्रव्योंको आत्माका ज्ञान जान

लेता है। तौ भी पर ज्ञेयोंसे आत्मा सदा भिन्न रहता है-आपके केवलज्ञानकी अपूर्व शक्तिको जानकर हरएक धर्मार्थीका कर्तव्य है कि जिस साम्यभाव या शुद्धोपयोगसे निज स्वरूपका विकाश होता है उस शुद्धोपयोगकी सदा भावना करे।

इस तरह निश्चय श्रुतकेवली, व्यवहार श्रुतकेवलीके कथनकी मुख्यतासे आत्माके ज्ञान स्वभावके सिवाय भिन्न ज्ञानको निराकरण करते हुए तथा ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप कथन करते हुए चौथे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि आत्माके वर्तमान ज्ञानमें अतीत और अनागत पर्यायें वर्तमानके समान दिखती हैं:-

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम्।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥ ३७ ॥

सामान्यार्थ-उन जीवादि द्रव्य जातियोंकी सर्व ही विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें निश्चयसे उस ज्ञानमें विशेषतासे वर्तमान कालकी पर्यायोंकी तरह वर्तती हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तासिं दव्वजादीणं) उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्योंकी व अन्य द्रव्योंकी (ते) वे पूर्वोक्त (सव्वे) सर्व (सदसब्भूदा) सद्भूत और असद्भूत अर्थात् वर्तमान और आगामी तथा भविष्य कालकी (पज्जया) पर्यायें (हि) निश्चयसे या स्पष्ट रूपसे (णाणे) केवलज्ञानमें (विसेसदो) विशेष करके अर्थात् अपने २ प्रदेश, काल, आकार आदि भेदोंके साथ

संकर व्यतिकर दोषके विना (तत्कालिगेव) वर्तमान पर्यायोंके समान (वर्ट्टते) वर्तती हैं, अर्थात् प्रतिभासती हैं या स्फुरायमान होती हैं। भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मतिश्रुतज्ञानी पुरुषके भी अंतरंगमें मनसे विचारते हुए पदार्थोंकी भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्रमई भीतपर वाहुबलि भरत आदिके भूतकालके रूप तथा श्रेणिक तीर्थंकर आदि भावी कालके रूप वर्तमानके समान प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़ते तैसे चित्र भीतके समान केवलज्ञानमें भूत और भावी अवस्थाएं भी एक साथ प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान परद्रव्योंकी पर्यायोंको उनके ज्ञानाकार मात्रसे जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत अपनी ही सिद्ध पर्यायको ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूपसे तन्मयी हो जानते हैं, तैसे निकट भव्य जीवको भी उचित है कि अन्य द्रव्योंका ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म द्रव्यकी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय मई अवस्थाको ही सर्व तरहसे तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे यह तात्पर्य है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने फिर केवलज्ञानकी अपूर्व महिमाको प्रगट किया है–द्रव्योंकी पर्यायें सदाकाल हुआ करती हैं। वर्तमान समय सम्बन्धी पर्यायोंको सद्भूत तथा भूत और भावी पर्यायोंको असद्भूत कहते हैं। केवलज्ञानमें तीन काल संबंधी सर्व छः द्रव्योंकी सर्व पर्यायें एक साथ अलग २ अपने

सर्व भेदोंके साथमें झलक जाती हैं। तथा वे ऐसी झलकती हैं मानों वे वर्तमानमें ही मौजूद हैं, इस पर दृष्टांत है कि जैसे कोई चित्रकार अपने मनमें भूतकालमें होगए चौवीस तीर्थंकर व बाहुबलि, भरत व रामचंद्र लक्ष्मण आदिकोंके अनेक जीवनके दृश्य अपने मनमें वर्तमानके समान विचारकर भीतपर उनके चित्र बना देता है इस ही तरह भावी कालमें होनेवाले श्री पद्मनाभ आदि तीर्थंकरों व चक्रवर्ती आदिकोंको मनमें विचारकर उनके जीवनके भी दृश्योंको चित्रपर स्पष्ट लिख देता है अथवा जैसे चित्रपटको वर्तमानमें देखनेवाला उन भूत व भावी चित्रोंको वर्तमानके समान प्रत्यक्ष देखता है अथवा जैसे अल्पज्ञानीके विचारमें किसी द्रव्यका विचार करते हुए उसकी भूत और भावी कुछ अवस्थाएं झलक जाती हैं-दृष्टांत-सुवर्णको देखकर उसकी खानमें रहनेवाली भूत अवस्था तथा कंकण कुंडल बननेकी भावी अवस्था मालूम हो जाती है, यदि ऐसा ज्ञान न हो तो सुवर्णका निश्चय होकर उससे आभूषण नहीं बन सके, वैद्य रोगीकी भूत और भावी अवस्थाको विचारकर ही औषधि देता है, एक पाचिका स्त्री अन्नकी भूत मलीन अवस्था तथा भावी भात दाल रोटीकी अवस्थाको मनमें सोचकर ही रसोई तय्यार करती है इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं तैसे केवलज्ञानी अपने दिव्यज्ञानमें प्रत्यक्ष रूपसे सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको वर्तमानके समान स्पष्ट जानते हैं। यद्यपि केवलज्ञानी सर्वको जानते हैं तथापि उन पर ज्ञेयोंकी तरफ सन्मुख नहीं हैं वह मात्र अपने शुद्ध आत्म स्वभावमें ही सन्मुख हैं और उसीके आनंदका स्वाद तन्मयी होकर ले रहे हैं अर्थात्

निश्चयसे वे अपने आपका ही वेदन कर रहे हैं अर्थात् पूर्ण ज्ञान चेतना रूप वर्तन कर रहे हैं। इसी तरह मोक्षार्थी व साम्यभावके अभ्यासीको भी उचित है कि यद्यपि वह अपने श्रुतज्ञानके बलसे अनेक द्रव्योंकी भूत और भावी पर्यायोंको वर्तमानवत् जानता है तौ भी एकाग्र होकर निश्चय रत्नत्रयमई अपने शुद्ध आत्माके शुद्ध भावको तन्मयी होकर जाने तथा उसीका ही आनन्दमई स्वाद लेवे। यही स्वानुभव पूर्ण स्वानुभवका तथा पूर्ण त्रिकालवर्ती ज्ञानका बीज है। वर्तमान और भविष्यमें आत्माको सुखी निराकुल रखनेवाला यही निजानंदके अनुभवका अभ्यास है। इसका ही प्रयत्न करना चाहिये यह तात्पर्य्य है।

यहांपर यह भी भाव समझना कि जैसे केवली भगवान प्रत्यक्ष सर्व लोक अलोकको देखते जानते हुए भी परम उदासीन तथा आत्मस्थ रहते तैसे श्रुतज्ञानी महात्मा भी श्रुतके आलम्बनसे सर्व ज्ञेयोंको षट्द्रव्योंका समुदाय रूप जानकर उन सबसे उदासीन होकर आत्मस्थ रहते हैं। श्रुतज्ञानीने यद्यपि अनेक विशेष नहीं जाने हैं तथापि सर्व ज्ञानकी कुंजी पा ली है इससे परम संतुष्ट है—वीतरागी है।

उत्थानिका—आगे आचार्य दिखलाते हैं कि पूर्व गाथामें जो असद्भूत शब्द कहा है वह संज्ञा भूत और भविष्यकी पर्यायोंको दी गई है—

जे णेव हि संजाया, जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूया, पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्याया।
ते भवंति असद्भूताः पर्यायाः ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥३८॥

सामान्यार्थ-जो पर्यायें अभी नहीं उत्पन्न हुई हैं तथा जो प्रगटपने पर्यायें हो होकर नष्ट होगई हैं वे पर्यायें असद्भूत होती हैं तथापि वे केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष वर्तमानके समान झलकती हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जे पज्जाया) जो पर्यायें (णेव हि संजाया) निश्चयसे अभी नहीं पैदा हुई हैं (जे खलु भवीय णट्ठा) तथा जो निश्चयसे हो होकर विनाश हो गई हैं (ते) वे भूत और भावी पर्यायें (असब्भूया) असद्भूत या अविद्यमान (पज्जाया) पर्याय (होंति) हैं, (णाण पच्चक्खा) परन्तु वे सर्व पर्यायें यद्यपि इस समयमें विद्यमान न होनेसे असद्भूत हैं तथापि वर्तमानमें केवलज्ञानका विषय होनेसे व्यवहारसे भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ या सद्भूत कही जाती हैं क्योंकि वे सब ज्ञानमें प्रत्यक्ष हो रही हैं। जैसे यह भगवान केवलज्ञानी निश्चय नयसे परमानंद एक लक्षणमई सुख स्वभाव रूप मोक्ष अवस्था या पर्यायको ही तन्मय होकर जानते हैं परन्तु परद्रव्यको व्यवहार नयसे, तैसे आत्माकी भावना करने वाले पुरुषको उचित है कि वह रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन पर्यायको ही सर्व तरहसे जाने और अनुभव करे तथा बाहरी द्रव्य और पर्यायोंको गौण रूपसे उदासीन रूपसे जाने।

भावार्थ-यह गाथा पूर्व गाथाके कथनको स्पष्ट करती है कि जिन भूत और भावी पर्यायोंको हम वर्तमान कालमें प्रगटता न होनेकी अपेक्षा अविद्यमान या असत कहते हैं वे ही पर्यायें

केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष वर्तमानके समान झलक रही हैं। इसलिये उनको इस ज्ञानका विषय होनेसे विद्यमान या सत कहते हैं। द्रव्य अपनी भूत भावी वर्तमान पर्यायोंका समुदाय है—द्रव्य सत है तो वे सब पर्यायें भी सत रूप हैं। हरएक द्रव्य अपनी संभवनीय अनंत पर्यायोंको पीये बैठा है, प्रत्यक्ष ज्ञानीको उसकी अनंत पर्यायें इसी तरह झलक रही हैं जैसे अल्पज्ञानीको वर्तमानमें किसी पदार्थकी भूत और भावी बहुतसी पर्यायें झलक जाती हैं। एक गाढेका थान हाथमें लेते हुए ही उसकी भूत और भावी पर्यायें झलक जाती हैं कि यह गाढ़ा तागोंसे बना है, तागे रुईसे बने हैं, रुई वृक्षसे पैदा होती है, वृक्ष रुईके बीजसे होता है, ये तो भूत पर्यायें हैं तथा इस गाढ़ेकी मिरजई, धोती, टोपी बनाएंगे, तब इसको टुकड़े टुकड़े करेंगे, सीएंगे, धोएंगे, रक्खेंगे, पहनेंगे आदि गाढ़ेकी कम व अधिक अपने ज्ञानके क्षयोपशमके अनुसार भूत भावी अवस्थाएं एक बुद्धिमानको वर्तमानके समान मालूम हो जाती हैं, यहां विचार पूर्वक झलकती हैं वहां केवलज्ञानमें स्वयं स्वभावसे झलकती हैं। हरएक कथन अपेक्षा रूप है। त्रिकालगोचर पर्यायें सब सत हैं। विवक्षित समयकी पर्यायें विद्यमान या सत तथा उस समयसे पूर्व या उत्तर समयकी पर्यायें अविद्यमान या असत कही जाती हैं। केवलज्ञानी जैसे मुख्यतासे निज शुद्धात्माके स्वादमें मग्न हैं वैसे ही एक आत्मानुभवके अभ्यासीको स्वरूपमें तन्मय होना चाहिये तथा अपने आत्माके सिवाय परद्रव्योंको गौणतासे जानना चाहिये, अर्थात उनको जानते हुए भी उनमें विकल्प न करना चाहिये

भाव आगम निक्षेप रूप निज आत्माको, द्रव्य आगम निक्षेप रूप परको जानना चाहिये। शुद्ध निश्चय नयका विषयभूत यह शुद्ध आत्मा परम वीतराग है अतएव इसकी ओर सन्मुखता होनी आत्माको वीतराग और शांत करके सुखी बनानेवाली है तथा पूर्व कर्मोंकी निर्जरा करनेवाली तथा अनेक कर्मोंकी संवर करनेवाली है ऐसा जानकर जिस तरह बने निज शुद्ध भावका ही मनन करना चाहिये जिससे अनुपम केवलज्ञान प्रगटे और आत्मा परमानंदी होजावे ॥ ३८ ॥

उत्थानिका–आगे इसी बातको दृढ़ करते हैं कि असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं:–

जदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वंत्ति हि के परूविंति ॥३९

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥३९॥

सामान्यार्थ–यदि भावी और भूत पर्याय केवलज्ञानके प्रत्यक्ष न हो तो उस ज्ञानको दिव्य कौन कहें? अर्थात् कोई भी न कहे।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जदि) यदि (अजादं) अनुत्पन्न जो अभी पैदा नहीं हुई है ऐसी भावी (च पलयिदं) तथा जो चली गई ऐसी भूत (पज्जायं) पर्याय (णाणस्स) केवलज्ञानके (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (ण हवदि) न हो (वा) तो (तं णाणं) उस ज्ञानको दिव्वंत्ति) दिव्य अर्थात् अलौकिक अतिशय रूप (हि) निश्चयसे (के) कौन (परूविंति) कहें? अर्थात् कोई भी न कहें। भाव यह

है कि यदि वर्तमान पर्यायकी तरह भूत और भावी पर्यायको केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञानके विधानसे रहित हो साक्षात् प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे। वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा विचार करें तो वह शुद्ध ज्ञान ही न होवे। जैसे यह केवली भगवान परद्रव्य व उसकी पर्यायोंको यद्यपि ज्ञानमात्र-पनेसे जानते हैं तथापि निश्चय करके सहज ही आनंदमई एक स्वभावके धारी अपने शुद्ध आत्मामें तन्मईपनेसे ज्ञान क्रिया करते हैं तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहारसे परद्रव्य व उसके गुण पर्यायका ज्ञान करते हैं तथापि निश्चयसे विकार रहित स्वसंवेदन पर्यायमें अपना विषय रखनेसे उसी पर्यायका ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्रका तात्पर्य है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने पिछली बातको और भी दृढ़ कर दिया है। यदि ज्ञान गुणका स्वरूप देखें तो यही समझना होगा कि जो सर्व जानने योग्यको एक समयमें जाननेको समर्थ है वही ज्ञान है। ज्ञेय ज्ञानका विषय विषयी सम्बन्ध है। ज्ञेय विषय हैं ज्ञान उनको जाननेवाला है। जिस पदार्थका जितना काम होना चाहिये उतना काम यदि करे तब तो उसे शुद्ध पदार्थ और यदि उतना काम न करके कम करे तो उसे अशुद्ध पदार्थ कहते हैं। एक आदर्शमें सामनेके दस गज तकके पदार्थ प्रकाशनेकी शक्ति है। यदि वह दर्पण निर्मल होगा तो अपने पदार्थ प्रकाशके कार्यको पूर्णपने करेगा। हां यदि वह मलीन होगा तो उस दर्पणमें प्रगट पदार्थोंका दर्शाव साफ नहीं होगा। यही हाल ज्ञानका है। यदि वह शुद्ध ज्ञान होगा तो उसका स्वभाव ही ऐसा होना

चाहिये कि जिसमें भूत भावी सर्व द्रव्योंकी पर्यायें वर्तमानमें विना क्रमके एक साथ जाननेमें आवें यही ज्ञानका महात्म्य है। हां यदि ज्ञान अशुद्ध होगा तो उसके जाननेमें अवश्य कमी रहेगी। इसीसे मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानका विषय बहुत कम है। केवलज्ञानमें कोई ज्ञानावरण नहीं रहा तब वह सर्व ज्ञेयोंको न जान सके यह बात कभी नहीं हो सक्ती। इसलिये वहां वर्तमान पर्यायोंके समान द्रव्योंकी भूत भावी पर्यायें भी प्रत्यक्ष हो रही हैं-केवलज्ञानकी अपूर्व शक्ति है। एक २ द्रव्यमें अनंत गुण हैं-हरएक गुणकी एकएक समयवर्ती एकएक पर्याय होती है। एक २ गुणकी भूत भावी पर्यायें अनंतानंत हैं। तथा एक एक पर्यायमें शक्तिके अंश अनंत होते हैं। इन सबको विशेष रूप पृथक् पृथक् एक कालमें जान लेना केवलज्ञानका कार्य है। यह महिमा निर्मलज्ञान ही में जानना चाहिये, क्षायिक ज्ञान ही ऐसा शक्तिशाली है। क्षयोपशमिक ज्ञानमें बहुत ही कम जाननेकी शक्ति है। केवलज्ञान सूर्य सम प्रकाशक है। ज्ञानकी पूर्ण महिमा इसी ज्ञानमें झलकती है। केवलज्ञानी अरहंत भगवान यद्यपि सर्वज्ञ हैं तथापि उनके उपयोगकी सन्मुखता निज शुद्धात्माकी ओर है। अपने शुद्ध आत्माके सुख समुद्रमें मग्न हो परमानन्दमें छक रहे हैं। इसी तरह भेद विज्ञानीका कर्तव्य है कि निश्चय तथा व्यवहार नयसे सम्पूर्ण पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हुए भी अपनी तन्मयता अपने शुद्ध आत्म स्वभावमें रखकर निजानन्दका अनुभव करके सुखी होवे ॥३९॥

उत्थानिका-आगे यह विचार करते हैं कि इंद्रियोंके

द्वारा जो ज्ञान होता है वह भूत और भावी पर्यायोंको तथा सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि पदार्थोंको नहीं जानता है।

अत्थं अक्खणिवदिदं, ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं, णादुमसक्कंति पण्णत्तं ॥४०॥

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैः ये विजानन्ति।
तेषां परोक्षभूतं ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥ ४० ॥

सामान्यार्थ-जो जीव इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण योग्य पदार्थोंको ईहा पूर्वक जानते हैं उनको जो उनके इंद्रिय ज्ञानसे परोक्ष-भूत वस्तु है सो जाननेके लिये अशक्य है ऐसा कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जे) जो कोई छद्मस्थ (अक्खणिवदिदं) इन्द्रियगोचर (अट्ठं) पदार्थको (ईहापुव्वेहिं) ईहापूर्वक (विजाणंति) जानते हैं (तेसिं) उनका (परोक्खभूदं) परोक्ष भूतज्ञान (णादुं) जाननेके लिये अर्थात सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जाननेके लिये (असक्कंति) अशक्य है ऐसा (पण्णत्तं) कहा गया है। ज्ञानियोंके द्वारा अथवा उनके ज्ञानसे जो परोक्षभूत द्रव्य है वह उनके द्वारा जाना नहीं जासक्ता। प्रयोजन यह है कि नैयायिकोंके मतमें चक्षु आदि इन्द्रिय घट पट आदि पदार्थोंके पास जाकर फिर पदार्थको जानती हैं अथवा संक्षेपसे इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध सन्निकर्ष है वह ही प्रमाण है। ऐसा सन्निकर्ष ज्ञान आकाश आदि अमूर्तीक पदार्थोंमें, दुरवर्ती मेरु आदि पदार्थोंमें कालसे दूर राम रावणादिमें, स्वभावसे दूर भूत प्रेत आदिकोंमें तथा अति सूक्ष्म परके मनके वर्तनमें व पुद्गल परमाणु आदिकोंमें नहीं प्रवर्तन करसक्ता। क्योंकि इन्द्रियोंका विषय स्थूल है तथा

मूर्तीक पदार्थ है। इस कारणसे इन्द्रिय ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ नहीं होसक्ता। इसी लिये ही अतीन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण जो रागद्वेषादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान है उसको छोड़कर पंचेन्द्रियोंके सुखके कारण इन्द्रिय ज्ञानमें तथा नाना मनोरथके विकल्प जाल स्वरूप मन सम्बन्धी ज्ञानमें जो प्रीति करते हैं वे सर्वज्ञ पदको नहीं पाते हैं ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानको श्रेष्ठ तथा उससे नीचेके चारों ही क्षयोपशम ज्ञानको हीन बताया है। प्रथम मुख्यतासे मतिज्ञानको लिया है। टीकाकारने नैयायिक मतके अनुसार ज्ञानका स्वरूप बताकर उस इंद्रियज्ञानको बिलकुल असमर्थ बताया है। अर्थात् न वह ज्ञान वर्तमानमें ही दूरवर्ती पदार्थोंको या सूक्ष्म पदार्थोंको जान सक्ता है और न वह इन्द्रियज्ञान उस केवलज्ञानका कारण ही है जो सर्व ज्ञेयोंको जाननेके लिये समर्थ है। जैनमतके अनुसार मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे होता है। सो मतिज्ञान किसी भी पदार्थको प्रथम समयमें सामान्य दर्शनरूप ग्रहण करता है फिर उसके कुछ विशेषको जानता है तब अवग्रह होता है फिर और अधिक जानता तब ईहा होती फिर उसका निश्चयकर पाता तब अवाय होता फिर दृढ़ निश्चय करता तब धारणा होती। यह मतिज्ञान क्रम क्रमसे वर्तन करता तथा प्रत्येक इन्द्रिय अपने२ विषयको अलग२ ग्रहण करती। चार इंद्रियें तो पदार्थसे स्पर्शकर तथा चक्षु व मन पदार्थसे दूर रहकर जानते हैं। मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार बहुत ही थोड़े पदार्थोंका व उनकी कुछ स्थूल पर्यायोंका ज्ञान होता है।

यह मतिज्ञान क्षेत्र व कालसे दूर व सूक्ष्म परमाणु आदिको नहीं जान सक्ता है। जो श्रुतज्ञान सैनी जीवमें मन द्वारा काम करता है सो भी अपना उत्कृष्ट क्षयोपशम इतना ही रखता है कि श्री आचारांगादि द्वादश अंगोंको जानसके। यह ज्ञान भी बहुत थोड़ा है तथा क्रमसे प्रवर्तन करता है। जितना केवलज्ञानी जानते हैं उसका अनन्तवां भाग दिव्यध्वनिसे प्रगट होता। जितना दिव्यध्वनिसे प्रगट होता उतना गणधरोंकी धारणामें नहीं रहता इससे दिव्यध्वनि द्वारा प्रगट ज्ञानका कुछ अंश धारणामें रहता है सो द्वादशांगकी रचनारूप है। श्रुतज्ञान इससे अधिक जान नहीं सक्ता। अवधिज्ञान यद्यपि इन्द्रिय और मनद्वारा नहीं होता वहां आत्मा ही प्रत्यक्ष रूपसे जानता है तथापि इस ज्ञानका कार्य्य उपयोग जोड़नेसे होता है जिसमें मनके विकल्पका सहारा होजाता है तथा यह ज्ञान मात्र मूर्तीक पदार्थोंको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादारूप जानता है। अनन्त द्रव्यों-को, अनन्त क्षेत्रको, अनन्त कालको व अनन्त भावोंको नहीं जानसक्ता। मनःपर्ययज्ञान भी यद्यपि प्रत्यक्ष है तथापि मन द्वारा विचारनेपर काम करता है इससे मनके विकल्पकी सहायता है तथा यह ढाई द्वीपके क्षेत्रमें रहनेवाले सैनी जीवोंके मनमें तिष्ठते हुए मूर्तीक पदार्थको जानता है। यद्यपि यह अवधिज्ञानके विषयसे सूक्ष्म विषयको जानता है तथापि बहुत कम जानता व बहुत कम क्षेत्रको जानता है। ये चारों ही ज्ञान किसी अपेक्षासे इन्द्रिय और अनिंद्रिय अर्थात् कुछ इन्द्रिय रूप मनकी सहायतासे होते हैं इसलिये इनको इन्द्रिय ज्ञानमें गर्भित करसक्ते हैं। आचार्यका

अभिप्राय यही झलकता है कि जो छद्मस्थ क्षयोपशम ज्ञानी हैं वे अपने अपने विषयको तो जानसक्ते हैं परंतु बहुतसे ज्ञेय उनके ज्ञानके बाहर रहजाते हैं। जिनको सिवाय क्षायिक केवलज्ञानके और कोई ज्ञान नहीं सक्ता है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान ही उपादेय है, ये चार ज्ञान हेय हैं। तथापि इनमेंसे जो आत्म स्व-संवेदनरूप भावश्रुतज्ञान है जिसमें आत्माकी आत्मामें स्वसमय-रूप प्रवृत्ति होती है वह इन्द्रिय और मनके विकल्पोंसे रहित निजास्वादरूप आनंदमई ज्ञान है सो उपादेय है क्योंकि यही भेद विज्ञानमूलक आत्मज्ञान केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज है। इसलिये स्वतंत्रताके चाहनेवाले ज्ञानीको इन्द्रिय और मनके विक-ल्पात्मक ज्ञानमें जो इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके साधन हैं, रति छोड़कर अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दके कारणरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें तन्मयता करनी चाहिये।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि अतीन्द्रिय रूप केवल-ज्ञान ही भूत भविष्यको व सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जानता है।

अपदेसं सपदेसं, मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम् ॥४१॥

सामान्यार्थ-जो ज्ञान प्रदेशरहित कालाणु व सप्रदेशी पांच अस्तिकायको, मूर्तको, अमूर्तको तथा भावी और भूत पर्या-योंको जानता है वह ज्ञान अतींद्रिय कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—जो ज्ञान (अपदेसं) बहु प्रदेश रहित कालाणु व परमाणु आदिको (सपदेसं) बहु प्रदेशी शुद्ध जीवको आदि ले पांच अस्तिकायोंके स्वरूपको (मुत्तं) मूर्तीक पुद्गल द्रव्यको (च अमुत्तं) और अमूर्तीक शुद्ध जीव आदि पांच द्रव्योंको (अजादं) अभी नहीं उत्पन्न हुई होनेवाली (च पलयं गयं और छूट जानेवाली भूतकालकी (पज्जयं) द्रव्योंकी पर्यायोंको इस सब ज्ञेयको (जाणदि) जानता है (तं णाणं) वह ज्ञान (अदिंदियं) अतीन्द्रिय (भणियं) कहा गया है। इसी हीसे सर्वज्ञ होता है इस कारणसे ही पूर्व गाथामें कहे हुए इंद्रियज्ञान तथा मानस ज्ञानको छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमई स्वसंवेदन ज्ञानमें सर्व विभाव परिणामोंको त्याग करके प्रीति व लयता करते हैं वे ही परम आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमई सर्वज्ञपदको प्राप्त करते हैं यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानकी और भी विशेषता झलकाई है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहाय विना केवल आत्माकी स्वभावरूप शुद्ध अवस्थामें प्रगट होता है उसीमें यह शक्ति है जो वह बहु प्रदेश रहित असंख्यात कालाणुओंको तथा छुटे हुए परमाणुओंको,प्रत्यक्ष जान सके तथा बहु–प्रदेशी सर्व आत्माओंको, पुद्गल स्कंधोंको, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा अनंत आकाशको प्रत्यक्ष देख सके। वही सर्व मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्यको अलगर जानता है तथा हरएक द्रव्यकी जो अनंत पर्यायें हो गई हैं व होंगी उन सबको भी अच्छी तरह भिन्नर जानता है अर्थात् कोई जानने योग्य बात शेष नहीं रह

जाती जो केवलज्ञानमें न झलके। इसीको सर्वज्ञता कहते हैं-व इसीके स्वामी आत्माको सर्वज्ञ कहते हैं। इस कथनसे आचार्यने केवलज्ञानको ही उपादेय कहा है और मति आदि चारों ज्ञानोंको त्यागने योग्य कहा है क्योंकि ये चारों ही अपूर्ण तथा क्रमसे जानते हैं-मतिश्रुत परोक्ष होकर मूर्त्तीक अमूर्तीक द्रव्योंकी कुछ स्थूल पर्यायोंका जानते हैं-अवधि तथा मनःपर्यय एक देश प्रत्यक्ष होकर अमूर्तीकको नहीं जानते हुए केवल मूर्तीक द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको क्रमसे जानते हैं-परन्तु केवलज्ञान एक काल सब कुछ जानता है क्योंकि यह ज्ञान क्षायिक है, आवरण रहित है, जबकि अन्य ज्ञान क्षयोपशमरूप सावरण हैं ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य है। जो निज हितार्थी भव्य जीव हैं उनको चाहिये कि इन्द्रिय और मनके सर्व विकल्पोंको त्यागकर आत्माभिमुखी हो अपनेमें ही अपने आत्माका स्वसंवेदन प्राप्त करके स्वानुभव करें और इसी निज आत्माके स्वादमें सदा लवलीन रहें। इसी ही आत्मज्ञानके प्रभावसे परमानन्दमई सर्वज्ञपद प्राप्त होता है। जैसी भावना होती है वैसी फलती है। स्वस्वरूपकी भावना ही स्वस्वरूपकी प्रगटताकी मुख्य साधिका है, आत्मज्ञानके ही अभ्याससे अज्ञान मिटता है। श्री पूज्यपाद स्वामीने श्रीसमाधिशतकमें कहा है।

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥

भाव यह है कि आत्माकी ही कथनी करे, दूसरोंको पूछे उसीकी ही इच्छा करे, उसी

इसीके अभ्याससे अज्ञानमई अवस्था मिटकर ज्ञानमई अवस्थाको प्राप्त करे।

श्री नागसेन मुनिने श्री तत्त्वानुशासनमें कहा है–

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥ १९० ॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥

भाव यह है कि यह आत्मा जिस भावसे परिणमन करता है उसीके साथ तन्मई होजाता है। जब श्री अर्हंत भगवानके ध्यानमें ठहरता है तब उस ध्यानसे वह स्वयंभावमें अर्हंतरूप होजाता है। आत्मज्ञानी जिस भावसे जिसरूप आत्माको ध्याता है वह उसी भावके साथ तन्मई हो जाता है जैसे फटिक पाषाणमें जैसी डाककी उपाधि लगे वह उस ही रंगरूप परिणमन कर जाती है। ऐसा जानकर जिस तरह बने स्वस्वरूपकी आराधना करके ज्ञानको विशुद्ध करना चाहिये।

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञानमें प्रत्यक्ष नहीं होती हैं ऐसे बौद्धोंके मतको निराकरण करते हुए तीन गाथाएं कहीं, उसके पीछे इंद्रियज्ञानसे सर्वज्ञ नहीं होता है किंतु अतीन्द्रिय ज्ञानसे होता है ऐसा कहकर नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाले शिष्यको समझानेके लिये गाथा दो, ऐसे समुदायसे पांचवें स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुई ॥ ४१ ॥

उत्थानिका–आगे पांच गाथाओं तक यह व्याख्यान करते हैं कि राग, द्वेष, मोह, बंधके कारण हैं, ज्ञान बंधका कारण

नहीं है। प्रथम ही यह कहते हैं, कि जिसके ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थमें कर्मबंधका कारण रूप इष्ट तथा अनिष्ट विकल्प रूपसे परिणमन है अर्थात् जो पदार्थोंको इष्ट तथा अनिष्ट रूपसे जानता है उनके क्षायिक अर्थात् केवलज्ञान नहीं होता है।

परिणमदि णेयमट्ठं, णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणंति तं जिणंदा, खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिकं तस्य।
ज्ञानमिति तं जिनेन्द्राः क्षपयंतं कर्मैवोक्तवन्तः ॥ ४२ ॥

सामान्यार्थ-यदि जाननेवाला ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन करता है तो उसके क्षायिकज्ञान नहीं होसका है इसलिये जिनेन्द्रोंने उस जीवको कर्मका अनुभव करनेवाला ही कहा है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(जदि) यदि (णादा) ज्ञाता आत्मा (णेयं अट्ठं) जानने योग्य पदार्थरूप (परिणमति) परिणमन करता है अर्थात् यह नील है, यह पीत है इत्यादि विकल्प उठाता है तो (तस्स) उस ज्ञानी आत्माके (खाइगं णाणंति णेव) क्षायिकज्ञान नहीं ही है अथवा स्वाभाविक ज्ञान ही नहीं है। क्यों नहीं है इसका कारण कहते हैं कि (जिणिंदा) जिनेन्द्रोंने (तं) उस सविकल्प जाननेवालेको (कम्मं खवयंत एव) कर्मका अनुभव करनेवाला ही (उत्ता) कहा है। अर्थ यह है कि वह आत्मा विकार रहित स्वाभाविक आनंदमई एक सुख स्वभावके अनुभवसे शून्य होता हुआ उदयमें आए हुए अपने कर्मको ही अनुभव कर रहा है। ज्ञानको अनुभव नहीं कर रहा है। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि यदि ज्ञाता प्रत्येक पदार्थरूप परिणमन

करके पीछे पदार्थको जानता है तब पदार्थ अनंत हैं इससे सर्व पदार्थका ज्ञान नहीं हो सक्ता। अथवा तीसरा व्याख्यान यह है कि जब छद्मस्थ अवस्थामें यह बाहरके ज्ञेय पदार्थोंका चितवन करता है तब रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान इसके नहीं है। स्वसंवेदन ज्ञानके अभावमें क्षायिकज्ञान भी नहीं पैदा होता है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-यहां आचार्य कर्मबंधके कारणीभूत भावकी तरफ लक्ष्य दिला रहे हैं-वास्तवमें निर्विकार निर्विकल्प आत्मानुभवरूप वीतराग स्वरूपाचरण चारित्ररूप शुद्धोपयोग आत्माके ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन है-इस भावके सिवाय जब कोई अल्पज्ञानी किसी भी ज्ञेय पदार्थको विकल्प रूपसे जानता है और यह सोचता है कि यह पट है यह घट है यह नील है, यह पीत है यह पुरुष है या, यह स्त्री है, यह सज्जन है या यह दुर्जन है, यह धर्मात्मा है या अधर्मी है, यह ज्ञानी है या यह अज्ञानी है तब विशेष रागद्वेपका प्रयोजन न रहते हुए भी हेय या उपादेय बुद्धिके विकल्पके साथ कुछ न कुछ रागद्वेष होय ही जाता है। यह भाव स्वानुभव दशासे शून्य है इसलिये यह भाव कर्मोंके उदयको भोगनेरूप है अर्थात उस भावमें अवश्य मोहका कुछ न कुछ उदय है जिसको वह भाववान अनुभव कर रहा है। ऐसी दशामें मोह भोक्ताके क्षायिक निर्मल केवलज्ञान उस समय भी नहीं है तथा आगामी भी केवलज्ञानका कारण वह सविकल्प सराग भाव नहीं है। केवलज्ञानका कारण तो भेद विज्ञान है मूल जिसका ऐसा निश्चल स्वात्मानुभव ही है।

यदि कोई यह माने कि ज्ञान प्रत्येक पदार्थरूप परिणमन करके अर्थात् उधर अपना विकल्प लेजाकर जानता है तब वह ज्ञान एकके पीछे दूसरे फिर तीसरे फिर चौथे इसतरह क्रमवर्ती जाननेसे वह सर्व पदार्थोंका एक काल ज्ञाता सर्वज्ञ नहीं होसक्ता।

जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थंकरादिक प्रत्यक्ष ज्ञानियोंने यही बताया है कि पर पदार्थके भोगनेवालेके रागादि विकल्प हैं जहां कर्मोंका उदय है। इसलिये परमें सन्मुख हुआ आत्मा न वर्तमानमें निज स्वरूपका अनुभव करता है न आगामी उस स्वानुभवके फलरूप केवलज्ञानको प्राप्त करेगा, परन्तु जो कर्मोदयका भोग छोड़ निज शुद्ध स्वभावमें अपनेसे ही तन्मय हो जायगा वही वर्तमानमें निजानन्दका अनुभव करेगा तथा उसीके ही ज्ञानावरणीयका क्षय होकर निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न होगा अर्थात् जहां वीतरागता है वहीं कर्मोंकी निर्जरा है तथा जहां सरागता है वहीं कर्मोंका वंध है। अर्थात् रागादि ही वंधका कारण है ॥ ४२ ॥

उत्थानिका-आगे निश्चय करते हैं कि अनन्त पदार्थोंको जानते हुए भी ज्ञान बन्धका कारण नहीं है। और न रागादि रहित कर्मोंका उदय ही वंधका वंध कारण है। अर्थात् नवीन कर्मोंका वंध न ज्ञानसे होता है न पिछले कर्मोंके उदयसे होता है किन्तु राग द्वेष मोहसे बन्ध होता है।

उदयगदा कम्मंसा, जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु हि मुहिदो रत्तो, दुट्ठो वा बंधमणुहवदि ॥४३॥

उदयगताः कर्मांशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः ।
तेषु हि मूढो रक्तो, दुष्टो वा बंधमनुभवति ॥ ४३ ॥

सामान्यार्थ-जिनवर वृषभोंने उदयमें आए हुए कर्मोंके अंशोंको स्वभावसे परिणमते हुए कहा है। उन उदयमें प्राप्त कर्मोंमें जो मोही रागी वा द्वेषी होता है वह बंधको अनुभव करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(उदयगदा) उदयमें प्राप्त (कम्मंसा) कर्मांश अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतिके भेद रूप कर्म्म (जिणवरवसहेहिं) जिनेंद्र वीतराग भगवानोंके द्वारा (णियदिणा) नियतपने रूप अर्थात स्वभावसे काम करनेवाले (भणिया) कहे गए हैं। अर्थात् जो कर्म उदयमें आते हैं वे अपने शुभ अशुभ फलको देकर चले जाते हैं वे नए बंधको नहीं करते यदि आत्मामें रागादि परिणाम न हों तो फिर किस तरह जीव बंधको प्राप्त होता है। इसका समाधान करते हैं कि-(तेसु) उन उदयमें आए हुए कर्मोंमें (हि) निश्चयसे (मुहिदो) मोहित होता हुआ (रत्तो) रागी होता हुआ (वा दुट्ठो) अथवा द्वेषी होता हुआ (बंधम्) बंधको, (अणुहवदि) अनुभव करता है। जब कर्मोंका उदय होता है तब जो जीव मोह राग द्वेषसे विलक्षण निज शुद्ध आत्मतत्वकी भावनासे रहित होता हुआ विशेष करके मोही, रागी वा द्वेषी होता है सो केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंकी प्रगटता जहां होजाती है ऐसे मोक्षसे विलक्षण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार बन्धको भोगता है अर्थात् उसके नए कर्म बन्ध जाते हैं। इससे यह ठहरा कि

न ज्ञान बन्धका कारण है न कर्मोंका उदय बंधका कारण है किन्तु रागादि भाव ही बंधके कारण हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आत्माकी अशुद्धि होने अर्थात् कार्माण वर्गणारूप पुद्गलोंसे बंध होनेके कारणोंको प्रगट किया है। प्रथम ही यह बतलाया है कि पदार्थोंका ज्ञान बंधका कारण नहीं है। ज्ञानका काम दीपकके प्रकाशकी तरह मात्र जानना है। उसका काम मोहादि करना नहीं है इससे ज्ञान कम हो या अधिक, ज्ञान बंधका मूल कारण नहीं है। और न कर्मों उदय बंधका कारण है। कर्मोंके उदयसे सामग्री अच्छी या बुरी जो प्राप्त होती है उसमें यदि कोई रागद्वेष मोह नहीं करता है तो वह सामग्री आत्माके बंध नहीं कर सक्ती। और यदि कर्मोंके असरसे शरीर व वचनकी कोई क्रिया होजाय और आत्माका उपयोग उस क्रियामें रागद्वेष न करे तौ उस क्रियासे भी नया बंध नहीं होगा। बंधका कारण राग, द्वेष, मोह है। जैसे शरीर द्वारा किसी अखाड़ेमें व्यायाम करते हुए यदि शरीर सूखा है, तैलादिसे चिकना व भीगा नहीं है तौ अखाड़ेकी मिट्टी शरीरमें प्रवेश नहीं करेगी अर्थात् शरीरमें न बंधेगी किन्तु यदि तैलादिकी चिकनई होगी तो अवश्य वहांकी मिट्टी शरीरमें चिपटजायगी। इसीतरह मन वचन कायकी क्रिया करते व जानपनेका काम करते हुए व वाहरी सामग्रीके होते हुए यदि परिणाममें राग द्वेष मोह नहीं है तो आत्माके नए कर्मोंका बंध न पड़ेगा और यदि राग द्वेष मोह होगा तौ अवश्य बंध होगा। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र आचार्यने **समयसार कलशमें** कहा है—

न कर्म्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्म वा-
ननेककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ॥
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥२-८॥

भाव यह है कि कार्मणवर्गणाओंसे भरा हुआ जगत बंधका कारण नहीं है। न हलनचलन रूप मन, वचन, कायके योग बंधके कारण हैं। न अनेक शरीर इंद्रियें व बाहरी पदार्थ बंधके कारण हैं। न चेतन, अचेतनका वध बंधका कारण है। जो उपयोगकी भूमिका रागादिसे एकताको प्राप्त हो जाती है वही राग, द्वेष, मोह, भावकी कालिमा जीवोंके लिये मात्र बंधकी कारण है।

श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेशमें कहते हैं:-

मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत ॥ २६ ॥

भाव यह है कि जो जीव ममता सहित है वह बंधता है। जो जीव ममता रहित है वह बंधसे छूटता है। इसलिये सर्व प्रयत्न करके निर्ममत्व भावका विचार करो।

श्री गुणभद्राचार्य श्री आत्मानुशासनमें कहते हैं

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बंधः प्रवृत्यवृत्तिभ्याम् ।
तत्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥

भाव यह है कि इस जीवके, रागद्वेषसे करी हुई प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे तो बंध होता है। परन्तु तत्वज्ञान पूर्वक की हुई प्रवृत्ति और निवृत्तिसे कर्मोंसे मुक्ति होती है।

रागद्वेष अथवा कषाय चार प्रकारके होते हैं-

अनन्तानुबंधी जो मिथ्यात्वके सहकारी हों और सम्यक्त तथा स्वरूपाचरण चारित्रको रोकें।

अप्रत्याख्यानावरणीय-जो श्रावकके एक देश त्यागको न होने दे।

प्रत्याख्यानावरणीय-जो मुनिके सर्वदेश त्यागको न होने दे।

संज्वलन-यथाख्यातचारित्रको न होने दे।

मिथ्यात्वको मोह कहते हैं। जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्मा है वह हरएक कर्मके उदयमें अच्छी तरह राग व द्वेष करता है तथा रागद्वेष सहित ही पदार्थोंको जानता है। जानकर भी रागद्वेष करता है। यह मोही जीव शरीर व शरीरके इन्द्रिय जनित सुखको ही उपादेय मानता है तथा उसकी उत्पत्तिके कारणोंमें राग और उसके विरोधके कारणोंमें द्वेष करता है। इस लिये विशेष कर्मोंका बन्ध यह मिथ्यादृष्टी ही करता है। अनंत संसारमें भ्रमणका कारण यह मिथ्याभाव है। जिसके अनंतानुबंधी कषायके साथ दर्शन मोह चला जाता है वह सम्यग्दृष्टी व सम्यग्ज्ञानी हो जाता है। तब मात्र बारह प्रकारकी कषायका उदय रहता है। सम्यग्दृष्टीके अंतरंगमें परम वैराग्य भाव रहता है, वह अतीन्द्रिय आनन्दको ही उपादेय मानता है-आत्मस्वरूपमें वर्तन करनेकी ही रुचि रखता है। तौ भी जैसा जैसा कषायोंका उदय होता है वैसा वैसा अधिक या कम रागद्वेष होता है। सम्यक्ती इस परिणतिको भी मिटाना चाहता है, परंतु आत्मशक्तिकी व ज्ञानशक्तिकी प्रबलता विना रागद्वेषको बिलकुल दूर नहीं

करसक्ता। इसलिये जितना जितना रागद्वेष होता है उतना उतना कर्मोका बंध होता है। प्रमत्तसंयत नामके छटे गुणस्थानतक बुद्धि पूर्वक रागद्वेष होते हैं पश्चात् ध्याता मुनिके अनुभवमें न आने योग्य रागद्वेष दसवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थान तक होते हैं, इसीसे वहीं तक जघन्य मध्यमादि स्थितिको लिये हुए कर्मोका बंध होता है। उसके आगे बंध नहीं होता है। यहीं तक सांपरायिक आश्रव है। आगे जहांतक योगोंका चलन है वहां तक ईर्यापथ आश्रव होता है जो एक समयकी स्थिति धारक साता वेदनीय कर्मोको लाता है। ११वें, १२वें, तेरवें गुणस्थानोंमें बंध नाममात्रसा है। रागद्वेष मोहके अभावसे बंध नहीं है, ऐसा जानकर रागद्वेष मोहके दूर करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे यह आत्मा अबन्ध अवस्थाको प्राप्त हो जावे।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि केवली अरहंत भगवानोंके तेरहवें सयोग गुणस्थानमें रागद्वेष आदि विभावोंका अभाव है इस लिये धर्मोपदेश विहार आदि भी बंधका कारण नहीं होता है।

ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले, मायाचारोव्व इच्छीणं॥ ४४॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम्।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम्॥ ४४॥

सामान्यार्थ–उन अर्हंत भगवानोंके अर्हंत अवस्थामें उठना, बैठना, विहार तथा धर्मोपदेश स्त्रियोंके मायाचारकी तरह स्वभावसे होते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेसिं अरहंताणं) उन केवलज्ञानके धारी निर्दोष जीवन्मुक्त सशरीर अरहंत परमात्माओंके (काले) अर्हंत अवस्थामें (ठाणणिसेज्जविहारा) ऊपर उठना अर्थात् खड़े होना, बैठना, विहार करना (य धम्मुवदेसः) और धर्मोपदेश इतने व्यापार (णियदयः) स्वभावसे होते हैं। इन कार्योंके करनेमें केवली भगवान्‌की इच्छा नहीं प्रेरक होती है मात्र पुद्गल कर्मका उदय प्रेरक होता है। (इच्छीणं) स्त्रियोंके भीतर (मायाचारोव्व) जैसे स्वभावसे कर्मके उदयके असरसे मायाचार होता है। भाव यह है कि जैसे स्त्रियोंके स्त्रीवेदके उदयके कारणसे प्रयत्नके विना भी मायाचार रहता है तैसे भगवान अर्हंतोंके शुद्ध आत्मतत्वके विरोधी मोहके उदयसे होनेवाली इच्छापूर्वक उद्योगके विना भी समवशरणमें विहार आदिक होते हैं अथवा जैसे मेघोंका एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना, ठहरना, गर्जना जलका वर्षणा आदि स्वभावसे होता है तैसे जानना। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह रागद्वेषके अभाव होते हुए विशेष क्रियाएं भी बन्धकी कारण नहीं होती हैं।

भावार्थ-इस गाथाकी पहली गाथामें आचार्यने बताया था कि कर्म बन्धके कारण रागद्वेष मोह हैं। न तो ज्ञान है, न पिछले कर्मोंका उदय है। इसी बातको दृष्टान्त रूपसे इस गाथामें सिद्ध किया है। केवलीभगवान पूर्ण ज्ञानी हैं तथा राग द्वेष मोहसे सर्वथा शून्य हैं परन्तु उनके चार अघातिया कर्मोंकी बहुतसी प्रकृतियोंका उदय मौजूद है जिससे कर्मोंके असरसे बहुतसी क्रियाएं केवली भगवानके वचन और काय योगोंसे होती हैं तो

भी केवलीभगवानके कर्मोका बंध नहीं होता, क्योंकि न तो उनके उन कार्योंके करनेकी इच्छा ही है और न वे कार्य केवली भगवानमें मोह उत्पन्न करनेके कारण होसके हैं। केवली महाराज जब विहार करते हैं तब खड़े होकर विना डग भरे आकाशमें चलते हैं। जब समवशरण रचता है तब कमलाकार सिंहासनपर अंतरीक्ष बैठते हैं। चलना, खड़े होना तथा बैठना ये तो शरीरकी क्रियाएं हैं तथा अपनी परम शांत अमृतमई दिव्यवाणीके द्वारा मेघकी गर्जनाके समान निरक्षरी ध्वनि प्रगट करके धर्मका उपदेश देना यह वचनकी क्रिया है। ऐसे काय और वचन योगके प्रगट व्यापार हैं। इसके सिवाय शरीरमें नोकर्म वर्गणाका ग्रहण, पुरातन वर्गणाका क्षरना, काय योगका वर्तना, शरीरके अवयवोंका पुष्टि पाना आदि अनेक शरीर सम्बन्धी कार्य कर्मोंके उदयसे होते हैं। इन कार्योंमें केवली महाराजके रागयुक्त उपयोगकी कुछ प्रेरणा या चेष्टा नहीं है इसीसे केवली महाराजकी क्रियाएं बिलकुल बंधकी करनेवाली नहीं हैं। यहांपर गाथामें विना इच्छाके कर्मजन्य क्रियाके लिये स्त्रीके मायाचारमई स्वभावका दृष्टांत दिया है, जिसका भाव यह है कि स्त्री पर्यायमें स्त्री वेदका उदय अधिकांशमें तीव्र होता है जिससे भोगकी इच्छा सदा भीतरमें जलती रहती है उसीके साथ माया कषायका भी तीव्र उदय होता है जिससे अन्य कार्योंको करते हुए स्त्रियोंमें अपने हावभाव विलास व अपनी शोभा दिखलानेकी चेष्टा रहती है कि पुरुष हमपर प्रेमालु हों—ऐसा मायाचारका स्वभावसा स्त्रियोंका होता है जिसका मतलब यह है कि अभ्यास और संस्कार व तीव्र कर्मोंके

उदयसे मायाचारका भाव बुद्धिपूर्वक करते हुए भी स्त्रियोंमें मायाचार रूप भाव और वर्तन हो जाता है। यह बात अधिकतर स्त्रियोंमें पाई जाती है इसीसे आचार्यने बताया है कि जैसे स्त्रियोंके मायाचार कर्मोंके उदयके कारणसे स्वभावसे होता है वैसे स्वभावसे ही केवलीके कर्मोंके उदयके द्वारा विहारादिक होते हैं। वृत्तिकारने मेघोंका दृष्टांत दिया है कि जैसे मेघ स्वभावसे ही लोगोंके पाप पुण्यके उदयसे चलते, ठहरते, गर्जते तथा वर्षते हैं वैसे केवली भगवानका विहार व धर्मोपदेश स्वभावसे होता है तथा इसमें भव्यजीवोंके पापपुण्यका उदयका भी निमित्त पड़ जाता है। जहांके लोगोंके पापका उदय तीव्र होता है वहां केवली महाराजका न विहार होता है न धर्मोपदेश, किन्तु जहांके जीवोंका तीव्र पुण्यका उदय होता है वहां ही केवली महाराजका विहार तथा धर्मोपदेश होता है। विना इच्छाके पुद्गलकी प्रेरणासे बहुतसी क्रियाएं हमारे शरीर व वचनमें भी होजाती हैं। जैसे श्वांसका लेना, चारों तरफकी हवा व परमाणुओंका शरीरमें प्रवेश, भोजन पानका शरीरमें गलन, पचन, रुधिर मांसादि निर्मापन, रोगोंकी उत्पत्ति, आंखोंका फड़कना, छींक आना, जमाई आना, शरीरका बढ़ना, बालोंका उगना भूख प्यासका लगना, इंद्रियोंका पुष्ट होना, मार्गमें चलते चलते पूर्व अभ्याससे विना चाहे हुए मार्गकी तरफ चले जाना, स्वप्न व निद्रामें चौंक उठना, बड़बड़ाना, बोलना, अभ्यासके बलसे अन्य विचार करते हुए मुखसे अभ्यस्त पाठोंका निकलजाना आदि। इनको आदि लेकर हजारों वचन व कायके व्यापार हमारी अबुद्धि

पूर्वक विना इच्छाके होते हैं। हम इनमेंसे बहुतसे व्यापारोंके होनेकी व न होनेकी पहलेसे भावना रखते हैं तथा उनके होनेपर किन्हींमें राग व किन्हींमें द्वेष करते हैं इससे हम कर्मबंधको प्राप्त होते हैं। जैसे हम सदा निरोगतासे राग करते तथा सरोगतासे द्वेष करते हैं, पौष्टिक इन्द्रियोंकी चाह रखते हैं, निर्बलतासे द्वेष करते हैं। जब हमारी इस चाहके अनुसार काम होता है तो और अधिक रागी होजाते हैं। यदि नहीं होता है तब और अधिक द्वेषयुक्त होजाते हैं। इस कारणसे यद्यपि हमारे भीतर भी बहुतसी क्रियायें उस समय विशेष इच्छाके विना मात्र कर्मोंके उदयसे हो जाती हैं तथापि हम उनके होते हुए रागद्वेष मोह कर लेते हैं इससे हम अल्पज्ञानी अपनी कषायोंके अनुसार कर्मबंध करते हैं। केवली भगवानके भीतर मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव है इस कारण उनमें न किसी क्रियाके लिये पहले ही वांछा होती है न उन क्रियाओंके होनेपर रागद्वेष मोह होता है इस कारण जिनेन्द्र भगवान कर्मबंध नहीं करते हैं।

जैसे जिनेन्द्र भगवान कर्मबन्ध नहीं करते हैं वैसे उनके भक्त जिन जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ या मुनि हैं वे भी संसारका कारणीभूत कर्मबंध नहीं करते हैं-जितना कषायका उदय होता है उसके अनुसार अल्पकर्मबंध करते हैं जो मोक्ष मार्गमें बाधक नहीं होता है। सम्यग्दृष्टी तथा मिथ्यादृष्टी प्रगट व्यवहारमें व्यापार, कृषि, शिल्प, खान, पान, भोगादि समान रूपसे करते हुए दिखाई पड़ते हैं तथापि मिथ्यादृष्टी उनमें आशक्त है इससे संसारका कारण कर्म बांधता है। किंतु सम्यग्दृष्टी उनमें आशक्त नहीं है

किंतु भीतरसे नहीं चाहता है, मात्र आवश्यक्ता व कर्मके तीव्र उदयके अनुसार लाचारीसे क्रियायें करता है इसी कारण वह ज्ञानी संसारके कारण कर्मोंको नहीं बांधता है—बहुत अल्प कर्म बांधता है जिसको आचार्योंने प्रशंसारूप वचनोंके द्वारा अबंध कह दिया है। प्रयोजन यह है कि बंध कषायोंके अनुकूल होता है। एक ही कार्यके होते हुए जिसके कषाय तीव्र वह अधिक व जिसके कषाय मंद वह कम पाप बांधता है। एक स्वामीने किसी सेवकको किसी पशुके बधकी आज्ञा दी। स्वामी वध न करता हुआ भी रागकी तीव्रतासे अधिक पापबंध करता है जब कि सेवक यदि मनमें बधसे हेय बुद्धि रखता है और स्वामीकी आज्ञा पालनेके हेतु बध करता है तो स्वामीकी अपेक्षा कम पाप बंध करता है। रागद्वेषके अनुसार ही पाप पुण्यका बंध होता है।

श्रीआत्मानुशासनमें श्रीगुणभद्रस्वामी कहते हैं—

द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥ १८१ ॥

भावार्थ—रत्नत्रयादि गुणोंमें द्वेष व मिथ्यात्वादि दोषोंमें रागकी बुद्धि निश्चयसे पापबंध करती है। तथा इससे विपरीत गुणोंमें राग व दोषोंसे द्वेषकी बुद्धि पुण्य बंध करती है तथा गुण दोषोंमें रागद्वेष रहित वीतराग बुद्धि पाप पुण्यसे जीवको मुक्त करती है।

तात्पर्य यह है कि रागद्वेष मोहको ही बंधका कारण जानकर इनहीके दुर करनेके प्रयोजनसे शुद्धोपयोगमय स्वसंवेदन ज्ञान रूप स्वानुभवका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है।

उत्थानिका—आगे पहले जो कह चुके हैं कि रागादि रहित कर्मोंका उदय तथा विहार आदि क्रिया बंधका कारण नहीं होते हैं उसी ही अर्थको और भी दूसरे प्रकारसे दृढ़ करते हैं। अथवा यह बताते हैं कि अरहंतोंके पुण्यकर्मका उदय बन्धका कारण नहीं है।

पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा।
मोहादीहिं विरहिदा, तम्हा सा खाइगत्ति मदा ॥४५॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥४५॥

सामान्यार्थ—तीर्थंकर स्वरूप अरहंत पुण्यके फलसे होते हैं तथा निश्चयसे उनकी क्रिया भी औदयिकी है अर्थात् कर्मोंके उदयसे होती है मोह आदि भावोंसे शून्य होनेके कारण वह क्रिया क्षायिकी कही गई है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(अरहंता) तीर्थंकरस्वरूप अरहंतभगवान (पुण्णफला) पुण्यके फलस्वरूप हैं-अर्थात् पंच महा कल्याणकी पूजाको उत्पन्न करनेवाला तथा तीन लोकको जीतनेवाला जो तीर्थंकर नाम पुण्यकर्म उसके फलस्वरूप अर्हंत तीर्थंकर होते हैं। (पुणः) तथा (तेसिं) उन अरहंतोंकी (किरिया) क्रिया अर्थात् दिव्य ध्वनिरूप वचनका व्यापार तथा विहार आदि शरीरका व्यापाररूप क्रिया (हि) प्रगटरूपसे (ओदयिगा) औदयिक है। अर्थात् क्रिया रहित जो शुद्ध आत्मतत्व उससे विपरीत जो कर्म उसके उदयसे हुई है। (सा) वह क्रिया (मोहा-

दीहिं) मोहादिकोंसे अर्थात् मोह रहित शुद्ध आत्मतत्वके रोकने- वाले तथा ममकार अहंकारके पैदा करनेको समर्थ मोह आदिसे (विरहिदा) रहित है (तम्हा) इसलिये (खाइगत्ति) क्षायिक है अर्थात् विकार रहित शुद्ध आत्मतत्वके भीतर कोई विकारको न करती हुई क्षायिक ऐसी (मदा) मानी गई है।

यहांपर शिष्यने प्रश्न किया कि जब आप कहते हैं कि कर्मोंके उदयसे क्रिया होकर भी क्षायिक है अर्थात् क्षयरूप है नवीन बन्ध नहीं करती तब क्या जो आगमका वचन है कि " औद- यिकाः भावाः बन्धकारणम् " अर्थात् औदयिक भाव बंधके कारण हैं, वृथा हो जायगा ? इस शंकाका समाधान आचार्य करते हैं कि औदयिक भाव बन्धके कारण होते हैं यह बात ठीक है परन्तु वे बन्धके कारण तब ही होते हैं जब वे मोह भावके उदय सहित होते हैं। कदाचित् किसी जीवके द्रव्य मोह कर्मका उदय हो तथापि जो वह शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे भाव मोहरूप न परिणमन करे तो बन्ध नहीं होवे और यहां अर्हंतोंके तो द्रव्य मोहका सर्वथ अभाव ही है। यदि ऐसा माना जाय कि कर्मोंके उदय मात्रसे बन्ध होजाता है तब तो संसारी जीवोंके सदा ही कर्मोंके उदयसे सदा ही बन्ध रहेगा कभी भी मोक्ष न होगी। सो ऐसा कभी नहीं होसक्ता इसलिये मोहके उदयरूप भावके विना क्रिया बंध नहीं करती किन्तु जिस कर्मके उदयसे जो क्रिया होती है वह कर्म झड़ जाता है। इसलिये उस क्रियाको क्षायिकी कह सक्ते हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें भी आचार्य महाराजने इसी बातका

दृष्टांत दिया है कि कर्मोदय मात्र नवीन बंध नहीं करसक्ता। कर्मोंके उदय होनेपर जो जीव उस उदयकी अवस्थामें राग, द्वेष मोह करता है वही जीव बंधता है। तीर्थंकर भगवानका दृष्टांत है कि तीर्थंकर महाराजके समवशरणकी रचना होनी, आठ प्रतिहार्य्य होने, इन्द्रादिकों द्वारा पूजा होनी, विहार होना, ध्वनि प्रगट होनी आदि जो जो कार्य्य दिखलाई पड़ते हैं उनमें कर्मोंका उदय कारण है। मुख्यतासे तीर्थंकर नाम कर्मका उदय है तथा गौणतासे उसके साथ साता वेदनीय आदिका उदय है, परंतु तीर्थंकर महाराजकी आत्मा इतनी शुद्ध तथा विकार रहित है कि उसमें कोई प्रकारकी इच्छा व रागद्वेष कभी पैदा नहीं होता। वह भगवान अपने आत्माके स्वरूपमें मग्न हैं। आत्मीक रसका पानकर रहे हैं। उनके ज्ञानमें सर्व क्रियाएं उदासीन रूपसे झलक रही हैं उनका उनमें किंचित भी राग नहीं है क्योंकि रागका कारण मोहनीय कर्म है सो प्रभुके बिलकुल नहीं है। प्रभुकी अपेक्षा समवशरण रहो चाहे वन रहो, बारह सभा जुड़ो या मत जुड़ो, देवगण चमरादिसे भक्ति करो वा मत करो, इन्द्र व चक्रवर्ती आदि आठ द्रव्योंसे पूजा व स्तुति करो वा मत करो, विहार हो वा मत हो सर्व समान हैं। कर्मोंके उदयसे क्रियाएं होती है सो हों। वे क्रियाएं आत्माके परिणामोंमें विकार नहीं करती हैं मात्र कर्म अपना रस देकर अर्थात् अपना कार्य करके चले जाते हैं। झड़ जाते हैं। क्षय होजाते हैं। इस अपेक्षासे यह औदयिक क्रिया क्षायिक क्रिया कहलाती है।

अभिप्राय यह है कि आठ कर्मोंमेंसे मोहनीय कर्म ही प्रबल

है यही अपने उदयसे निर्बल आत्मामें विकार पैदा कर सक्ता है। जब इसका उदय नहीं है वहां अन्य कर्मका उदय हो वा मत हो, आत्माका न कुछ बिगाड़ है न सुधार है। ऐसा जानकर कि मोह रागद्वेष ही बन्धके कारण हैं हम छद्मस्थ संसारी जीवोंका यह कर्त्तव्य है कि हम इनको दूर करनेके लिये निरन्तर शुद्ध आत्माकी भावना रक्खें तथा साम्यभावमें वर्तन करें तथा जब जब पाप या पुण्यकर्म अपना अपना फल दिखलावें तब तब हम उन कर्मोंके फलमें रागद्वेष न करें-समताभावसे ज्ञाता दृष्टा रहते हुए भोगलें, इसका फल यह होगा कि हमारे नवीन कर्म बन्ध नहीं होगा-अथवा यदि होगा तो बहुत अल्प होगा तथा हमारे भावोंमें पापके उदयसे आकुलता और पुण्यके उदयसे उद्धतता नहीं होगी। जो पापके उदयमें मैं दुःखी ऐसा भाव तथा पुण्यके उदयमें मैं सुखी ऐसा अहंकारमई भाव करता है वही विकारी होता है और तीव्र बन्धको प्राप्त करता है। अतएव हमको साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये ॥ ४५ ॥

उत्थानिका-आगे जैसे अरहंतोंके शुभ व अशुभ परिणामके विकार नहीं होते हैं वैसे ही एकान्तसे संसारी जीवोंके भी नहीं होते ऐसे सांख्यमतके अनुसार चलनेवाले शिष्यने अपना पूर्वपक्ष किया उसको दूषण देते हुए समाधान करते हैं-अथवा केवली भगवानोंकी तरह सर्व ही संसारी जीवोंके स्वभावके घातका अभाव है इस बातका निषेध करते हैं-

जदि सो सुहो व असुहो, ण हवदि आदा सयं सहावेण।

संसारो वि ण विज्जदि, सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन ।
संसारोपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ॥४६॥

सामान्यार्थ—यदि यह आत्मा अपने स्वभावसे स्वयं शुभ या अशुभ न होवै तो सर्व जीवोंको संसार ही न होवै।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (सः आदा) वह आत्मा (सहावेण) स्वभावसे (सयं) आप ही (सुहः) शुभ परिणामरूप (व असुहः) अथवा अशुभ परिणाम रूप (ण हवदि) न होवै। अर्थात् जैसे शुद्ध निश्चय नय करके आत्मा शुभ या अशुभ भावोंसे नहीं परिणमन करता है तैसे ही अशुद्ध नयसे भी स्वयं अपने ही उपादान कारणसे अर्थात् स्वभावसे अथवा अशुद्ध निश्चयसे भी यदि शुभ या अशुभ भावरूप नहीं परिणमन करता है। ऐसा यदि मानाजावे तो क्या दूषण आएगा उसके लिये कहते हैं कि (सव्वेसिं जीवकायाणं) सर्व ही जीव समूहोंको (संसारोवि ण विज्जदि) संसार अवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् संसार रहित शुद्ध आत्मस्वरूपसे प्रति-पक्षी जो संसार सो व्यवहारनयसे भी नहीं रहेगा।

भाव यह है कि आत्मा परिणमनशील है। वह कर्मोंकी उपाधिके निमित्तसे स्फटिकमणिकी तरह उपाधिको ग्रहण करता है इस कारण संसारका अभाव नहीं है। अब कोई शंकाकार कहता है कि सांख्योंके यहां संसारका अभाव होना दूषण नहीं है किन्तु भूषण ही है। उसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं

है। क्योंकि संसारके अभावको ही मोक्ष कहते हैं सो मोक्ष संसारी जीवोंके भीतर नहीं दिखलाई पड़ती है इसलिये प्रत्यक्षमें विरोध आता है। ऐसा भाव है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्य संसारी जीवोंकी ओर लक्ष्य देते हुए कहते हैं कि केवली भगवानके सिवाय अन्य संसारीजीव शुद्ध केवलज्ञानी नहीं हैं। यहां पर जहांसे अप्रमत्त अवस्था प्रारम्भ होकर यह जीव क्षपक श्रेणी द्वारा क्षीण मोह गुणस्थान तक आता है उस अवस्थाके जीवोंको भी छोड़ दिया है क्योंकि वे अंतर्मुहूर्तमें ही केवली होंगे। तथा उपशम श्रेणीवालोंको भी छोड़ दिया है क्योंकि वहां बुद्धिपूर्वक जीवोंमें शुद्धोपयोग रहता है। प्रमत्त गुणस्थान तक कषायका उदय प्रगट रहता है। इसलियें शुभ या अशुभरूप परिणमन वहांतक संभव है। क्योंकि अधिकांश जीव समूह मिथ्यादृष्टी हैं। इसलिये उनहीकी ओर विशेष लक्ष्य देकर आचार्य कथन करते हैं कि यदि सांख्यके समान संसार अवस्थामें जीवोंको सर्वथा शुद्ध और निर्लेप मान लोगे तो सर्व संसारी जीव पूर्ण शुद्ध सदा रहेंगे सो यह बात प्रत्यक्षमें देखनेमें नहीं आती है। संसारी जीव कोई अति अल्प कोई अल्प कोई उससे अधिक ज्ञानी व शांत दीखते हैं। मुक्त जीवके समान त्रिकालज्ञ त्रिलोकज्ञ वीतराग तथा आनन्दमई नहीं दिख रहे हैं तब सर्वथा व्यवहारमें भी जीवोंको शुद्ध और अपरिणामी कैसे माना जासक्ता है।? यदि सब शुद्ध माने जावें तब मुक्तिका उपदेश देना ही व्यर्थ हो जायगा। तथा जब संसारी जीव परिणमनशील न होगा तो दुःखी या सुखी कभी नहीं हो

सक्ता। जड़वत् एक रूप पड़ा रहेगा, सो यह बात द्रव्यके स्वभावसे भी विरोधरूप है। आत्मा संसार अवस्थामें जब उस आत्माको पर्याय या अवस्थाकी अपेक्षा देखा जावे तब वह अशुद्ध कर्म बद्ध, अज्ञानी, अशांत आदि नाना अवस्थारूप दीखेगा, हां जब मात्र स्वभावकी अपेक्षासे देखें तो केवल शुद्ध रूप दीखेगा। शुद्ध निश्चयनय जैनसिद्धान्तमें द्रव्यके त्रिकाल अबाधित शुद्ध स्वभावकी ओर लक्ष्य दिलाती है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हरएक संसार पर्याय ही शुद्ध रूप है। जब जीवकी संसार अवस्थाको देखा जाता है तब उस दृष्टिको अशुद्ध या व्यवहार दृष्टि या नय कहते हैं। उस दृष्टिसे देखते हुए यही दिखता है कि यह जीव अपने शुद्ध स्वभावमें नहीं है। यद्यपि यह स्फटिकमणिके समान स्वभावसे शुद्ध है तथापि कर्मबंधके कारणसे इसका परिणमन स्फटिकमें लाल, काले, पीले डाकके सम्बन्धकी तरह नाना रंगका विचित्र झलकता है। जब यह अशुभ या तीव्र कषायके उदयरूप परिणमन करता है तब यह अशुभ परिणामवाला और जब शुभ या मंद कषायके उदयरूप परिणमन करता है तब शुभ परिणामवाला स्वयं स्वभावसे अर्थात् अपनी उपादान शक्तिसे होजाता है। जैसे फटिकका निर्मल पाषाण लाल डाकसे लाल रंगरूप या काले डाकसे काले रंगरूप परिणमन करता है वैसे यह परिणमनशील आत्मा तीव्र कषायके निमित्तसे अशुभरूप तथा मंद कषायके निमित्तसे शुभरूप परिणमन करजाता है। उस समय जैसे फटिकका निर्मल स्वभाव तिरोहित या ढक जाता है वैसे आत्माका शुद्ध स्वभाव तिरोहित होजाता है।

पर्याय हरएक द्रव्यमें एक समय एकरूप रहसक्ती हैं। शुद्ध और अशुद्ध दो पर्यायें एक समयमें नहीं रह सक्ती हैं। संसार अवस्थामें मुख्यतासे जीवोंमें अधिकांश अशुद्ध परिणमन तथा मुक्तावस्थामें सर्व जीवोंके शुद्ध परिणमन रहता है। यह जीव आप ही अपने परिणामोंमें कभी शुभ या अशुभ परिणामवाला होजाता है। इसीसे इसके रागद्वेष मोह भाव होते हैं। जिन भावोंके निमित्तसे यह जीव कर्मोंका बंध करता है और फिर आप ही उनके फलको भोक्ता है, फिर आप ही शुद्ध परिणमन के अभ्याससे शुद्ध होजाता है। सांख्यकी तरह अपरिणामी माननेसे संसार तथा मोक्ष अवस्था कोई नहीं बन सक्ती है। परिणामी माननेसे ही जीव संसारी रहता तथा संसार अवस्थाको त्यागकर मुक्त होजाता है।

श्री अमृतचंद्र आचार्यने श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें कहा है।

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसंतत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥ १०॥
सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न॥ ११

भाव यह है कि अनादि परिपाटीसे ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके निमित्तसे नित्य ही परिणमन करता हुआ यह जीव अपने ही शुभ अशुभ परिणामोंका कर्त्ता तथा भोक्ता हो जाता है। जब यह आत्मा सर्व आवरणोंसे उतरे हुए शुद्ध निश्चल चैतन्य भावको

प्राप्त करता है तब यह भले प्रकार अपने पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त होता हुआ कृतकृत्य कृतार्थ तथा सुखी हो जाता है।

इस तरह संसारी छद्मस्थोंके स्वभावका घात हो रहा है ऐसा जानकर शुभोपयोग तथा अशुभोपयोगको त्यागकर शुद्धोपयोग अथवा साम्यभावमें परिणमन करना योग्य है जिससे कि आत्मा केवलज्ञानीकी तरह शुद्ध निर्विकार तथा अबन्ध हो जावे यह तात्पर्य है।

इस तरह यह बताया कि राग द्वेष मोह बन्धके कारण हैं, ज्ञान बंधका कारण नहीं है इत्यादि कथन करते हुए छठे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ४६ ॥

उत्थानिका-आगे कहेंगे कि केवलज्ञान ही सर्वज्ञका स्वरूप है। फिर कहेंगे कि सर्वको जानते हुए एकका ज्ञान होता है तथा एकको जानते हुए सर्वका ज्ञान होता है इस तरह पांच गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। उनमेंसे प्रथम ही यह निरूपण करते हैं। क्योंकि यहां ज्ञान प्रपंचके व्याख्यानकी मुख्यता है इसलिये उसहीको आगे लेकर फिर कहते हैं कि केवलज्ञान सर्वज्ञ रूप है।

जं तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

यत्तात्कालिकमितरं जानाति युगपत्समन्ततः सर्वम्।
अर्थं विचित्रविषमं तत् ज्ञानं क्षायिकं भणितम् ॥४७॥

सामान्यार्थ-जो सर्वांगसे वर्तमानकालकी व उससे भिन्न

भूत भविष्यकालकी पर्याय सहित सर्व ही विचित्र और अनेक जातिके पदार्थको एक ही समयमें जानता है वह ज्ञान क्षायिक कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जं) जो ज्ञान (समंतदः) सर्व प्रकारसे अथवा सर्व आत्माके प्रदेशोंसे (विचित्तविसमं) नांना भेदरूप अनेक जातिके मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन आदि (सव्वं अत्थं) सर्व पदार्थोंको (तक्कालियम्) वर्तमानकाल संबंधी तथा (इदरं) भूत भविष्य काल सम्बन्धी पर्यायों सहित (जुगवं) एक समयमें व एक साथ (जाणदि) जानता है। (तं णाणं) उस ज्ञानको (खाइयं) क्षायिक (भणियं) कहा है। अभेद नयसे वही सर्वज्ञका स्वरूप है इसलिये वही ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत सर्व तरहसे प्राप्त करने योग्य है इस रूपसे भावना करनी चाहिये। यह तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको प्रगट किया है और यह बतलाया है कि ज्ञानका पूर्ण और स्वाभाविक कार्य इसी अवस्थामें झलकता है। जब सर्व ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय हो जाता है तब ही केवलज्ञान प्रगट होता है। फिर यह हो नहीं सक्ता कि इस ज्ञानसे बाहर कोई भी ज्ञेय रह जावे। इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहा है कि जगतमें पदार्थ समूह अनंत हैं और वे सब एक जातिके व एक प्रकारके नहीं हैं किंतु भिन्न २ जाति व भिन्न २ प्रकारके हैं। विसम शब्दसे यह द्योतित किया है कि जगतमात्र चेतन स्वरूप ही नहीं है, न मात्र अचेतन स्वरूप है किंतु चेतन अचेतन स्वरूप है। जितने जीव हैं वे चेतन

हैं जितने पुद्गल आदि पांच द्रव्य हैं वे अचेतन हैं। तथा न केवल मूर्तीक ही हैं न मात्र अमूर्तीक ही हैं किंतु पुद्गल सब मूर्तीक हैं, शेष पांच द्रव्य अमुर्तीक हैं। विचित्र शब्दसे यह बताया है कि जीव जगतमें एक रूप नहीं हैं कोई मुक्त हैं कोई संसारी हैं, संसारियोंमें भी चतुर्गति रूपसे भिन्नता है। एक गतिमें भी अनेक विचित्र रचना जीवोंके शरीरादिककी उनके भिन्न २ कर्मोंके उदयसे हो रही हैं। केवलज्ञानमें यह शक्ति है कि सर्व सजाति विजातीय द्रव्योंको उनके विचित्र भेदों सहित जानता है। उस ज्ञानमें निगोदसेले सिद्ध पर्यंत सर्व जीवोंका स्वरूप अलग २ उनके आकारादि भिन्न २ दिख रहे हैं वैसे ही पुद्गल द्रव्यकी विचित्रता भी झलक रही है। परमाणु और स्कंध रूपसे दो भेद होनेपर भी सचिक्कणता व रूक्षताके अंशोंकी भिन्नताके कारण परमाणु अनंत प्रकारके हैं। दो परमाणुओंके स्कंधको आदि लेकर तीनके, चारके, इसी तरह संख्यातके असंख्यातके व अनंत परमाणुओंके नाना प्रकारके स्कंध बन जाते हैं जिनमें विचित्र काम करनेकी शक्ति होती है। उन सर्व स्कंधोंको व परमाणुओंको केवलज्ञान भिन्न२ जानता है। इसी तरह असंख्यात कालाणु, एक अखंड धर्मास्तिकाय एक अखंड अधर्मास्तिकाय तथा एक अखंड आकाशास्तिकाय ये सब द्रव्य जिनमें सदा स्वाभाविक परिणमन ही होता है उस निर्मलज्ञानमें अलग २ दिख रहे हैं। प्रयोजन यह है कि यह विचित्र नाना प्रकार व जातिका जगत 'अर्थात् जगतके सर्व पदार्थ ज्ञानमें प्रगट हैं। कालापेक्षा भी वह ज्ञान हरएक द्रव्यकी सर्वभूत, भवि-

ष्यत, वर्तमान पर्यायोंको वर्तमानके समान जानता है। तथा इस ज्ञानमें शक्ति इतनी अपूर्व है कि यह ज्ञान मति ज्ञानादि क्षयोपशमिक ज्ञानोंकी तरह क्रम क्रमसे नहीं जानता है किन्तु एक साथ एक समयमें सर्व पदार्थोंकी सर्व पर्यायोंको अलग अलग जानता है। केवलज्ञानका आकार आत्माके प्रदेशोंके समान है। आत्मामें असंख्यात प्रदेश हैं। केवलज्ञान सर्वत्र व्यापक है। हरएक प्रदेशमें केवलज्ञान समान शक्तिको रखता है। जैसे अखंड आत्मा केवलज्ञानमई सर्वज्ञेयोंको जानता है वैसे एक एक केवल ज्ञानसे सना हुआ आत्मप्रदेश भी सवज्ञेयोंको जानता है। इस केवलज्ञानकी शक्तिका महात्म्य वास्तवमें हम अल्पज्ञानियोंके ध्यानमें नहीं आसक्ता है। इसका महात्म्य उनहींके गोचर है जो स्वयं केवलज्ञानी हैं। हमको यही अनुमान करना चाहिये कि ज्ञानमें हीनता आवरणसे होती है जब सर्व कर्मोंका आवरण क्षय होगया तब ज्ञानके विकाशके लिये कोई रुकावट नहीं रही। तव ज्ञान पूर्ण अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष, स्वाभाविक होगया। फिर भी उसके ज्ञानसे कुछ ज्ञेय शेष रहजाय यह असंभव है। इस ज्ञानमें तो ऐसी शक्ति है कि इस जगतके समान अनंते जगत भी यदि होवें तो इस ज्ञानमें झलक सक्ते हैं। ऐसा अद्भुत केवलज्ञान जहां प्रगट है वहीं सर्वज्ञपना है तथा वहीं पूर्ण निराकुलता और पूर्ण वीतरागता है क्योंकि विना मोहनीयका नाश भये ज्ञानका आवरण मिटता नहीं। इसलिये जब सर्व जान लिया तब किसीके जाननेकी इच्छा हो नहीं सक्ती। तथा इन्द्रियाधीन ज्ञान जैसे नहीं रहा वैसे इन्द्रियाधीन विषय सुखका भी यहां अभाव है।

यहां आत्मामें स्वाभाविक अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्रगट होगयो है। केवलज्ञान और अनंत सुखका अविनाभाव सम्बन्ध है। संसारी जीव जिस सुखको न पाकर सदा वनमें जलके लिये भटकते हुए मृगकी तरह तृषातुर रहते हैं वह स्वाभाविक सुख इस अवस्थामें ही पूर्णपने प्राप्त होजाता है। इसीतरह अनंत वीर्य आदि और भी आत्माके अनंत गुण व्यक्त होजाते हैं। ऐसे निर्मल ज्ञानके प्राप्त करनेका उत्साह रखकर भव्य जीवको उचित है कि इसकी प्रगटताका हेतु जो शुद्धोपयोग या साम्यभाव या स्वात्मा-नुभव है उसीकी भावना करे तथा उसीके द्वारा सर्व संकल्प विकल्प त्याग निश्चिन्त हो निज आत्माके रसका स्वाद ले तृप्त होवें। यही अभिप्राय है ॥ ४७ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य विचारते हैं कि जो ज्ञान सर्वको नहीं जानता है वह ज्ञान एक पदार्थको भी नहीं जान सक्ता है।

जो ण विजाणदि जुगवं, अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं, सपज्जयं दव्वमेकं वा ॥ ४८ ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥ ४८ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई एक समयमें तीनलोककी त्रिका-लवर्तीपर्यायोंमें परिणत हुए पदार्थोंको नहीं जानता है—उसका ज्ञान समस्त पर्याय सहित एक द्रव्यके भी जाननेको समर्थ नहीं है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई आत्मा (जुगवं) एक समयमें (तेकालिके) तीन कालकी पर्यायोंमें परिणमन करनेवाले (तिहुवणत्थे) तीन लोकमें रहनेवाले (अत्थे) पदार्थोंको (ण विजाणदि) नहीं जानता है । (तस्स) उस आत्माका ज्ञान (सपज्जयं) अनन्त पर्याय सहित (एकं दव्वम्) एक द्रव्यको (वा) भी (णादुं) जाननेके लिये (ण सक्कं) नहीं समर्थ होता है ।

भाव यह है कि आकाशद्रव्य एक है, धर्मद्रव्य एक है, तथा अधर्म द्रव्य एक है और लोकाकाशके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्यात काल द्रव्य हैं, उससे अनन्त गुणे जीव द्रव्य हैं, उससे भी अनन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि एक एक जीव द्रव्यमें अनंत कर्म वर्गणाओंका सम्बन्ध है तैसे ही अनंत नोकर्म वर्गणाओंका सम्बन्ध है । तैसे ही इन सर्व द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्यकी अनन्त पर्याय होती हैं । यह सर्व ज्ञेय—जानने योग्य हैं और इनमें एक कोई भी विशेष जीव द्रव्य ज्ञाता—जाननेवाला है । ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है । यहां जैसे अग्नि सर्व जलाने योग्य ईंधनको जलाती हुई सर्व जलाने योग्य कारणके होते हुए सर्व ईंधनके आकारकी पर्यायमें परिणमन करते हुए सर्व मई एक अग्नि स्वरुप होजाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णतामें परिणत तृण व पत्तों आदिके आकार अपने स्वभावको परिणमाती है । तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयोंको जानता हुआ सर्व ज्ञेयोंके कारणके होते हुए सर्वज्ञेयाकारकी पर्यायमें परिणमन करते हुए सर्व मई एक अखंडज्ञान रूप अपने ही आत्माको परिणमता है अर्थात् सर्वको जानता है । और जैसे वही अग्नि पूर्वमें कहे हुए ईंधनको नहीं जलाती हुई

उस ईंधनके आकार नहीं परिणमन होती है वैसे ही आत्मा भी पूर्वमें कहे हुए सर्वज्ञेयोंको न जानता हुआ पूर्वमें कहे हुए लक्षणरूप सर्वको जानकर एक अखंडज्ञानाकाररूप अपने ही आत्माको नहीं परिणमाता है अर्थात् सर्वका ज्ञाता नहीं होता है। दूसरा भी एक उदाहरण देते हैं। जैसे कोई अन्धा पुरुष सूर्य्यसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको नहीं देखता हुआ सूर्य्यको भी नहीं देखता, दीपकसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको न देखता हुआ दीपकको भी नहीं देखता, दर्पणमें झलकती हुई परछाईंको न देखते हुए दर्पणको भी नहीं देखता, अपनी ही दृष्टिसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको न देखता हुआ हाथ पग आदि अंगरूप अपने ही देहके आकारको अर्थात् अपनेको अपनी दृष्टिसे नहीं देखता है। वैसे यह प्रकरणमें प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञानसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको नहीं जानता हुआ सकल अखंड एक केवलज्ञान रूप अपने आत्माको भी नहीं जानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सर्वको नहीं जानता है वह आत्माको भी नहीं जानता है।

भावार्थ—यहां आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको बताते हुए गाथामें यह बात झलकाई है कि जो कोई तीन लोकके सर्व पदार्थोंको एक समयमें नहीं जानता है वह एक द्रव्यको भी पूर्णपने नहीं जानसक्ता। वृत्तिकारने यह भाव बताया है कि अपना आत्मा ज्ञानस्वभाव होनेसे ज्ञायक है। जब वह ज्ञान शुद्ध होगा तो सर्व द्रव्य पर्यायमई ज्ञेयरूप यह जगत उस ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होगा अर्थात् उनका ज्ञानाकार परिणमन होगा। इसलिये जो सर्वको जानसकेगा वह अपने आत्माको भी यथार्थ जानसकेगा

और जो सर्वको जाननेको समर्थ नहीं है उसका ज्ञान अशुद्ध है, तब वह एक अपने आत्माको भी स्पष्ट पूर्णपने नहीं जान सकेगा। यहां दृष्टांत दिये हैं सो सब इसी बातको स्पष्ट करते हैं। जो अग्नि सर्व ईंधनको जलावेगी वह अग्नि सब ईंधनरूप परिणमेगी। तब जो दाह्यको जानोगे तो दाहकको भी जानोगे। यदि दाह्य ईंधनको नहीं देख सके तो अग्निको भी नहीं देख सके जो सर्व ईंधनमें व्यापक है। जो सूर्य व दीपक, व दर्पणद्वारा व दृष्टिद्वारा प्रतिबिम्बित पदार्थोंको जान सकेगा वह क्या सूर्य, दीपक दर्पण व दृष्टिवाले पुरुषको न जान सकेगा? अवश्य जान सकेगा। इसी तरह जो सर्वको जानेगा वह सर्वके जाननेवाले आत्माको भी जान सकेगा। जो सर्वको न जानेगा वह निज ज्ञायक आत्माको भी नहीं जान सकेगा। इस भावके सिवाय गाथासे यह भाव भी प्रगट होता है कि जो सर्व ज्ञेयोंको एक कालमें नहीं जान सकेगा वह एक द्रव्यको भी उसकी अनंत पर्यायोंके साथ नहीं जान सकेगा। एक कालमें सर्व क्षेत्रमें फैले हुए पदार्थोंको जानना क्षेत्र अपेक्षा विस्तारको जानना है। तथा एक क्षेत्रमें स्थित किसी पदार्थको उसकी भूत भविष्यत् पर्यायोंको जानना काल अपेक्षा विस्तारको जानना है। क्षेत्र अपेक्षा लोकाकाश मात्र असंख्यात प्रदेशरूप है यद्यपि अलोकाकाश अनंत है तथा काल अपेक्षा एक द्रव्य अनंतानंत समयोंमें होनेवाली पर्यायोंकी अपेक्षा अनंतानंतरूप है। जो लोकाकाशके क्षेत्र विस्तारको एक समयमें जाननेको समर्थ नहीं है वह उसके अनंतगुणे काल विस्तारको कैसे जान सकेगा? अर्थात् नहीं जान सकेगा। किसी

भी क्षयोपशम ज्ञानमें दोनोंके विस्तारको स्पष्टपने सर्व उपस्थित पदार्थ सहित जाननेकी शक्ति नहीं है। चारों ही ज्ञान बहुतकम पदार्थोंको जानते हैं। यह तो क्षायिकज्ञान जो अतीन्द्रिय और स्वाभाविक है उसीमें शक्ति है जो सर्व क्षेत्रकी व सर्वकालकी सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको जान सके। अतएव यह सिद्ध है कि जो सर्व तीनकाल व तीनलोकके पर्याय सहित द्रव्योंको नहीं जान सका वह एक द्रव्यको भी उनकी अनंत पर्याय सहित नहीं जान सका। मात्र केवलज्ञान ही जानसक्ता है। जैसे वह सर्वको जानता है वैसे वह एकको जानता है।

ऐसी महिमा केवलज्ञानकी जानकर कि उसके प्रगट हुए विना न हम पूर्णपने अपने आत्माको जानसक्के न हम एक किसी अन्य द्रव्यको जानसक्के। हमको उचित है कि इस निर्मल केवलज्ञानके लिये हम शुद्धोपयोग या साम्यभावका अभ्यास करें।

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते हैं कि जो एकको नहीं जानता है वह सर्वको भी नहीं जानता है।

दव्वं अणंतपज्जयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं, कध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ४९ ॥

द्रव्यमनंतपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ॥४९॥

सामान्यार्थ—जो आत्मा अनन्त पर्यायरूप एक द्रव्यको नहीं जानता है वह आत्मा किस तरह सर्व अनंत द्रव्योंको एक समयमें जान सक्ता है?

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) यदि कोई आत्मा (एकं अणंतपज्जयं दव्वं) एक अनन्तपर्यायोंके रखनेवाले द्रव्यको (ण विजाणदि) निश्चयसे नहीं जानता है (सो) वह आत्मा (कधं) किस तरह (सव्वाणि अणंताणि दव्वजादाणि) सर्व अनन्त द्रव्य-समूहोंको (जुगवं) एक समयमें (जाणादि) जान सक्ता है? अर्थात् किसी तरह भी नहीं जान सक्ता। विशेष यह है कि आत्माका लक्षण ज्ञान स्वरूप है। सो अखंडरूपसे प्रकाश करनेवाला सर्व जीवोंमें साधारण महासामान्य रूप है। वह महासामान्य ज्ञान अपने ज्ञानमयी अनंत विशेषोंमें व्यापक है। वे ज्ञानके विशेष अपने विषयरूप ज्ञेय पदार्थ जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको जान नेवाले ग्रहण करनेवाले हैं। जो कोई अपने आत्माको अखंडरूपसे प्रकाश करते हुए महा सामान्य स्वभावरूप प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह पुरुष प्रकाशमान महासामान्यके द्वारा जो अनत ज्ञानके विशेष व्याप्त हैं उनके विषयरूप जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको कैसे जान सक्ता है? अर्थात् किसी भी तरह नहीं जान सक्ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने आत्माको नहीं जानता है वह सर्वको नहीं जानता है। ऐसा ही कहा है-

एको भावः सर्व भाव स्वभावः सर्वे भावा एक भाव स्वभावः
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥

भाव यह है कि एक भाव सर्व भावोंका स्वभाव है और सर्व भाव एक भावके स्वभाव हैं। जिसने निश्चयसे-यथार्थ रूपसे एक भावको जाना उसने यथार्थ रूपसे सर्व भावोंको जाना है।

यहां ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिये जिसने ज्ञाताको जाना उसने सर्व ज्ञेयोंको जाना ही। यहांपर शिष्यने प्रश्न किया कि आपने यहां यह व्याख्यान किया कि आत्माको जानते हुए सर्वका जानपना होता है और इसके पहले सूत्रमें कहा था कि सबके जाननेसे आत्माका ज्ञान होता है। यदि ऐसा है तो जब छद्मस्थोंको सर्वका ज्ञान नहीं है तब उनको आत्माका ज्ञान कैसे होगा यदि उनको आत्माका ज्ञान न होगा तो उनके आत्माकी भावना कैसे होगी? यदि आत्माकी भावना न होगी तो उनको केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसा होनेसे कोई केवलज्ञानी नहीं होगा। इस शंकाका समाधान करते हैं कि परोक्ष प्रमाणरूप श्रुतज्ञानसे सर्व पदार्थ जाने जाते हैं। यह कैसे, सो कहते हैं कि छद्मस्थोंको भी लोक और अलोकका ज्ञान व्याप्तिज्ञान रूपसे है। वह व्याप्तिज्ञान परोक्षरूपसे केवलज्ञानके विषयको ग्रहण करनेवाला है इसलिये किसी अपेक्षासे आत्मा ही कहा जाता है। अथवा दूसरा [illegible] यह है कि [illegible]ज्ञानी स्वसंवेदन ज्ञान या स्वानुभवसे आत्माको जानते हैं। और फिर उसकी भावना करते हैं। इसी रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदनज्ञानकी भावनाके द्वारा केवलज्ञान पैदा होजाता है। इसमें कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें भी आचार्यने केवलज्ञानकी महिमाको और आत्माके ज्ञान स्वभावको प्रगट किया है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। जो सबको जाने उसे ही ज्ञान कहते हैं। अर्थात् महा सामान्यज्ञान सर्व ज्ञेयोंको जाननेवाला है। भिन्न २ पदार्थोंके ज्ञानको विशेष ज्ञान कहते हैं। ये विशेष ज्ञान सामा-

न्यमें व्याप्य हैं अर्थात् गर्भित हैं। जो कोई अपने आत्माके स्वभावको पूर्णपने प्रत्यक्ष स्पष्ट जानता है वह नियमसे उस ज्ञान स्वभाव द्वारा प्रगट सर्व पदार्थोंको जानता है। यह ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध दुर्निवार है। और जो कोई अपने आत्मस्वभावको प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह सर्वको भी नहीं जानसक्ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञानी सर्वका जाननेवाला होता है। यहां यह भी समझना चाहिये कि निर्मल ज्ञानमें दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह सर्व पदार्थोंके आकार स्वयं झलकते हैं वह ज्ञान ज्ञेयाकारसा होजाता है। इसलिये जो दर्पणको देखता है वह उसमें झलकते हुए सर्व पदार्थोंको देखता ही है। जो दर्पणको नहीं देखसक्ता है। वह झलकनेवाले पदार्थोंको भी नहीं देख सक्ता है। इसी तरह जो निर्मल शुद्ध आत्माको देखता है वह उसमें झलकते हुए सर्व ज्ञेयरूप अनंत द्रव्योंको भी देखता है। इसमें कोई शंका नहीं है। ऐसा ज्ञाताके भीतर ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध है। ज्ञानसे जो प्रगटे वह ज्ञेय। ज्ञेयोंको प्रगटावे वह ज्ञान। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इसलिये आत्माको जाननेवाला सर्वज्ञ होता ही है। अथवा जो कोई पुरुष एक द्रव्यको उसकी अनंत पर्यायोंके साथ जाननेको असमर्थ है वह सर्व द्रव्योंको एक समयमें कैसे जानसक्ता है? कभी भी नहीं जानसक्ता है। जिस आत्मामें शुद्धता होगी वही अपनेको भी, दूसरेको भी, एकको भी अनेकको भी, सर्वज्ञेय मात्रको एक समयमें जानसक्ता है। स्वपरका प्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञानी हीको होता है। जो अल्पज्ञानी हैं वे श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्षरूपसे सर्वज्ञेयोंको जानते हैं परंतु उनको सर्व

पदार्थ तथा उनकी सर्व अवस्थाएं एक समयमें स्पष्ट २ नहीं मालूम पड़ सक्ती हैं वे ही श्रुतज्ञानी आत्माको भी अपने स्वानुभवसे जान लेते हैं। यद्यपि केवलज्ञानीके समान पूर्ण नहीं जानते उनको कुछ मुख्य गुणोंके द्वारा आत्माका स्वभाव अनात्मद्रव्योंसे जुदा भासता है। इसी लक्षणरूप व्याप्तिसे वे लक्ष्यरूप आत्माको समझ लेते हैं और इसी ज्ञानके द्वारा निज आत्माके स्वरूपकी भावना करते हैं तथा स्वरूपमें अशक्ति पाकर निजानंदका स्वाद लेते हुए वीतरागतामें शोभायमान होते हैं। और इसी शुद्ध भावनाके प्रतापसे वे केवलज्ञानको प्रगट करलेते हैं। ऐसा जान निज स्वरूपका मनन करना ही कार्यकारी है ॥ ४९ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो ज्ञान क्रमसे पदार्थोंके जाननेमें प्रवृत्ति करता है उस ज्ञानसे कोई सर्वज्ञ नहीं होसक्ता है अर्थात् क्रमसे जाननेवालेको सर्वज्ञ नहीं कहसक्ते।

उप्पज्जदि जदि णाणं, कमसो अत्थे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं, ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम् ॥ ५० ॥

सामान्यार्थ-यदि ज्ञानी आत्माका ज्ञान पदार्थोंको आश्रय करके क्रमसे पैदा होता है तो वह ज्ञान न तो नित्य है, न क्षायिक है, और न सर्वगत है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि) यदि (णाणिस्स) ज्ञानी आत्माका (णाणं) ज्ञान (अत्थे) जानने योग्य पदार्थोंको

(पडुच्च) आश्रय करके (कमसो) क्रमसे (उप्पज्जदि) पैदा होता है। तो (तं) वह ज्ञान (णिच्चं) अविनाशी (णेव) नहीं (हवदि) होता है अर्थात् जिस पदार्थके निमित्तसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस पदार्थके नाश होने पर उस पदार्थका ज्ञान भी नाश होता है इसलिये वह ज्ञान सदा नहीं रहता है इससे नित्य नहीं है। (ण खाइगं) न क्षायिक है क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके आधीन है (णेव सव्वगदं) और न वह सर्वगत है, क्योंकि जब वह पराधीन होनेसे नित्य नहीं है, क्षयोपशमके आधीन होनेसे क्षायिक नहीं है इसी लिये ही वह ज्ञान एक समयमें सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको जाननेके लिये असमर्थ है इसी लिये सर्वगत नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका आश्रय लेकर पैदा होता है उस ज्ञानके रखनेसे सर्वज्ञ नहीं होसक्ता है।

भावार्थ—यहां आचार्य केवलज्ञानको ही जीवका स्वाभाविक ज्ञान कहनेके लिये और उसके सिवाय जितने ज्ञान हैं उनको वैभाविक ज्ञान कहनेके लिये यह दिखलाते हैं कि जो ज्ञान पदार्थोंका आश्रय लेकर क्रम क्रमसे होता है वह ज्ञान स्वाभाविक नहीं है। न वह नित्य है, न क्षायिक है और न सर्वगत है। मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञान ये चारों ही किसी भी पदार्थको क्रमसे जानते हैं-जब एकको जानते हैं तब दूसरेको नहीं जान सके। जैसे मतिज्ञान जब वर्णको जानता है तब रसको विषय नहीं कर सकता और न मनसे कुछ ग्रहण कर सकता है। पांच इंद्रिय और मन द्वारा मतिज्ञान एक साथ नहीं जान सकता

किन्तु एक काल एक ही इन्द्रियसे जान सकता है। उसमें भी थोड़े विषयको जान सकता है उस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण योग्य सर्व विषयको नहीं जानता है। आंखोंसे पहले थोड़ेसे पदार्थ, फिर अन्य फिर अन्य इस तरह क्रमसे ही पदार्थोंका ज्ञान अवग्रह ईहा आदिके क्रमसे होता है। धारणा होजाने पर भी यदि पुनः पदार्थका स्मरण न किया जाय तो वह बात भुला दी जाती है। तथा जो पदार्थ नष्ट होजाते हैं उनका ज्ञान कालान्तरमें नहीं रहता है। इसी तरह श्रुतज्ञान जो अनक्षरात्मक है वह मतिज्ञान द्वारा ग्रहीत पदार्थके आश्रयसे अनुभव रूप होता है और जो अक्षरात्मक है वह शास्त्र व वाणी सुनकर या पढ़कर होता है। शास्त्रज्ञान क्रमसे ग्रहण किया हुआ क्रमसे ही ध्यानमें बैठता है। तथा कालान्तरमें बहुतसा भुला दिया जाता है। अवधिज्ञान भी किसी पदार्थकी ओर लक्ष्य दिये जाने पर उसके सम्बन्धमें आगे व पीछेके भवोंका ज्ञान क्रमसे द्रव्य क्षेत्रादिकी मर्यादा पूर्वक करता है। सो भी सदा एकसा नहीं बना रहता है। विषयकी अपेक्षा बदलता रहता है व विस्मरण होजाता है। यही हाल मनःपर्ययका है, जो दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको क्रमसे जानता है। इस तरह ये चारों ही ज्ञान क्रमसे जाननेवाले हैं और सदा एकसा नहीं जानते। विषयकी अपेक्षा ज्ञान नष्ट होजाता है और फिर पैदा होता है। इसलिये ये केवलज्ञानकी तरह नित्य नहीं हैं, जब कि केवलज्ञान नित्य है। वह ज्ञान विना किसी क्रमके सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको सदाकाल एकसा जानता रहता है। चारों ज्ञानोंमें क्रमपना व अनित्यपना व

अल्प विषयपना होनेका कारण यही है कि वे ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं, जब कि केवलज्ञान सर्व ज्ञानावरणीयके क्षयसे होता है। इसलिये यही ज्ञान क्षायिक है। जब चारों ज्ञानोंका विषय अल्प है तब वे सर्वगत नहीं होसक्ते, यह केवलज्ञान ही है जो सर्व पदार्थोंको एक काल जानता है इससे सर्वगत या सर्वव्यापी है।

केवलज्ञानके इस महात्म्यको जानकर हमको उसकी प्राप्तिके लिये शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये। तथा यह निश्चय रखना चाहिये कि इन्द्रियाधीन ज्ञानवाला कभी सर्वज्ञ नहीं होसक्ता। जिसके अतीन्द्रिय स्वाभाविक प्रत्यक्ष ज्ञान होगा वही सर्वज्ञ है ॥ ५० ॥

उत्थानिका-आगे फिर यह प्रगट करते हैं कि जो एक समयमें सर्वको जानसक्ता है उस ही ज्ञानसे ही सर्वज्ञ होसक्ता है।

तेकालणिच्चविसमं सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ५१

त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्र संभवं चित्रम्।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥५१॥

सामान्यार्थ-जैनका ज्ञान जो केवलज्ञान है जो एक समयमें तीन कालके असम पदार्थोंको सदाकाल सबको सर्व लोकमें होनेवाले नाना प्रकारके पदार्थोंको जानता है। अहो निश्चयसे ज्ञानका महात्म्य अपूर्व है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जोण्हं) जैनका ज्ञान

अर्थात् जिन शासनमें जिस प्रत्यक्ष ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं वह ज्ञान (जुगवं) एक समयमें (सव्वत्थ संभवं) सर्व लोका-लोकमें स्थित (चित्तं) तथा नाना जाति भेदसे विचित्र (सयलं) सम्पूर्ण (तेकालणिच्चविसमं) तीनकाल सम्बन्धी पदार्थोंको सदा-काल विसमरूप अर्थात् जैसे उनमें भेद है उन भेदोंके साथ अथवा **तेकाल णिच्चविसयं** ऐसा भी पाठ है जिसका भाव है तीन-कालके सर्व द्रव्य अपेक्षा नित्य पदार्थोंको (जाणदि) जानता है। (अहो हि णाणस्स माहप्पं) अहो देखो निश्चयसे ज्ञानका माहात्म्य आश्चर्यकारी है। भाव विशेष यह है कि एक समयमें सर्वको ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे ही सर्वज्ञ होता है ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते हैं। ज्योतिष, मंत्र, वाद, रस सिद्धि आदिके जो खंडज्ञान हैं तथा जो मूढ़ जीवोंके चित्तमें चमत्कार करनेके कारण हैं और जो परमात्माकी भावनाके नाश करनेवाले हैं उन सर्व ज्ञानोंमें आग्रह या हठ त्याग करके तीन जगत व तीनकालकी सर्व वस्तुओंको एक समयमें प्रकाश करने-वाले, अविनाशी तथा अखंड और एक रूपसे उद्योतरूप तथा सर्वज्ञत्व शब्दसे कहने योग्य जो केवलज्ञान है, उसकी ही उत्प-त्तिका कारण जो सर्व रागद्वेषादि विकल्प जालोंसे रहित स्वाभा-विक शुद्धात्माका अभेद ज्ञान अर्थात् स्वानुभव रूप ज्ञान है उसमें भावना करनी योग्य है। यह तात्पर्य है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी केवलज्ञानके गुणानुवाद गाकर अपनी अकाट्य श्रद्धा केवलज्ञानमें प्रगट करी है। और यह समझाया है कि लोकालोकमें विचित्र पदार्थ हैं तथा

उनकी तीन काल सम्बन्धी अवस्थाएं एक दूसरेसे भिन्न हुआ करती हैं उन सबको एक कालमें जैसा का तैसा जो जान सक्ता है उसको ही केवलज्ञान कहते हैं। तथा यह केवलज्ञान वह ज्ञान है जिसको जैन शासनमें प्रत्यक्ष, शुद्ध, स्वाभाविक तथा अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। जिसके प्रगट होनेके लिये व काम करनेके लिये किसी अन्यकी सहायताकी आवश्यक्ता नहीं है। न वह इन्द्रियोंके आश्रय है और न वह पदार्थोंके आलम्बनसे होता है, किन्तु हरएक आत्मामें शक्ति रूपसे विद्यमान है। जिसके ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो जाता है उसीके ही यह प्रकाशमान हो जाता है। जब प्रकाशित हो जाता है फिर कभी मिटता नहीं या कम होता नहीं। इसी ज्ञानके धारीको सर्वज्ञ कहते हैं। परमात्माकी बड़ाई इसी निर्मल ज्ञानसे है। इसी हीके कारणसे किसी वस्तुके जाननेकी चिंता नहीं होती है। इसीसे यही ज्ञान सदा निराकुल है। इसीसे पूर्ण आनन्दके भोगमें सहायी है। ऐसे केवलज्ञानकी प्रगटता जैनसिद्धांतमें प्रतिपादित स्याद्वाद नयके द्वारा आत्मा और अनात्माको समझकर भेदज्ञान प्राप्त करके और फिर लौकिक चमत्कारोंकी इच्छा या ख्याति, लाभ, पूजा आदिकी चाह छोड़कर अपने शुद्धात्मामें एकाग्रता या स्वानुभव प्राप्त करनेसे होती है। इसलिये स्वहित वांछकको उचित है कि सर्व रागादि विकल्प जालोंको त्याग कर एक चित्त हो अपने आत्माका स्वाद लेकर परमानंदी होता हुआ तृप्ति पावे।

इस प्रकार केवलज्ञान ही सर्वज्ञपना है ऐसा कहते हुए गाथा एक, फिर सर्व पदार्थोंको जो नहीं जानता है वह एकको भी नहीं

जानता है ऐसा कहते हुए दूसरी, फिर जो एकको नहीं जानता है वह सबको नहीं जानता है ऐसा कहते हुए तीसरी, फिर क्रमसे होनेवाले ज्ञानसे सर्वज्ञ नहीं होता है ऐसा कहते हुए चौथी, तथा एक समयमें सर्वको जाननेसे सर्वज्ञ होता है ऐसा कहते हुए पांचमी इस तरह सातवें स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे पहले जो यह कहाथा कि पदार्थोंका ज्ञान होते हुए भी राग द्वेष मोहका अभाव होनेसे केवल ज्ञानियोंको बंध नहीं होता है उसी ही अर्थको दूसरी तरहसे दृढ़ करते हुए ज्ञान प्रपंचके अधिकारको संकोच करते हैं।

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि, उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः ॥ ५२ ॥

सामान्यार्थ–केवलज्ञानीकी आत्मा उन सर्व पदार्थोंको जानता हुआ भी उन पदार्थोंके स्वरूप न तो परिणमता है, न उनको गृहण करता है और न उन रूप पैदा होता है इसी लिये वह अबंधक कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(आदा) आत्मा अर्थात् मुक्त स्वरूप केवलज्ञानी या सिद्ध भगवानकी आत्मा (ते जाणण्णवि) उन ज्ञेय पदार्थोंको अपने आत्मासे भिन्न रूप जानते हुए भी (तेसु अत्थेसु) उन ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपमें (ण वि परिणमदि) न तो परिणमन करता है अर्थात् जैसे अपने आत्म प्रदे-

शोंके द्वारा समतारससे पूर्णभावके साथ परिणमन कर रहा है वैसा ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूप नहीं परिणमन करता है अर्थात् आप अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता है। (ण गेण्हदि) और न उनको ग्रहण करता है अर्थात् जैसे वह आत्मा अनंत ज्ञान आदि अनंत चतुष्टय रूप अपने आत्माके स्वभावको आत्माके स्वभाव रूपसे ग्रहण करता है वैसे वह ज्ञेय पदार्थोंके स्वभावको ग्रहण नहीं करता है। (णेव उप्पज्जदि) और न वह उन रूप पैदा होता है अर्थात् जैसे वह विकार रहित परमानंदमई एक सुखरूप अपनी ही सिद्ध पर्याय करके उत्पन्न होता है वैसा वह शुद्ध आत्मा ज्ञेय पदार्थोंके स्वभावमें पैदा नहीं होता है। (तेण) इस कारणसे (अबंधगो) कर्मोंका बंध नहीं करनेवाला (पण्णत्तो) कहा गया है। भाव यह है कि रागद्वेष रहित ज्ञान बंधका कारण नहीं होता है, ऐसा जानकर शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी जो मोक्ष उससे उल्टी जो नरक आदिके दुःखोंकी कारण कर्म बंधकी अवस्था, जिस बंध अवस्थाके कारण इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले एक देश ज्ञान उन सबको त्यागकर सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान जो कर्मका बंधका कारण नहीं है उसका बीजभूत जो विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान या स्वानुभव उसीमें ही भावना करनी योग्य है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि केवलज्ञान या शुद्ध ज्ञान या वीतराग ज्ञान बंधका कारण नहीं है। वास्तवमें ज्ञान कभी भी बंधका कारण नहीं होता है चाहे वह मति श्रुत

ज्ञान हो या अवधि, मनःपर्ययज्ञान हो या केवलज्ञान हो। ज्ञानके साथ जितना मोहनीय कर्मके उदयसे राग, द्वेष या मोहका अधिक या कम अंश कलुषपन या विकार रहता है वही कार्माण वर्गणारूपी पुद्गलोंको कर्मबंधरूप परिणमावनेको निमित्त कारणरूप है। शरीरपर आई हुई रज शरीरपर चिकनई होनेसे ही जमती है वैसे ही कर्मरज आत्मामें मोहकी चिकनई होनेपर ही बंधको प्राप्त होती है।

वास्तवमें केवलज्ञानको रोकनेमें प्रबल कारण मोह ही है। यही उपयोगकी चंचलता रखता है। इसीके उद्वेगके कारण आत्मामें स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता है जिस चारित्रके हुए विना ज्ञानावरणीयका क्षय नहीं होता है। जिसके क्षयके विना केवलज्ञानका प्रकाश नहीं पैदा होता है। आत्माका तथा अन्य किसी भी द्रव्यका स्वभाव पर द्रव्यरूप परिणमनेका नहीं है। हरएक द्रव्य अपने ही गुणोंमें परिणमन करता है—अपनी ही उत्तर अवस्थाको ग्रहण करता है और अपनी ही उत्तर पर्यायको उत्पन्न करता है। सुवर्णसे सुवर्णके कुंडल बनते हैं, लोहेसे लोहेके सांकल व कुंडे बनते हैं। सुवर्णसे लोहेकी और लोहेसे सुवर्णकी वस्तुएं नहीं बन सकती हैं। जब एक सुवर्णकी डलीसे एक मुद्रिका बनी तब सुवर्ण स्वयं मुद्रिका रूप परिणमा है, सुवर्णने स्वयं मुद्रिकाकी पर्यायोंको ग्रहण किया है तथा सुवर्ण स्वयं मुद्रिकाकी अवस्थामें पैदा हुआ है। यह दृष्टांत है। यही बात दृष्टांतमें लगाना चाहिये। स्वभावसे आत्मा दीपकके समान स्वपरका देखने जाननेवाला है। वह सदा देखता जानता रहता है अर्थात् वह सदा इस ज्ञप्तिक्रियाको करता रहता

है-रागद्वेष मोह करना उसका स्वभाव नहीं है। शुद्ध केवलज्ञान-में मोहनीयकर्मके उदयका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है इसीसे वह निर्विकार है और बंध रहित कहा गया है। जहां इंद्रिय तथा मनद्वारा अल्पज्ञान होता है वहां जितना अंश मोहका उदय होता है उतनी ही ज्ञानमें मलीनता होजाती है, मलीनता होनेका भाव यही लेना चाहिये कि आत्मामें एक चारित्र नामका गुण है उसका विभाव रूप परिणमन होता है। जब मोहका उदय नहीं होता है तब चारित्र गुणका स्वभाव परिणमन होता है। इस परिणमनकी जातिको दिखलाना विलकुल दुष्कर कार्य है। पुद्गलमें कोई ऐसा दृष्टांत नहीं मिल सक्ता तौ भी आचार्योंने जहां तहां यही दृष्टांत दिया है कि जैसे काले नीले, हरे, लाल डांकके निमित्तसे स्फटिक मणिकी स्वच्छतामें काला, नीला, हरा व लाल रंग रूप परिणमन होजाता है वैसे मोह कर्मके उदयसे आत्माका उपयोग या चारित्र गुण क्रोधादि भाव परिणत होजाता है। ऐसे परिण-मन होते हुए भी जैसे स्फटिक किसी वर्ण रूप होते हुए भी वह वर्णपना स्फटिकमें लाल कृष्ण आदि डांकके निमित्तसे झलक रहा है स्फटिकका स्वभाव नहीं है, ऐसे ही क्रोध आदि भावपना क्रोधादिक कषायके निमित्तसे उपयोगमें झलक रहा है क्रोधादि आत्माका स्वभाव नहीं है। परके निमित्तसे होनेवाले भाव निमि-त्तके दूर होनेपर नहीं होते हैं। जबतक मोहके उदयका निमित्त है तबतक बन्द भी है। जहां निमित्त नहीं रहा वहां कर्मका बंध भी नहीं होता है इसीसे शुद्ध केवलज्ञानीको बंध रहित कहा गया है। तात्पर्य्य यह है कि हम अल्पज्ञानियोंको भी सम्यक्

दृष्टिके प्रतापसे जगतको उनके स्वरूप तथा परिवर्तन रूप देखते रहना चाहिये तथा कर्मोंके उदयसे जो दुःख सुखरूप अवस्था अपनी हो अथवा दूसरोंकी हो उनको भी ज्ञाता दृष्टारूप ही देख जान लेना चाहिये उनमें अपनी समताका नाश न करना चाहिये। जो सम्यग्ज्ञानी तत्वविचारके अभ्याससे कर्मोंके उदयमें विपाकविचय धर्मध्यान करते हैं, उनके पूर्वके उदयमें आए कर्म अधिक परिमाणमें झड़ जाते हैं और नवीन कर्म बहुत ही अल्प बंध होते हैं जिसको सम्यग्दृष्टियोंकी महिमाके कथनमें अबंध ही कहा है। समभाव सदा गुणकारी है। हमें शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका सदा ही अनुभव करना चाहिये। यही बंधकी निर्जरा, संवर तथा मोक्षका साधक और केवलज्ञानका उत्पादक है। वास्तवमें ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमता है, अपनी ज्ञान परिणमतिको ही ग्रहण करता है तथा ज्ञानभावरूप ही पैदा होता है। यह मोहका महात्म्य है जिससे हम अज्ञानी जानते हुए भी किसीसे रागकर उसको ग्रहण करते व किसीसे द्वेषकर उससे घृणा करते व उसे त्याग करते हैं। ज्ञानमें न ग्रहण है न त्याग है। मोह प्रपंचके त्यागका उपाय आत्मानुभव है यही कर्तव्य है। इस तरह रागद्वेष मोह रहित होनेसे केवलज्ञानियोंके बंध नहीं होता है ऐसा कथन करते हुए ज्ञान प्रपंचकी समाप्तिकी मुख्यता करके एक सूत्र द्वारा आठवां स्थल पूर्ण हुआ ॥ ५२ ॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान प्रपंचके व्याख्यानके पीछे ज्ञानके आधार सर्वज्ञ भगवानको नमस्कार करते हैं।

तस्स णमाइं लोगो, देवासुरमणुअरायसंबंधो।
भत्तो करेदि णिच्चं, उवजुत्तो तं तहावि अहं ॥२॥

तस्य नमस्यां लोकः देवासुरमणुष्यराजसम्बन्धः।
भक्तः करोति नित्यं उपयुक्तः तं तथा हि अहं ॥५२॥

सामान्यार्थ-जैसे देव, असुर, मनुष्योंके राजाओंसे सम्बंधित यह भक्त जगत उद्यमवंत होकर उस सर्वज्ञ भगवानको नित्य नमस्कार करता है तैसे ही मैं उनको नमस्कार करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-जैसे (देवासुरमणुअ-राय सम्बंधो) स्वर्गवासी, भवनत्रिक तथा मनुष्योंके इन्द्रोंकर सहित (भत्तो) भक्तवंत (उवजुत्तो) तथा उद्यमवंत (लोगो) यह लोक (तस्स णमाइं) उस सर्वज्ञको नमस्कार (णिच्चं) सदा (करेदि) करता है (तहावि) तैसे ही (अहं) मैं ग्रन्थकर्त्ता श्रीकुंदकुंदाचार्य (तं) उस सर्वज्ञको नमस्कार करता हूं। भाव यह है कि जैसे देवेन्द्र व चक्रवर्ती आदिक अनन्त और अक्षय सुख आदि गुणोंके स्थान सर्वज्ञके स्वरूपको नमस्कार करते हैं तैसे मैं भी उस पदका अभिलाषी होकर परम भक्तिसे नमस्कार करता हूं।

भावार्थ:-हम अल्पज्ञानी बंध करनेवाले जीवोंके लिये वही आत्मा आदर्श हो सकता है जो सर्वज्ञ हो और वीतरागताके कारण अबंधक हो उनको अर्हन्त तथा सिद्ध कहते हैं। उनहीमें भक्ति व उनकी पूजा व उनहींको नमस्कार। जगतमें जो बड़े २ पुरुष हैं जैसे इन्द्र चक्रवर्ती आदि वे बड़े भावसे व अनेक प्रकार उद्यम करके करते रहते हैं-उनकी साक्षात् पूजा करनेको विदेह

क्षेत्रोंमें स्थित उनके समवशरणमें जाते हैं। तथा अनेक अकृत्रिम तथा कृत्रिम चैत्यालयोंमें उनके मनोज्ञ वीतरागमय बिम्बोंकी भक्ति करते हैं क्योंकि आदर्श स्वभावमें विनय तथा प्रेम भक्त पुरुषके भावको दोष रहित तथा गुण विकाशी निर्मल करनेवाला है इसीसे श्रीआचार्य कुंदकुंद भगवान कहते हैं कि मैं भी ऐसे ही सर्वज्ञ भगवानकी वारम्बार भक्ति करके तथा उद्यम करके नमस्कार करता हूं–क्योंकि जैसे गणधरादि मुनि, देवेंद्र तथा सम्यक्ती चक्रवर्ती आदि उस आदर्श रूप सर्वज्ञपदके अभिलाषी हैं वैसे मैं भी उस पदका अभिलाषी हूं। इसीसे ऐसे ही आदर्श रूपको नमन व उसका स्मरण करता हूं। ऐसा ही हम सर्व परमसुख चाहनेवालोंको करना योग्य है। यहां आचार्यने यह भी समझा दिया है कि मोक्षार्थीको ऐसे ही देवको देव मानकर पूजना तथा वन्दना चाहिये। रागद्वेष सहित तथा अल्पज्ञानीको कभी भी देव मानकर पूजना न चाहिये।

इस तरह आठ स्थलोंके द्वारा बत्तीस गाथाओंसे और उसके पीछे एक नमस्कार गाथा ऐसे तेतीस गाथाओंसे ज्ञानप्रपंच नामका तीसरा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ। आगे सुखप्रपंच नामके अधिकारमें अठारह गाथाएं हैं जिसमें पांच स्थल हैं उनमेंसे प्रथम स्थलमें “ अत्थि अमुत्तं ” इत्यादि अधिकार गाथा सूत्र एक है उसके पीछे अतीन्द्रिय ज्ञानकी मुख्यतासे ‘जं पेच्छदो’ इत्यादि सूत्र एक है। फिर इंद्रियजनित ज्ञानकी मुख्यतासे ‘जीवो स्वयं अमुत्तो, इत्यादि गाथाएं चार हैं फिर अभेद नयसे केवलज्ञान ही सुख है ऐसा कहते हुए गाथाएं ४ हैं। फिर इंद्रिय सुखको कथन करते

हुए गाथाएं आठ हैं। इनमें भी पहले इंद्रिय सुखको दुःख रूप स्थापित करनेके लिये 'मणुआसुरा' इत्यादि गाथाएं दो हैं। फिर मुक्त आत्माके देह न होनेपर भी सुख है इसबातको बतानेके लिये देह सुखका कारण नहीं है इसे जनाते हुए "पप्पा इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर इन्द्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं है ऐसा कहते हुए 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर सर्वज्ञको नमस्कार करते हुए 'तेजो दिट्ठि' इत्यादि सूत्र दो हैं? इस तरह पांच अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है ॥१॥

उत्थानिका-आगे अतीन्द्रिय सुख जो उपादेय रूप है उसका स्वरूप कहते हुए अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख उपादेय हैं और इन्द्रियजनित ज्ञान और सुख हेय हैं इस तरह कहते हुए पहले अधिकार स्थलकी गाथासे चार स्थलका सूत्र कहते हैं।

अत्थि अमुत्तं मुत्तं, अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तधा सोक्खं, जं तेसु परं च तं णेयं ।५३॥

अस्त्यमूर्त्तं मूर्त्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यत्तेषु परं च तत् ज्ञेयम् ॥५३॥

सामान्यार्थ-पदार्थोंके सम्बन्धमें जो अमूर्तिक ज्ञान है वह अतीन्द्रिय है तथा जो मूर्तीक ज्ञान है वह इंद्रिय जनित है ऐसा ही सुख है। इनमेंसे जो अतींद्रियज्ञान और सुख है वही जानने योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अत्थेसु) ज्ञेय पदार्थोंके सम्बन्धमें (णाणं) ज्ञान (अमुत्तं) जो अमुर्तीक है सो (अदिं-

दियं) अतींद्रिय है (च) तथा (मुत्तं) जो मूर्तीक है सो (इंद्रियं) इंद्रिय जन्य (अत्थि) है (तधा च सोक्खं) तैसे ही अर्थात् ज्ञानकी तरह अमूर्तीक सुख अतिन्द्रिय है तथा मूर्तीक सुख इंद्रिय जन्य है (तेसु जं परं) इन ज्ञान और सुखोंमें जो उत्कृष्ट अतींद्रिय हैं (तं णेयं) उनको ही उपादेय हैं ऐसा जानना चाहिये। इसका विस्तार यह है कि अमूर्तीक, क्षायिक, अतींद्रिय, चिदानन्दलक्षण स्वरूप शुद्धात्माकी शक्तियोंसे उत्पन्न होनेवाला अतींद्रिय ज्ञान और सुख आत्माके ही आधीन होनेसे अविनाशी है इससे उपादेय है तथा पूर्वमें कहे हुए अमूर्त शुद्ध आत्माकी शक्तिसे विलक्षण जो क्षयोपशमिक इन्द्रियोंकी शक्तियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और सुख हैं वे पराधीन होनेसे विनाशवान हैं इस लिये हेय हैं ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने इस प्रकरणका प्रारम्भ करते हुए बताया है कि सच्चा अविनाशी तथा स्वाधीन सुख अतींद्रिय सुख है जो आत्माका ही स्वभाव है और आत्मामें आप ही अपनी सन्मुखतासे अनुभवमें आता है। यही सुख अमूर्तीक है क्योंकि अमूर्तीक आत्माका यह स्वभाव है। शुद्ध आत्मामें इस सुखका निरंतर विकाश रहता है। जिस तरह केवलज्ञान अतीन्द्रिय तथा अमूर्तीक होनेसे आत्माका स्वभाव आत्माके आधीन है ऐसे ही अतीन्द्रिय सुखको जानना चाहिये। जैसे केवलज्ञानकी महिमा पहले कह चुके हैं वैसे अब अतीन्द्रिय आत्मसुखकी महिमाको जानना चाहिये क्योंकि ये ज्ञान और सुख दोनों निज आत्माकी सम्पत्ति है। इन पर अपना ही स्वत्व है।

इनकी प्रगटताके लिये किसी भी पर मूर्तीक पुद्गलकी सहायताकी आवश्यक्ता नहीं है इसीसे ये दोनों अमूर्तीक और इंद्रियोंकी आधीनतासे रहित हैं। इनके विपरीत जो ज्ञान क्षयोपशमिक है वह इन्द्रियों तथा मनके आलम्बनसे पैदा होता है सो मूर्तीक है क्योंकि अशुद्ध है-कर्मसहित आत्मामें होता है। कर्म रहित आत्मामें यह इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है-यह अमूर्तीक आत्माका स्वभाव नहीं है। कर्मसहित संसारी मूर्तीकसा झलकने वाला आत्मा ही इन्द्रियजन्य ज्ञानको रखता है-तैसे ही जो इंद्रिय जनित सुख है वह भी मूर्तीक है। क्योंकि वह सुख मोह भावका भोगमात्र है जो मोहभाव मूर्तीक मोहनीय कर्मके उदयसे हुआ है इसलिये मूर्तीक है तथा अमूर्तीक शुद्ध आत्माका स्वभाव नहीं है। क्योंकि यह इंद्रियजनित ज्ञान और सुख दोनों इंद्रियोंके बलके आधीन, बाहरी पदार्थोंके मिलनेके आधीन तथा पुण्य कर्मके उदयके आधीन हैं इसलिये पराधीन हैं विनाशवान हैं इसी लिये त्यागने योग्य हैं। ये इंद्रियजन्य ज्ञान और सुख [illegible]के बढ़ानेवाले हैं। जबकि अतींद्रिय ज्ञान और सुख मोक्ष स्वरूप हैं, अविनाशी हैं तथा परमशांति पैदा करनेवाले हैं-ऐसा जानकर अतींद्रिय सुखकी ही भावना करनी योग्य है। इस प्रकार अधिकारकी गाथासे पहला स्थल गया ॥५३॥

उत्थानिका-आगे उसी पूर्वमें कहे हुए अतींद्रिय ज्ञानका विशेष वर्णन करते हैं—

जं पेच्छदो अमुत्तं, मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सकलं सगं च इदरं, तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥५४॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम् ।
सकलं स्वकं च इतरत् तद् ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥५४॥

सामान्यार्थ-देखनेवाले पुरुषका जो ज्ञान अमूर्तिक द्रव्यको, मूर्तीक पदार्थोंमें इन्द्रियोंके अगोचर सूक्ष्म पदार्थको तथा गुप्त पदार्थको सम्पूर्ण निज और पर ज्ञेयोंको जो जानता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(पेच्छदो) अच्छी तरह देखनेवाले केवलज्ञानी पुरुषका (जं) जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान है सो (अमुत्तं) अमूर्तीकको अर्थात् अतीन्द्रिय तथा राग रहित सदा आनन्दमई सुखस्वभावके धारी परमात्मद्रव्यको आदि लेकर सर्व अमूर्तीक द्रव्य समूहको, (मुत्तेसु) मूर्तीक पुद्गल द्रव्योंमें (अदिंदियं) अतीन्द्रिय इन्द्रियोंके अगोचर परमाणु आदिकोंको (च पच्छण्णं) तथा गुप्तको अर्थात् द्रव्यापेक्षा कालाणु आदि अप्रगट तथा दूरवर्ती द्रव्योंको, क्षेत्र अपेक्षा गुप्त अलोकाकाशके प्रदेशादिकोंको, काल अपेक्षा प्रच्छन्न विकार रहित परमानन्दमई एक सुखके आस्वादनकी परिणतिरूप परमात्माके वर्तमान समय सम्बन्धी परिणामोंको आदि लेकर सर्व द्रव्योंकी वर्तमान समयकी पर्यायोंको, तथा भावकी अपेक्षा उसही परमात्माकी सिद्धरूप शुद्ध व्यंजन पर्याय तथा अन्य द्रव्योंकी जो यथासंभव व्यंजन पर्याय उनमें अंतर्भूत अर्थात मग्न जो प्रति समयमें वर्तन करनेवाली छः प्रकार वृद्धि हानि स्वरूप अर्थ पर्याय इन सब प्रच्छन्न द्रव्यक्षेत्रकाल भावोंको, और (सगं च इदरं) जो कुछ भी यथासंभव अपना द्रव्य सम्बन्धी तथा परद्रव्य सम्बन्धी या दोनों सम्बन्धी है (सयलं)

उन सर्व ज्ञेय पदार्थोंको जानता है (तं णाणं) वह ज्ञान (पचक्खं) प्रत्यक्ष (हवदि) होता है। यहां शिष्यने प्रश्न किया, कि ज्ञान प्रपंचका अधिकार तो पहले ही होचुका। अब इस सुख प्रपंचके अधिकारमें तो सुखका ही कथन करना योग्य है। इसका समाधान यह है कि जो अतीन्द्रियज्ञान पहले कहा गया है वह ही अमेद नयसे सुख है इसकी सूचनाके लिये अथवा ज्ञानकी मुख्यतासे सुख है क्योंकि इस ज्ञानमें हेय उपादेयकी चिंता नहीं है इसके बतानेके लिये कहा है। इसतरह अतीन्द्रिय ज्ञान ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा कहते हुए एक गाथा द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने अनन्त अतीन्द्रिय सुखके लिये मुख्यतासे कारण रूप तथा एक समयमें तिष्ठनेवाले प्रत्यक्ष केवलज्ञानका वर्णन इसी लिये किया है कि उस स्वाधीन ज्ञानके होते हुए किसी जानने योग्य पदार्थके जाननेकी चिंता नहीं होती है। न वहां किसीको ग्रहण या त्यागका विकल्प होता है। जहां चिंता तथा विकल्प है वहां निराकुलता नहीं होती है। जहां निश्चिंत व निर्विकल्प अवस्था रहती है वहां कोई प्रकार आकुलता नहीं होती है। अतीन्द्रिय आनन्दके भोगनेमें इस निराकुलताकी आवश्यक्ता है। यह केवलज्ञान अपने आत्माके तथा पर आत्माओंके तथा अन्य सर्व द्रव्योंके तीन कालवर्ती द्रव्य क्षेत्र काल भावोंको जानता है। जो ज्ञान पांच इन्द्रिय तथा मनके द्वारा होना असंभव है वह सर्व ज्ञान केवलज्ञानीको प्रत्यक्ष होता है वह मूर्त और अमूर्त सर्व द्रव्योंको जानता है तथा इन्द्रियोंके

अगोचर पुद्गलके परमाणु तथा उनके अविभाग प्रतिच्छेद आदिको तथा द्रव्यादि चतुष्टयमें तो अति गुप्त पदार्थोंको भी प्रत्यक्ष जानता है । द्रव्यमें तो कालाणु आदि गुप्त हैं, क्षेत्रमें अलोकाकाशके प्रदेश, कालमें अतीत, भविष्य व वर्तमान समयकी पर्यायें भावमें अविभाग प्रतिच्छेद रूपी षट् प्रकार हानिवृद्धि रूप सूक्ष्म परिणमन प्रच्छन्न हैं। केवलज्ञानीको ये सब ज्ञेय पदार्थ हाथमें रक्खे हुए स्फटिककी तरह साफ २ दिखते हैं और विना किसी क्रमसे एक काल दिखते हैं जैसा स्वामी समंतभद्रने अपने स्वयम्भू स्तोत्रमें कहा है:-

बहिरंतरप्युभयथा च करणमविघातिनार्थकृत् ।
नाथ युगपदखिलं च सदा, त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ॥१२८

भाव यह है कि हे नेमिनाथ भगवान ! आप एक ही समयमें सम्पूर्ण इस जगतको सदा ही इस तरह जानते रहते हो जिस तरह हाथकी हथेली पर रक्खा हुआ स्फटिक स्पष्ट २ भीतर बाहरसे जाना जाता है-यह महिमा आपके ज्ञानकी इसीलिये है कि आपका ज्ञान अतीन्द्रिय है, उसके लिये इंद्रिय तथा मन दोनों अलग २ या मिल करके भी कुछ कार्यकारी नहीं हैं और न वे होकरके भी ज्ञानमें कुछ विघ्न करते हैं। केवलज्ञानीका उपयोग इन्द्रिय तथा मन द्वारा काम नहीं करता है। आत्मस्थ ही रहता है। ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानी परमात्माको ही निराकुल आनंद संभव है। ऐसा जान इस शुद्ध स्वाभाविक ज्ञानको उपादेय रूप मानके इसकी प्राप्तिके कारण शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका हमको निरंतर अभ्यास करना चाहिये। यही तात्पर्य है ॥१४॥

उत्थानिका—आगे त्यागने योग्य इंद्रिय सुखका कारण होनेसे तथा अल्प विषयके जाननेकी शक्ति होनेसे इंद्रियज्ञान त्यागने योग्य है ऐसा उपदेश करते हैं—

जीवो सयं अमुत्तो, मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगिण्हित्ता जोग्गं, जाणदि वा तण्ण जाणादि॥

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिमतस्तेन मूर्तेन मूर्तम्।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥५५॥

सामान्यार्थ—यह जीव स्वयं स्वभावसे अमूर्तिक है परंतु कर्मबंधके कारण मूर्तीकसा होता हुआ मूर्तीक शरीरमें प्राप्त होकर उसमें मूर्तीक इंद्रियोंके द्वारा मूर्तीक द्रव्यको अपने योग्य अवग्रह आदिके द्वारा क्रमसे ग्रहण करके जानता है अथवा मूर्तीकको भी बहुतसा नहीं जानता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जीवो सयं अमुत्तो) जीव स्वयं अमूर्तीक है अर्थात् शक्तिरूपसे व शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अमूर्तीक अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखमई स्वभावको रखता है तथा अनादिकालसे कर्म बंधके कारणसे व्यवहारमें (मुत्तिगदो) मूर्तीक शरीरमें प्राप्त है व मूर्तिमान शरीरों द्वारा मूर्तीक-सा होकर परिणमन करता है (तेण मुत्तिणा) उस मूर्त शरीरके द्वारा अर्थात् उस मूर्तीक शरीरके आधारमें उत्पन्न जो मूर्तीक द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय उनके आधारसे (जोग्गं मुत्तं) योग्य मूर्तीक वस्तुको अर्थात् स्पर्शादि इंद्रियोंसे ग्रहण योग्य मूर्तीक पदार्थको (ओगिण्हित्ता) अवग्रह आदिसे क्रमक्रमसे

ग्रहण करके (जाणदि) जानता है अर्थात् अपने आवरणके क्षयोपशमके योग्य कुछ भी स्थूल पदार्थको जानता है (वा तण्ण जाणादि) तथा उस मूर्तीक पदार्थको नहीं भी जानता है, विशेष क्षयोपशमके न होनेसे सूक्ष्म या दूरवर्ती, व कालसे प्रच्छन्न व भूत भावी कालके बहुतसे मूर्तीक पदार्थोंको नहीं जानता है। यहां यह भावार्थ है। इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चयसे केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष ही है। परोक्ष होनेसे जितने अंश वह सूक्ष्म पदार्थको नहीं जानता है उतने अंश जाननेकी इच्छा होते हुए न जान सकनेसे चित्तको खेदका कारण होता है-खेद ही दुःख है इसलिये दुःखोंको पैदा करनेसे इन्द्रियज्ञान त्यागने योग्य है।

भावार्थ-यहां इस गाथामें आचार्यने इन्द्रिय तथा मनके सम्बन्धसे होनेवाले सर्वही क्षयोपशमरूप ज्ञानको त्यागने योग्य बताया है क्योंकि यह क्षयोपशम ज्ञान असमर्थ है तथा दुःख व आकुलताका कारण है। आत्माका स्वभाव अमूर्तीक है तथा स्वाभाविक व अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखका भंडार है। जिससे आत्मा सर्वज्ञ व पूर्णानन्दी सदा रहता है। ऐसा स्वभाव होनेपर भी अनादि कालसे इस स्वभाव पर कर्मोंका आवरण पड़ा हुआ है। जिससे आत्माका एक एक प्रदेश अनंत कर्म वर्गणाओंसे आच्छादित है इस कारण मूर्तिमानसा हो रहा है। और उन्हीं कर्मोंके उदयके कारण यह मूर्तीक शरीरको धारण करता है और उसमें अपने २ नाम कर्मके उदयके अनुसार कम व अधिक इंद्रिय तथा नो इन्द्रियोंको बनाता है और उनके द्वारा ज्ञानावरणीय

कर्मके क्षयोपशमके अनुसार क्रम पूर्वक कुछ स्थूल मूर्तीक द्रव्योंको जानता है। बहुतसे मूर्तीक द्रव्य जो सूक्ष्म व दूरवर्ती हैं उनका ज्ञान नहीं होता है अथवा किसी भी मूर्तीक द्रव्यको किसी समय नहीं जान सक्ता है। जैसे निद्रा व मूर्छित अवस्थामें तथा चक्षु प्रकाशकी सहायता विना नहीं जान सक्ती। अन्य चार इन्द्रियें बिना पदार्थोंको स्पर्श किये नहीं जान सक्ती। मन बहुत थोड़े पदार्थोंको सोच सक्ता है। क्योंकि इस ज्ञानमें बहुत थोड़ा विषय मालूम होता है इस कारण विशेष जाननेकी आकुलता रहती है, तथा एक दफे जान करके भी कालान्तरमें भूल जाता है। और जान करके भी उनमें राग द्वेष कर लेता है। जाने हुए पदार्थसे मिलना व उसको भोगना चाहता है—उनके वियोगसे कष्ट पाता है। पदार्थका नाश होजाने पर और भी दुःखी होजाता है। इसलिये यह इन्द्रियज्ञान अल्प होकर भी आकुलताका ही कारण है—जहांतक पूर्ण ज्ञान न हो वहां तक पूर्ण निराकुलता नहीं हो सक्ती है। बड़े२ देवगण पांचों इंद्रियोंके द्वारा एक साथ जाननेकी इच्छा रखते हुए भी क्रमसे एक २ इंद्रियके द्वारा जाननेसे आकुलित रहते हैं। प्रयोजन यह है कि इंद्रियज्ञानके आश्रयसे जो इंद्रियसुख होता है वह भी छूट जाता है और अधिक तृष्णाको बढ़ाकर खेद पैदा करता है।

यद्यपि मति और श्रुतज्ञान मूर्त व अमूर्त पदार्थोंको आगमादिके आश्रयसे जानते हैं परन्तु उनके बहुत ही कम विषयको व बहुत ही कम पर्यायोंको जानते हैं। अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान भी क्षयोपशम ज्ञान हैं, अमूर्तीक शुद्ध ज्ञान नहीं हैं। ये दोनों

भी मूर्तीक पदार्थोंके ही कुछ भागको मर्यादा लिये हुए जानते हैं अधिक न जान सकनेकी असमर्थता इनमें भी रहती है। इत्यादि कारणोंसे उपादेय रूप तो एक निज स्वाभाविक केवलज्ञान ही है। इसी लिये इस स्वभावकी प्रगटताका भाव चित्तमें रखकर निरन्तर स्वानुभवका मनन करना चाहिये ॥ ५५॥

उत्थानिका–*आगे यह निश्चय करते हैं कि चक्षु आदि* इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान अपने १ रूप रस गंध आदि विषयोंको भी एक साथ नहीं जानसक्ता है इस कारणसे त्यागने योग्य है।

फासो रसो य गंधो, वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा, जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

स्पर्शो रसश्च गंधो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तानैव गृण्हन्ति ॥५६॥

सामान्यार्थ–पांच इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पांचों ही विषय पुद्गल द्रव्य हैं। ये इंद्रियें इनको भी एक समयमें एक साथ नहीं ग्रहण करसक्ती हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(अक्खाणं) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियोंके (फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पांचों ही विषय (पुग्गला होंति) पुद्गलमई हैं या पुद्गल द्रव्य हैं या मूर्तीक हैं (ते अक्खा) वे इंद्रियें (ते णेव) उन अपने विषयोंको भी (जुगवं) एक समयमें एकसाथ (ण गेण्हंति) नहीं ग्रहण करसक्ती हैं–नहीं जानसक्ती हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे सब

तरहसे ग्रहण करने योग्य अनंत सुखका उपादान कारण जो केवलज्ञान है सो ही एक समयमें सब वस्तुओंको जानता हुआ जीवके लिये सुखका कारण होता है तैसे यह इन्द्रिय ज्ञान अपने विषयोंको भी एक समयमें जान न सकनेके कारणसे सुखका करण नहीं है।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने इन्द्रियजनित ज्ञानकी निर्बलताको प्रगट किया है और दिखलाया है कि इस कर्मबंध सहित संसारी आत्माकी ज्ञानशक्तिके ऊपर ऐसा आवरण पड़ा हुआ है जिसके कारणसे इसको क्षयोपशम इतना कम है कि पांचों इन्द्रियोंके एक शरीरमें रहते हुए भी यह क्षयोपशमिक ज्ञान अपने उपयोगसे एक समयमें एक ही इंद्रियके द्वारा काम कर सक्ता है। जब स्पर्शसे छूकर जानता है तब स्वादने आदिका काम नहीं कर सक्ता, जब स्वाद लेता है तब अन्य स्पर्शादि नहीं कर सक्ता है। उपयोगकी चंचलता और पलटन इतनी जल्दी होती है कि हमको पता नहीं चलता है कि इनका काम भिन्न २ समयमें होता है। हमको कभी कभी यह भ्रम होजाता है कि हमारी कई इंद्रियें एक साथ काम कर रही हैं। जैसे काककी दो आंखें होनेपर भी पुतली एक है वह इतनी जल्दी पलटती है कि हमको उसकी दो पुतलियोंका भ्रम हो जाता है। उपयोग पांच इन्द्रिय और नो इन्द्रिय मन इन छः सहायकोंके द्वारा एक साथ काम नहीं कर सक्ता, जब मनसे विचारता है तब इंद्रियोंसे ग्रहण बन्द हो जाता है। यद्यपि यह भिन्न२ समयमें अपने२ विषयको ग्रहण करती है तथापि यह सामनेके कुछ स्थूल विषयको जान सक्ती हैं न यह सूक्ष्मको जान सक्ती और न दूरवर्ती पदार्थोंको जान सक्ती

हैं। इन इंद्रियोंका विषय बहुत ही अल्प है जब कि केवलज्ञानका विषय एक साथ सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थोको भिन्न२ हरप्रकारसे जान लेनेका है। इन इंद्रियोंसे जाना हुआ विषय बहुत कालतक धारणामें रहता नहीं, भुला दिया जाता है। जबकि केवलज्ञान सदा काल सर्व ज्ञेयोंको जानता रहता है। इंद्रियोंके द्वारा प्राप्त ज्ञान अपूर्ण, क्रमवर्ती तथा विस्मरणरूप होनेसे न जानी हुई बातको जाननेकी आकुलताका कारण है। जिसको अल्प ज्ञान होता है वह अधिक जानना चाहता है। अधिक ज्ञान न मिलनेके कारण जबतक वह न हो तबतक वह व्यक्ति चिंता व दुःख किया करता है। जबकि केवलज्ञान सम्पूर्ण व अक्रम ज्ञान होनेसे पूर्णपने निराकुल है। इन्द्रियजनित ज्ञानमें मोहका उदय होनेसे किसी वस्तुसे राग व किसीसे द्वेष हो जाता है। अतींद्रिय केवलज्ञान सर्वथा निर्मोह है इससे रागद्वेष नहीं होता—केवलज्ञानी समताभावमें भीगा रहता है। इन्द्रियजनित ज्ञानके साथ रागद्वेष होनेसे कर्मका बन्ध होता है। जबकि केवलज्ञानमें वीतरागता होनेसे बंध भी नहीं होता। इस तरह इन्द्रियजनित ज्ञानको निर्बल, तुच्छ व पराधीन जानकर छोड़ना चाहिये और केवलज्ञानको ग्रहण योग्य मानके उसकी प्रगटताके लिये आत्मानुभवरूप आत्मज्ञानको सदा ही भावना चाहिये ॥ ५६ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इंद्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है—

परदव्वं ते अक्खा,णेव सहावोत्ति.अप्पणो भणिदा
उवलद्धं तेहि कहं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५९॥

परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि।
उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥५७॥

सामान्यार्थ-वे पांचों इंद्रियें पर द्रव्य हैं क्योंकि वे आत्माके स्वभावरूप नहीं कही गई हैं इसलिये उन इंद्रियोंके द्वारा जानी हुई वस्तु किसतरह आत्माको प्रत्यक्ष होसक्ती है? अर्थात् नहीं होसक्ती।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(ते अक्खा) वे प्रसिद्ध पांचों इंद्रियें (अप्पणो) आत्माकी अर्थात् विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव धारी आत्माकी (सहावो णेव भणिदा) स्वभाव रूप निश्चयसे नहीं कही गई है क्योंकि उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थसे हुई है (त्ति पर दव्वं) इसलिये वे परद्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यमई हैं (तेहि उवलद्धं) उन इंद्रियोंके द्वारा जाना हुआ उनहीका विषय योग्य पदार्थ सो (अप्पणो पच्चक्खं कहं होदि) आत्माके प्रत्यक्ष किस तरह हो सक्ता है? अर्थात् किसी भी तरह नहीं हो सक्ता है। जैसे पांचों इंद्रिय आत्माके स्वरूप नहीं है ऐसे ही नाना मनोरथोंके करनेमें यह बात कहने योग्य है, मैं कहनेवाला हूं इस तरह नाना विकल्पोंके जालको बनानेवाला जो मन है वह भी इंद्रिय ज्ञानकी तरह निश्चयसे परोक्ष ही है ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते हैं-सर्व पदार्थोंको एक साथ अखंड रूपसे प्रकाश करनेवाले परम ज्योति स्वरूप केवलज्ञानके कारणरूप तथा अपने शुद्ध आत्म स्वरूपकी भावनासे उत्पन्न परम आनन्द एक लक्षणको रखनेवाले सुखके वेदनके आकारमें परिणमन करनेवाले और रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानमें भावना

करनी चाहिये यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने इंद्रियजनित ज्ञानकी असमर्थताको और भी स्पष्ट किया है कि इंद्रियजनित ज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान नहीं है अर्थात् जो जो पदार्थ इंद्रियोंके तथा मनके द्वारा जाने जाते हैं वे सब परोक्ष हैं अर्थात् आत्माके साक्षात् स्वाभाविक ज्ञानके विषय उस इंद्रिय ज्ञानके समय न होनेसे वे पदार्थ आत्माको प्रत्यक्ष रूपसे झलके ऐसा नहीं कहा जासक्ता। जिन पदार्थोंको आत्मा दूसरेके आलम्बन बिना अपने स्वभावसे जाने वे ही पदार्थ आत्माके प्रत्यक्ष हैं ऐसा कहा जासक्ता है इसीलिये आत्माके स्वाभाविक केवलज्ञानको वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। और जो ज्ञान इंद्रियों और मनके द्वारा होता है उसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। यहां हेतु बताया है कि ये इन्द्रियें आत्माका स्वभाव नहीं है क्योंकि शुद्ध आत्मामें जो अपने स्वाभाविक अवस्थामें हैं इंद्रियोंका बिलकुल भी अस्तित्व नहीं हैं न द्रव्य इन्द्रियें हैं न भाव इन्द्रियें हैं इसलिये इनकी उत्पत्तिका कारण आत्मासे भिन्न पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल वर्गणासे इन्द्रियोंके व मनके आकार शरीरमें बनते हैं तथा जो आत्माके प्रदेश इन्द्रियोंके आकार परिणमते हैं वे भी शुद्ध नहीं हैं, कर्मोंके आवरणसे मलीन हो रहे हैं तथा मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे जो भाव इंद्रिय ज्ञान प्रगट है उसमें भी केवलज्ञानावरणीयका उदय है इसलिये वह ज्ञान शुद्ध स्वभाव नहीं है किन्तु अशुद्ध विभाव रूप है। इसलिये वह भी निश्चयसे पौद्गलिक है। पराधीन इंद्रिय ज्ञानसे जाना हुआ विषय भी बहुत स्थूल व बहुत अल्प होता है तथा

क्रमवर्ती होता है। ऐसा आत्माका स्वाभाविक ज्ञान नहीं है इसलिये इन्द्रिय और मनसे पैदा होनेवाले ज्ञानको अपने निज आत्माका शुद्ध स्वभाव न मानकर उस ज्ञानको त्यागने योग्य जानकर और प्रत्यक्ष शुद्ध स्वाभाविक केवलज्ञानको उपादेय रूप जानकर उसकी प्रगटताके लिये स्वसंवेदन ज्ञान रूप स्वात्मानुभव अर्थात् शुद्धोपयोगमई साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये। शुद्ध निश्चय नयके द्वारा भेदज्ञान पूर्वक अपने शुद्ध स्वभावको पुद्गलादि द्रव्योंसे भिन्न जानकर उसीमेंसे श्रद्धा रूप रुचि ठानकर उसीके स्वाद लेनेमें उपयोग रूप परिणतिको रमाना चाहिये यह स्वानुभव आत्माके कर्ममलको काटनेवाला है तथा आत्मानंदको प्रगटानेवाला है और यही केवलज्ञानी होनेका मार्ग है ॥५७॥

उत्थानिका—आगे फिर भी अन्य प्रकारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानका लक्षण कहते हैं—

जं परदो विण्णाणं, तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं, हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु।
यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥५८॥

सामान्यार्थ—जो ज्ञान परकी सहायतासे ज्ञेय पदार्थोंमें होता है उसको परोक्ष कहा गया है। परन्तु जो मात्र केवल जीवके द्वारा ही ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अत्थेसु) ज्ञेय पदार्थोंमें (परदो) दूसरेके निमित्त या सहायतासे (जं विण्णाणं) जो

ज्ञान होता है (तंतु परोक्खत्ति भणिदं) उस ज्ञानको तो परोक्ष है ऐसा कहते हैं तथा (यदि केवलेण जीवेण णादं हि हवदि) जो केवल विना किसी सहायताके जीवके द्वारा निश्चयसे जाना जाता है, सो (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसका विस्तार यह है कि इंद्रिय तथा मन सम्बन्धी जो ज्ञान है वह परके उपदेश, प्रकाश आदि बाहरी कारणोंके निमित्तसे तथा ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए अर्थको जाननेकी शक्तिरूप उपलब्धि और अर्थको जाननेरूप संस्कारमई अंतरंग निमित्तसे पैदा होता है वह पराधीन होनेसे परोक्ष है ऐसा कहा जाता है। परंतु जो ज्ञान पूर्वमें कहे हुए सर्व परद्रव्योंकी अपेक्षा न करके केवल शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावधारी परमात्माके द्वारा उत्पन्न होता है वह अक्ष कहिये आत्मा उसीके द्वारा पैदा होता है इस कारण प्रत्यक्ष है ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें भी भगवान कुंदकुंदाचार्यने इंद्रिय ज्ञानकी निर्बलता दिखाई है और यह बताया है कि इंद्रियज्ञान परोक्ष है इसलिये पराधीन है जब कि केवलज्ञान बिलकुल प्रत्यक्ष है और स्वाधीन है आत्माका स्वभाव है। केवलज्ञानके प्रकाशमें जब अन्य किसी अंतरंग व बहिरंग निमित्त कारणकी जरूरत नहीं है तब इंद्रियज्ञानमें बहुतसे अंतरंग बहिरंग कारणोंकी आवश्यक्ता है। अंतरंग कारणोंमें प्रथम तो ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम इतना चाहिये कि जितनी इन्द्रियोंकी रचना शरीरमें बनी हुई है उन इंद्रियोंके द्वारा जाननेका काम किया जासके। दूसरे जिस इंद्रिय या मनसे जानना है उस ओर आत्माके उपयोगकी

परिणति जानी चाहिये। यदि उपयोग मूर्छित है या किसी एक वस्तुमें लवलीन है तो दूसरी इंद्रियों द्वारा जाननेका काम नहीं करसक्ता। एक मनुष्य किसी वस्तुको देखनेमें उपयुक्त होता हुआ कर्ण इंद्रिय द्वारा सुननेका काम उस समयतक नहीं करसक्ता जबतक उपयोग चक्षु इंद्रियसे हटकर कर्ण इंद्रियकी तरफ न आवे। तीसरे बहुतसे विषयोंके जाननेमें पूर्वका स्मरण या संस्कार भी आवश्यक होता है। यदि कभी देखी, सुनी व अनुभव की हुई वस्तु न हो तो हम इंद्रियोंसे ग्रहण करते हुए भी उसका नाम तथा गुण नहीं समझ सकेंगे। इसी तरह बहुतसे बहिरङ्ग कारण चाहिये जैसे इंद्रियोंका अस्वस्थ व निद्रित व मूर्छित न होना, पदार्थोंका सम्बन्ध, प्रकाशका होना आदि इत्यादि अनेक कारणोंका समूह मिलनेपर ही इंद्रियजनित ज्ञान होता है। इसी तरह शास्त्रज्ञान भी पराधीन है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम तथा उपयोगका सन्मुख होना अंतरंग कारण, और शास्त्र, स्थान, प्रकाश, अध्यापक आदि बहिरंग कारण चाहिये। यद्यपि अवधि मनःपर्यय ज्ञान साक्षात् इंद्रिय तथा मन द्वारा नहीं होते हैं. तथापि ये भी स्वाभाविक ज्ञान नहीं हैं। इनमें भी कुछ पराधीनताएं हैं। जिसका जितना अवधि ज्ञानावरणीय तथा मनःपर्यय ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम होता है उतना ज्ञान तब होता है जब उपयोग किसी विशेष पदार्थकी तरफ इन दोनों ज्ञानोंकी शक्तिसे सन्मुख होता है।

सब तरह स्वाधीन आत्माका स्वाभाविक एक ज्ञान केवलज्ञान है। इसलिये यही उपादेय है, और इसी ज्ञानकी प्राप्तिके

लिये हमको शुद्धोपयोगरूप साम्यभावका निरंतर अभ्यास करना चाहिये यही इस मुमुक्षु आत्माको परमानंदका देनेवाला है।

इसतरह त्यागने योग्य इन्द्रियजनित ज्ञानके कथनकी मुख्यता करके चार गाथाओंसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥५८॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि अभेद नयसे पांच विशेषण सहित केवलज्ञान ही सुखरूप है।

जादं सयं समत्तं, णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं।
रहिदं तु उग्गहादिहि, सुहत्ति एयंतियं भणिदं ५९

जातं स्वयं समस्तं ज्ञानमनन्तार्थविस्तृतं विमलं।
रहितं तु अवग्रहादिभिः सुखमिति ऐकांतिकं भणितम् ॥५९॥

सामान्यार्थ–यह ज्ञान जो स्वयं ही पैदा हुआ है, पूर्ण है, अनन्त पदार्थोंमें फैला है, निर्मल है तथा अवग्रह आदिके क्रमसे रहित है नियमसे सुख रूप है ऐसा कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(णाणं) यह केवलज्ञान (सयं जादं) स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ है, (समत्तं) परिपूर्ण है, (अणंतत्थवित्थिदं) अनन्त पदार्थोंमें व्यापक है, (विमलं) संशय आदि मलोंसे रहित है, (उग्गहादिहि तु रहिदं) अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा आदिके क्रमसे रहित है। इस तरह पांच विशेषणोंसे गर्भित जो केवलज्ञान है वही (एयंतियं) नियम करके (सुहत्ति भणिदं) सुख है ऐसा कहा गया है।

भाव यह है कि यह केवलज्ञान पर पदार्थोंकी सहायताकी अपेक्षा न करके चिदानन्दमई एक स्वभावरूप अपने ही शुद्धा-

त्माके एक उपादान कारणसे उत्पन्न हुआ है इस लिये स्वयं पैदा हुआ है, सर्व शुद्ध आत्माके प्रदेशोंमें प्रगटा है इसलिये सम्पूर्ण है, अथवा सर्व ज्ञानके अविभाग परिच्छेद अर्थात् शक्तिके अंश उनसे परिपूर्ण है, सर्व आवरणके क्षय होनेसे पैदा होकर सर्व ज्ञेय पदार्थोंको जानता है इससे अनंत पदार्थ व्यापक है, संशय, विमोह विभ्रमसे रहित होकर व सूक्ष्म आदि पदार्थोंके जाननेमें अत्यन्त विशद होनेसे निर्मल है। तथा क्रमरूप इन्द्रियजनित ज्ञानके खेदके अभावसे अवग्रहादि रहित अक्रम है ऐसा यह पांच विशेषण सहित क्षायिकज्ञान अनाकुलता लक्षणको रखनेवाले परमानन्दमई एक रूप पारमार्थिक सुखसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिकी अपेक्षासे भेदरूप होने पर भी निश्चयनयसे अभिन्न होनेसे पारमार्थिक या सच्चा स्वाभाविक सुख कहा जाता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बताया है कि जहां निर्मल शुद्ध प्रत्यक्षज्ञान प्रगट हो जाता है वहीं नित्य बिना किसी अन्तरके अपने ही शुद्ध आत्माका साक्षात् अवलोकन होता है। वैसा दर्शन तथा ज्ञान इस आत्माका उस समय तक अपने आपको नहीं होता है जब तक केवल दर्शनावरणीय तथा केवल ज्ञानावरणीयका उदय रहता है। केवलज्ञान होनेके पहले परोक्ष भाव श्रुतज्ञान रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है इस कारण केवलज्ञानीके जैसा साक्षात् अनुभव नहीं होता है। जब केवलज्ञानके प्रगट होनेसे आत्माका साक्षात्कार हो जाता है तब यह आत्मा अपने सब गुणोंका विकास करता है-उन गुणोंमें सुखगुण प्रधान है-

ज्ञानके साथ साथ ही अतींद्रिय स्वाभाविक शुद्ध सुखका अनुभव होता है। इस कारण यहां अभेद नयसे ज्ञानको ही सुख कहा है। जहां अज्ञानके कारण खेद व चिंता व किंचित् भी अशुद्धता होती है वहां निराकुलता नहीं पैदा होती है। केवलज्ञान ऐसा उच्चतम व उत्कृष्ट ज्ञान है कि इसके प्रकाशमें आकुलताका अंश भी नहीं हो सक्ता है, क्योंकि एक तो यह पराधीन नहीं है अपनेसे ही प्रगट हुआ है। दूसरे यह पूर्ण है क्योंकि सर्व ज्ञानावरणका क्षय हो गया है। तीसरे यह सर्व ज्ञेयोंको एक समयमें जाननेवाला है, अब कोई भी जानने योग्य पर्याय ज्ञानसे बाहर नहीं रहजाती है। चौथे यह शुद्ध है-स्पष्टपने झलकनेवाला है। पांचवे यह क्रम क्रमसे न जानकर सर्वको एक समयमें एक साथ जानता है। ज्ञान सूर्य्यके प्रकाशमें कोई भी अंश अज्ञानका नहीं रहसक्ता है। इस कारण मात्र ज्ञान ही स्वयं निराकुल है, खेद रहित है, बाधा रहित है, और यहां तो ज्ञानगुणसे भिन्न एक सुख गुण और भी कल्लोल कर रहा है। इसलिये अभेद नयसे ज्ञानको सुख कहा है क्योंकि जिन आत्मप्रदेशोंमें ज्ञान है वहीं सुख गुण है। आत्मा अखंड एक है। वही भेदनयसे ज्ञानमय, सुखमय, वीर्य्यमय, चारित्रमय आदि अनेक रूप है। प्रयोजन यह है कि शुद्ध अतीन्द्रिय सुखका लाभ केवलज्ञानके होनेपर नियमसे होता है ऐसा जानकर इस ज्ञानकी प्रगटताके लिये शुद्ध आत्माका अनुभव परोक्ष ज्ञानके द्वारा भी सदा करने योग्य है क्योंकि यही स्वानुभवरूपी अग्नि ही कर्मोंके आवरणको दग्ध करती है ॥५९॥

उत्थानिका—आगे कोई शंका करता है कि जब केवलज्ञानमें अनन्त पदार्थोंका ज्ञान होता है तब उस ज्ञानके होनेमें अवश्य खेद या श्रम करना पड़ता होगा। इसलिये वह निराकुल नहीं है। इस शंकाका समाधान करते हैं—

जं केवलत्ति णाणं, तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो, जम्हा घादी खयं जादा॥६०॥

यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं परिणमश्च स चैव।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं जातानि॥६०॥

सामान्यार्थ—जो यह केवलज्ञान है वही सुख है तथा वही आत्माका स्वाभाविक परिणाम है, क्योंकि घातिया कर्म नष्ट होगए हैं इसलिये उस केवलज्ञानके अंदर खेद नहीं कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जं केवलत्ति णाणं) जो यह केवलज्ञान है (तं सोक्खं) वही सुख है (सो चेव परिणमं च) तथा वही केवलज्ञान सम्बन्धी परिणाम आत्माका स्वाभाविक परिणमन है। (जम्हा) क्योंकि (घादी खयं जादा) मोहनीय आदि घातियाकर्म नष्ट होगए (तस्स खेदो ण भणिदो) इस लिये उस अनंत पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानके भीतर दुःखका कारण खेद नहीं कहा गया है। इसका विस्तार यह है कि जहां ज्ञानावरण दर्शनावरणके उदयसे एक साथ पदार्थोंके जाननेकी शक्ति नहीं होती है किंतु क्रमक्रमसे पदार्थ जाननेमें आते हैं वहीं खेद होता है। दोनों दर्शन ज्ञान आवरणके अभाव होनेपर एक साथ सर्व पदार्थोंको जानते हुए केवलज्ञानमें कोई खेद नहीं है किंतु सुख ही

है। वैसे ही उन केवली भगवानके भीतर तीन जगत् और तीन कालवर्ती सर्व पदार्थोंको एक समयमें जाननेको समर्थ अखंड एक-रूप प्रत्यक्ष ज्ञानमय स्वरूपसे परिणमन करते हुए केवलज्ञान ही परिणाम रहता है। कोई केवलज्ञानसे भिन्न परिणाम नहीं होता है जिससे कि खेद होगा। अथवा परिणामके सम्बन्धमें दूसरा व्याख्यान करते हैं-एक समयमें अनंत पदार्थोंके ज्ञानके परिणाममें भी वीर्यांतरायके पूर्ण क्षय होनेसे अनन्तवीर्यके सद्भावसे खेदका कोई कारण नहीं है। वैसे ही शुद्ध आत्मप्रदेशोंमें समतारसके भावसे परिणमन करनेवाली तथा सहज शुद्ध आनन्दमई एक लक्षणको रखनेवाली, सुखरसके आस्वादमें रमनेवाली आत्मासे अभिन्न निराकुलताके होते हुए खेद नहीं होता है। ज्ञान और सुखमें संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिका भेद होनेपर भी निश्चयसे अभेदरूपसे परिणमन करता हुआ केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है। इससे यह ठहरा कि केवलज्ञानसे भिन्न सुख नहीं है इस कारणसे ही केवलज्ञानमें खेदका होना संभव नहीं है।

भावार्थः-इस गाथामें आचार्यने अतीन्द्रिय सुखके साथ अविनाभावी केवलज्ञानको सर्व तरहसे निराकुल या खेद रहित बताया है। और यह सिद्ध किया है कि केवलज्ञानकी अवस्थामें खेद किसी भी तरह नहीं हो सक्ता है। खेदके कारण चार ही हो सक्ते हैं। जब किसीको देखनेकी बहुत इच्छा है और सबको एक साथ देख न सके क्रम क्रमसे थोड़ा देखे तब खेद होता है सो यहां दर्शनावरणीय कर्मका नाश होगया इसलिये आत्माके स्वाभाविक दर्शन गुणके विकाशमें कोई बाधक कारण नहीं रहा

जिससे आकुलता या खेद हो। दूसरे जब किसीको जाननेकी बहुत इच्छा है और सबको एक साथ जान न सके क्रमक्रमसे थोड़ा २ जाने तब खेद होता है सो यहां ज्ञानावरणीय कर्मका सर्वथा क्षय हो गया इसलिये आत्माके स्वाभाविक ज्ञान गुणके विकाशमें बाधक कोई कारण नहीं रहा जिससे आकुलता या खेद हो। तीसरे जब किसीमें बहुत कार्य्य करनेकी चाह हो परन्तु वीर्य्यकी कमीसे कर न सके तब खेद होता है। सो यहां अंतराय कर्मका सर्वथा नाश हो गया इससे आत्माके स्वाभाविक अनंतवीर्य्यके विकाशमें कोई कोई बाधक कारण नहीं रहा जिससे खेद हो। चौथे जब किसीको पुनः पुनः इच्छाएं नाना प्रकारकी हों तथा किसीमें राग व किसीमें द्वेष हो तब आकुलता या खेद होसक्ता है सो यहां सर्व मोहनीय कर्मका नाश होगया है इससे कोई प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेदरूप कलुषित भाव नहीं होता है, न कोई इच्छा पैदा होती है। इसतरह चार घातिया कर्मोंका उदय आत्मामें खेद पैदा करसक्ता है सो केवलज्ञानी भगवानके चारों घातिया क्षय होगए इसलिये उनको कोई तरहका खेद नहीं होसक्ता, वे पूर्ण निराकुल हैं। केवलज्ञान भी कोई अन्य स्वभाव नहीं है आत्माका स्वाभाविक परिणमन है इससे वह सुखरूप ही है। इसतरह यह सिद्ध करदिया गया कि केवलज्ञानीको अनंत पदार्थोंको जानते हुए भी कोई खेद या श्रम नहीं होता है। ऐसी महिमा केवलज्ञानकी जानकर उसीकी प्राप्तिका यत्न करनेके लिये साम्यभावका आलम्बन करना चाहिये ॥ ६० ॥

उत्थानिका—आगे फिर भी केवलज्ञानको सुखरूपपना अन्य प्रकारसे कहते हुए इसी बातको पुष्ट करते हैं—

णाणं अत्थंतगदं, लोगालोगेसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं, इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ ६१ ॥

ज्ञानमर्थांतगतं लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः ।
नष्टमनिष्टं सर्वमिष्टं पुनर्यत्तु तल्लब्धम् ॥ ६१ ॥

सामान्यार्थ—केवलज्ञान सर्व पदार्थोंके पारको प्राप्त हो गया तथा केवलदर्शन लोक और अलोकमें फैल गया । जो अनिष्ट था वह सब नाश हो गया तथा जो सर्व इष्ट था सो सब प्राप्त हो गया ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाणं) केवलज्ञान (अत्थंतगदं) सर्वज्ञेयोंके अंतको प्राप्त हो गया अर्थात् केवलज्ञानने सब जान लिया (दिट्ठी) केवलदर्शन (लोगालोगेसु वित्थडा) लोक और अलोकमें फैल गया (सव्वं अणिट्ठं) सर्व अनिष्ट अर्थात् अज्ञान और दुःख (णट्ठं) नष्ट हो गया (पुण) तथा (जं तु इट्ठं तं तु लद्धं) जो कुछ इष्ट है अर्थात् पूर्ण ज्ञान तथा सुख है सो सब प्राप्त हो गया । इसका विस्तार यह है कि आत्माके स्वभाव घातका अभाव सो सुख है । आत्माका स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शन हैं । इनके घातक केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण हैं सो इन दोनों आवरणोंका अभाव केवलज्ञानियोंके होता है, इसलिये स्वभावके घातके अभावसे होनेवाला सुख होता है । क्योंकि परमानन्दमई एक लक्षणरूप सुखके उल्टे आकुलताके पैदा करने

वाले सर्व अनिष्ट अर्थात् दुःख और अज्ञान नष्ट होगए तथा पूर्वमें कहे हुए लक्षणको रखनेवाले सुखके साथ अविनाभूत अवश्य होनेवाले तीन लोकके अंदर रहनेवाले सर्व पदार्थोंको एक समयमें प्रकाशने वाला इष्ट ज्ञान प्राप्त होगया इसलिये यह जाना जाता है कि केवलियोंके ज्ञान ही सुख है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्य केवलज्ञानके सुख स्वरूपपना किस अपेक्षासे है इसको स्पष्ट करते हैं–और यह बात दिखलाते हैं कि संसारमें दुःखके कारण अज्ञान और कषायजनित आकुलता है। सो ये दोनों ही बातें केवलज्ञानीके नहीं होती हैं। आवरणोंके नाश होनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शन पूर्णपने प्रगट होजाते हैं जिनके द्वारा सर्व लोक और अलोक प्रत्यक्ष देखा तथा जाना जाता है। इसलिये कोई तरहका अज्ञान नहीं रहता है–तथा अज्ञानके सिवाय और जो कुछ अनिष्ट था सो भी केवलज्ञानीके नहीं रहा है। रागद्वेषादि कषाय परिणामोंमें विकार पैदा करके आकुलित करते हैं तथा निर्बलता होनेसे खेद होता है सो मोहनीय कर्म और अंतराय कर्मोंके सर्वथा अभाव होजानेसे न कोई प्रकारका रागद्वेष न निर्बलता जनित खेदभाव ही रहजाता है। आत्माके स्वभावके घातक सब विकार हट गए तथा स्वभावको प्रफुल्लित करनेवाले अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण प्रगट होगए। अर्थात् अनिष्ट सब चला गया तथा इष्ट सब प्राप्त होगया। केवलज्ञानके प्रगट होते ही आत्माका यथार्थ स्वभाव जो आत्माको परम हितकारी है सो प्रगट होजाता है। केवलज्ञानके साथ ही पूर्ण निराकुलता रहती है। इस लिये केवलज्ञानको सुखस्वरूप कहा

गया है। यद्यपि सुख नामका गुण आत्माका विशेष गुण है और वह ज्ञानसे भिन्न है तथापि यहां शुद्धज्ञान और अतींद्रिय निर्मल सुखके बोध या अनुभवका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिये ज्ञानको ही अभेद नयसे सुख कहा है। प्रयोजन यह है कि विना केवलज्ञानकी प्रगटताके अतींद्रिय अनन्त सुख नहीं प्रगट हो सक्ता है। इस लिये जिस तरह बने इस स्वाभाविक केवलज्ञानकी प्रगटताके लिये हमको स्वानुभवका अभ्यास करना चाहिये ॥ ६१ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पारमार्थिक सच्चा अतीन्द्रिय आनन्द केवलज्ञानियोंके ही होता है। जो कोई संसारियोंके भी ऐसा सुख मानते हैं वे अभव्य हैं।

ण हि सद्दहंति सोक्खं, सुहेसु परमंति
विगदघादीणं।
सुणिऊण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥६२

न हि श्रद्दधति सौख्यं सुखेसु परममिति विगतघातिनाम्।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छंति ॥ ६२ ॥

सामान्यार्थ—घातिया कर्मोंसे रहित केवलियोंके जो कोई सब सुखोंमें श्रेष्ठ अतीन्द्रिय सुख होता है ऐसा सुनकरके भी नहीं श्रद्धान करते हैं वे अभव्य हैं। किन्तु भव्य जीव इस बातको मानते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(विगदघादीणं) घातिया कर्मोंसे रहित केवली भगवानोंके (सुहेसु परमंति) सुखोंके बीचमें उत्कृष्ट जो (सोक्खं) विकार रहित परम आल्हादमई एक सुख है उसको (सुणिऊण) 'जादं सयं समत्तं' इत्यादि

पहले कहीं हुई तीन गाथाओंके कथन प्रमाण सुनकरके भी-जानकरके भी (ण हि सद्दहंति) निश्चयसे नहीं श्रद्धान करते हैं नहीं मानते हैं (ते अभव्वा) वे अभव्य जीव हैं अथवा वे सर्वथा अभव्य नहीं हैं किंतु दूरभव्य हैं। जिनको वर्तमानकालमें सम्यक्त रूप भव्यत्व शक्तिकी व्यक्तिका अभाव है (वा) तथा (भव्वा) जो भव्य जीव हैं अर्थात जो सम्यकदर्शन रूप भव्यत्त्व शक्तिकी प्रगटतामें परिणमन कर रहे हैं। भावार्थ-जिनके भव्यत्त्व शक्तिकी व्यक्ति होनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट हो गया है वे (तं पडिच्छंति) उस अनंत सुखको वर्तमानमें श्रद्धान करते हैं तथा मानते हैं और जिनके सम्यक्तरूप भव्यत्त्व शक्तिकी प्रगटताकी परिणति भविष्यकालमें होगी ऐसे दूरभव्य वे आगे श्रद्धान करेंगे। यहां यह भाव है कि जैसे किसी चोरको कोतवाल मारनेके लिये लेजाता है तब चोर मरणको लाचारीसे भोग लेता है तैसे यद्यपि सम्यग्दृष्टियोंको इंद्रियसुख इष्ट नहीं है तथापि कोतवालके समान चारित्र मोहनीयके उदयसे मोहित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टी जीव वीतरागरूप निज आत्मासे उत्पन्न सच्चे सुखको नहीं भोगता हुआ उस इंद्रियसुखको अपनी निन्दा गर्हा आदि करता हुआ त्यागबुद्धिसे भोगता है। तथा जो वीतराग सम्यग्दृष्टी शुद्धोपयोगी हैं, उनको विकार रहित शुद्ध आत्माके सुखसे हटना ही उसी तरह दुःखरूप झलकता है जिस तरह मछलियोंको भूमिपर आना तथा प्राणीको अग्निमें घुसना दु:खरूप भासता है। ऐसा ही कहा है-

समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः॥

भाव यह है–समतामई सुखको भोगनेवाले पुरुषोंको समतासे गिरना ही जब बुरा लगता है तब भोगोंमें पड़ना कैसे दुःख रूप न भासेगा? जब मछलियोंको जमीन ही दाह पैदा करती है तब अग्निके अंगारे हे आत्मन्! दाह क्यों न करेंगे।?

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बात दिखलाई है कि सच्चा अतीन्द्रिय आत्मीक आनन्द अवश्य चार घातिया रहित केवलज्ञानियोंके प्रगट होजाता है इसमें कोई सन्देह न करना चाहिये क्योंकि सुख आत्माका स्वभाव है। ज्ञानावरणीयादि चारों ही कर्म उस शुद्ध अनंत सुखके बाधक थे, उनका जब नाश होगया तब उस आत्मीक आनन्दकी प्रगटतामें कौन रोकनेवाला होसक्ता है? कोई भी नहीं। केवलज्ञानी अरहंत तथा सिद्धोंके ऐसा ही आत्मीक आनन्द है इस बातका श्रद्धान अभव्योंको कभी नहीं पैदा हो सक्ता है। क्योंकि जिनके कर्मोंके अनादि बंधनके कारण ऐसी कोई अमिट मलीनता होगई है जिससे वे कभी भी शुद्ध भावको पाकर सिद्ध नहीं होंगे उनके सम्यग्दर्शन ही होना अशक्य है। विना मिथ्यात्वकी कालिमाके हटे हुए उस शुद्ध सुखकी जातिका श्रद्धान कोई नहीं कर सक्ता है। भव्योंमें भी जिनके संसार निकट है उनहीके सम्यक्तभाव प्रगट होता है। सम्यक्त भावके होते ही भव्य जीवके स्वात्मानुभव अर्थात् अपने आत्माका स्वाद आने लगता है। इस स्वादमें ही उसी सच्चे सुखका स्वाद आता है जो आत्माका स्वभाव है। इस चौथे अविरत सम्यग्दृष्टीके भीतर भी उसी जातिके सुखका स्वाद आता है जो सुख अरहंत तथा सिद्धोंके प्रगट है, यद्यपि नीचे गुणस्था-

नवाले जीवके अनुभवमें उतना निर्मल आनन्द नहीं प्रगट होता जितना श्री अरहंत व सिद्ध परमात्माको होता है क्योंकि घातिया कर्मोंका अभाव नहीं भया है। तौ भी जो कुछ अनुभवमें होता है वह भावश्रुत ज्ञानके द्वारा आत्मीक सुखका ही स्वाद है। इसी कारण सम्यग्दृष्टी जीवोंको पक्का निश्चय होजाता है कि जैसा आत्मीक सुख हमारे अनुभवमें आ रहा है इसी जातिका अनन्त अविनाशी और शुद्ध सुख घातिया कर्मोंसे शून्य अरहंत तथा सिद्धोंके होता है। यह आत्मीक सुख सब सुखोंसे श्रेष्ठ इसी कारणसे है कि यह निज स्वभावसे पैदा हुआ है। इसमें किसी तरहकी पराधीनता नहीं है। इस सुखके भोगसे आत्मा पुष्ट होता है तथा अपूर्व शांतिका लाभ होता है और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है नवीन कर्मोंका संवर होता है। इस सुखका अनुभव मोक्ष या स्वाधीनताका बीज है। इसी कारण यह सुख सबसे बढ़कर है। इस सुखके मुकाबलेमें विषयभोग तथा कषायोंके द्वारा उत्पन्न हुआ जो इन्द्रियसुख तथा मानसिक सुख सो बहुत ही निर्बल, पराधीन तथा अशांतिका कारक, तृष्णावर्द्धक और कर्मबंधका बीज है। इन्द्रियजनित सुख इंद्रियोंकी पुष्टता तथा इष्ट बाहरी पदार्थोंके संयोगके आधीन है, आत्मबलको घटाता है, आकुलता व तृष्णाको बढ़ा देता है तथा तीव्र रागभाव होनेसे पापकर्मका बन्ध करता है। इंद्रियभोगोंके सिवाय जो सुख मनकी कषायजनित तृप्तिसे होता है वह भी इसी तरहका है जैसे किसी पर क्रोधके कारण द्वेष था यह सुना कि उसका अनिष्ट हो गया या स्वयं उसका अनिष्ट किया या

करा दिया तब जो मनमें खुशी होती है वह मानसिक कषायजनित सुख है। इसी तरह मान कषायवश किसीका अपमान करके कराके व हुआ सुनके मायाकषायके वश किसीको स्वयं ठगके, व उसको प्रपंचमें फंसाके व वह ठगा गया ऐसा सुनके तथा लोभ कषायवश उसे कुछ प्राप्त करके, किसीको प्राप्त कराके व किसीको कुछ धनादि मिला ऐसा सुनके जो कुछ मनमें खुशी होती है वह मानसिक कषायजनित सुख है–यह इन्द्रिय व मनसे उत्पन्न सर्व सुख त्यागने योग्य हैं–एक अतींद्रिय आनन्द ही ग्रहण करने योग्य है–वह भी नीचे गुणस्थानके अनुभवके योग्य नहीं किन्तु वह जो घातिया कर्मोंके नाशसे परमात्माके उदय होजाता है–यही सुख सबसे उत्तम है। ऐसा सुख न गृहस्थ सम्यग्दृष्टियोंके है न परिग्रह त्यागी साधुओंके है। यद्यपि जाति समान है परन्तु उज्वलता व स्पष्टता तथा बलमें अंतर है। ज्यों २ कषाय घटता है उज्वलता बढ़ती है, ज्यों २ अज्ञान घटता है स्पष्टता बढ़ती है, ज्यों २ अंतराय क्षय होता है, बल बढ़ता है। बस जब शुद्धता, स्पष्टता तथा पुष्टताके घातक सब आवरण चले गए तब यह अतीन्द्रिय सुख अपने पूर्ण स्वभावमें प्रगट होजाता है। और फिर अनन्त कालके लिये ऐसा ही चला जायगा इसमें एक समयमात्रके लिये भी अन्तर नहीं पड़ेगा। जिनके अंतर्मुहूर्त पर्यंत ध्यान होता है और फिर ध्यान बदलता है उनके तो इस सुखके आस्वादमें अंतर पड़जाता है परंतु केवलज्ञानियोंके सदा ही परम निर्मल शुद्धोपयोग है जिसका आधार पूर्ण निर्मल अनंत और अपूर्व महात्म्ययुक्त केवलज्ञान है

इसलिये यही सुख सबसे बढ़कर है, ऐसा जान समता ठान व रागद्वेष हानकर निश्चित हो निज स्वरूपके विकाशका अर्थात् केवलज्ञानके उदयका नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये। और वह पुरुषार्थ स्वात्मानुभवके द्वारा निजानन्दका लाभ है। जैसा साध्य वैसा वैसा साधन होता है तब ही साध्यकी सिद्धि अनिवार्य्य होती है। वृत्तिकारने जो इस बातको स्पष्ट किया है कि जब गृहस्थ सम्यग्दृष्टीको सच्चे सुखका लाभ होने लगता है फिर वह इन्द्रियोंके भोगोंके व मानसिक कषायजनित सुखोंमें क्यों वर्तन करता है उसका भाव यही समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीके अच्छी तरहसे विषयभोगजनित व कषायजनित सुखसे उदासीनता होगई है। वह श्रद्धान अपेक्षा तो अच्छी तरह होगई है परन्तु चारित्रकी अपेक्षा जितना चारित्र मोहका उदय है उतनी ही उस उदासीनतामें कमी है इसलिये कषायका जब तीव्र उदय आजाता है तब वेवश हो कषायके अनुकूल विषय भोग कर लेता है फिर कषायके घटने पर अपनी निन्दा गर्हा करता है। उसकी दशा उस चोरके समान दंड सहनेकी होती है जो दंड सहना न चाहता हुआ भी कोतवाल द्वारा बल पूर्वक पकड़ा जाकर दंडित किया जाता है अथवा उस रोगीके समान होती है जो कड़वी औषधि खाना नहीं चाहता है परन्तु वैद्यकी आज्ञासे लाचारीसे खा पी लेता है अथवा उस मनुष्यके समान होती है जो मादक वस्तुसे सर्वथा त्यागकी रुचि कर चुका है परन्तु पूर्व अभ्यासके वश जब स्मृति आती है तब कुछ पीलेता है उसका फल बुरा भोगता है—पछताता है—अपनी निन्दा गर्हा करता है तो

भी पूर्व अभ्याससे फिर पीलेता है। इस तरह होते होते भी एक दिन अवश्य आयगा कि जब उसकी भीतरी रुचि व ग्लानि उसके चित्तको दृढ़ कर देगी कि मदिरा नहीं पीना चाहे प्राण चले जावें। बस, उसी ही दिनसे वह मादक वस्तु ग्रहण न करेगा। इसीतरह आत्मीक सुखकी रुचि तथा विषयसुखकी अरुचि तथा ग्लानि एक दिन इस भव्य जीवको बिलकुल विरक्त कर देगी फिर यह कषायसे मोहित न होता हुआ रुचिपूर्वक आत्मीक आनन्दका ही भोग करेगा। वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह शुद्ध सुखके स्वादके निरंतर खोजी रहते हैं। उनको उस समताकी भूमिसे हटकर कषायकी भूमिमें आना ऐसा ही दाहजनक है कि जैसे मछलियोंका पानीको छोड़कर भूमिपर आना। तथा विषयभोगमें फंसना उतना ही कष्टप्रद है जितना कष्ट उस मछलीको होता है जब उसको जीता हुआ अग्निमें पड़ना होता है। तात्पर्य्य यह है कि सम सुखको ही उपादेय जानना चाहिये। इस तरह अभेद नयसे केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है इस कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंसे चौथा स्थल पूर्ण हुआ। ॥ ६२ ॥

उत्थानिका—आगे संसारी जीवोंके जो इन्द्रियजनित ज्ञानके द्वारा साधा जानेवाला इन्द्रिय सुख होता है उसका विचार करते हैं।

मणुआऽसुरामरिंदा, अहिदुआ इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं, रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६५॥

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इंद्रियैः सहजैः ।
असहमानास्तद्दुःखं, रमन्ते विषयेसु रम्येसु ॥ ६५ ॥

सामान्यार्थ-मनुष्य व चार प्रकारके देव तथा उनके इन्द्र उनके शरीरके साथ उत्पन्न हुई इन्द्रियोंकी चाहसे अथवा स्वभावसे पैदा हुई इंद्रियकी दाहसे पीड़ित होते हुए उस पीड़ाको सहनेको असमर्थ होते हुए रमणीक इंद्रियोंके विषयभोगोंमें रमने लगते हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(मणुआऽसुरामरिंदा) मनुष्य, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देव और मनुष्योंके इन्द्र चक्रवर्ती राजा तथा चार प्रकारके देवोंके सर्व इन्द्र (सहजेहिं) अपने२ शरीरोंमें उत्पन्न हुई अथवा स्वभावसे पैदा हुई (इंदिएहिं) इंद्रियोंकी चाहके द्वारा (अहिदुगा) पीड़ित या दुःखित होकर (तं दुक्खं असहंता) उस दुःखकी तीव्र धाराको न सहन करते हुए (रम्मेसु विसएसु) सुन्दर मालूम होनेवाले इंद्रियोंके विषयोंमें (रमंति) रमण करते हैं । इसका विस्तार यह है कि जो मनुष्यादिक जीव अमूर्त्त अतींद्रिय ज्ञान तथा सुखके आस्वादको नहीं अनुभव करते हुए मूर्तीक इंद्रियजनित ज्ञान तथा सुखके निमित्त पांचों इंद्रियोंके भोगोंमें प्रीति करते हैं उनमें जैसे गर्म लोहेका गोला चारों तरफसे पानीको खींच लेता है उसी तरह पुनः २ विषयोंमें तीव्र तृष्णा पैदा होती है । उस तृष्णाको न सह सकते हुए वे विषयभोगोंका स्वाद लेते हैं । इसलिये ऐसा जाना जाता है कि पांचों इन्द्रियोंकी तृष्णा रोगके समान है । तथा उसका उपाय विषयभोग करना यह औषधिके समान है,

परन्तु वह यथार्थ औषधि नहीं है यह मिथ्या औषधि है क्योंकि ज्यों २ ऐसी दवाकी जायगी विषयचाहकी दाह बढ़ती जायगी जैसा एक कविने कहा है " मर्ज बढ़ता गया ज्यों २ दवा की " इसलिये संसारी जीवोंको वास्तविक सच्चे सुखका लाभ नहीं होता है।

भावार्थ—आगे इस गाथामें आचार्य इंद्रियजनित सुखका स्वरूप कहते हुए यह बताते हैं कि यह सुख मात्र क्षणिक रोगका उपाय है जो रोगको खोता नहीं किन्तु उस रोगको बढ़ा देता है। बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा तथा इन्द्र जिनके पास पांचो इंद्रियोंके मनोवांछित भोग होते हैं वे इन भोगोंके भोगनेमें इसी लिये बारबार लग जाते हैं कि उनको इन्द्रियोंके द्वारा जो बाहरी पदार्थोंका ज्ञान होता है उनमें वे रागद्वेष कर लेते हैं। अर्थात् उनमें जो पदार्थ इष्ट जानते हैं उनके भोगनेकी चाहरूपी दाह पैदा होती है। उस दाहसे जो पीड़ा होती है उसको सह नहीं सके और घबड़ाकर इंद्रियोंके भोगोंमें रमने लगते हैं। यद्यपि विषयोंमें रमना उस रोगकी शांतिका उपाय नहीं है तथापि अज्ञानसे जिस उपायसे इस रोगको मेटनेकी क्रिया यह संसारी प्राणी करता रहा है उसी उपायको यह भी पूर्व अभ्याससे करने लग जाते हैं। बड़े २ पुरुष भी जिनको मति, श्रुत, अवधि तीनज्ञान हैं व जो सम्यग्दृष्टी भी हैं वे भी इंद्रियोंकी चाहकी पीड़ासे आकुलित होकर यह जानते हुए भी कि इन विषयभोगोंमे पीड़ा शांत न होगी, चारित्र मोहके तीव्र उदयसे तथा पूर्व अभ्यासके संस्कारसे पुनः पुनः पांचों इंद्रियोंके भोगोंमें लीन होजाते हैं। तथापि

तृप्ति न पाते हुए व अपने ज्ञानके द्वारा पदार्थके स्वरूपको विचारते हुए विषयभोगोंसे त्यागबुद्धि करते हैं। फिर भी विषयोंमें रम जाते हैं। फिर ज्ञानबलसे विचारकर त्याग बुद्धि करते हैं। इस तरह वारवार होते रहनेसे जब भेदज्ञानके द्वारा चारित्रमोहका बल घट जाता है तब वैराग्यवान हो भोग त्याग योग धारण करके आत्मरसका पान करते हैं। बड़े बड़े पुरुषोंको भी मनोज्ञ सामग्री की प्राप्ति होते हुए भी इन विषयभोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती है, तो फिर जो अल्प पुण्यवान हैं जिनको इष्ट सामग्रीका मिलना दुर्लभ है उनकी पीडाका नाश किस तरह होना संभव है? कभी नहीं होसक्ता। जो मिथ्यादृष्टी बड़े मनुष्य तथा देव हैं वे तो सम्यग्ज्ञानके विना सच्चे सुखको न समझते हुए इंद्रियद्वारा ज्ञान तथा सुखको ही ग्रहण करने योग्य मानते हैं और इसी बुद्धिसे रात दिन विषयोंकी चाहकी दाहसे जलते रहते हैं। पुण्य के उदयसे इच्छित पदार्थ मिलनेपर उनमें लवलीन होजाते हैं। यदि इच्छित पदार्थ नहीं मिलते हैं तो उनके उद्यम करनेमें निरंतर आकुलित रहते हैं। जो अल्प पुण्यवान व पापी मनुष्य या हीन देव हैं वे स्वयं इच्छित पदार्थोंको न पाते हुए उनके यथाशक्ति उद्यम करनेमें तथा दूसरे पुण्यवानोंको देखकर ईर्षा करनेमें लगे रहते हैं जिससे महा मानसिक वेदना उठाते हैं। पापी मनुष्य यदि कभी कोई इष्ट पदार्थका समागम भी पालेते हैं तो उनको उस पदार्थसे शीघ्र ही वियोग होजाता है व संयोग रहनेपर भी वे उनके भोग उपभोग करनेमें अशक्य होजाते हैं। इस कारण दुःखी रहते हैं। यहां गाथामें नारकी और तिर्यचोंका नाम इस

लिये नहीं किया कि उनको तो सदा ही इष्ट पदार्थोंका वियोग रहता है यद्यपि तिर्यंच कुछ इच्छित विषय भी पाते हैं, परन्तु वे बहुत कम ऐसे तिर्यंच हैं। अधिक तिर्यंच जीव तो क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, भय, मारण, पीडन, वैर, द्वेष तथा तीव्र विषय लोलुपता आदि दुःखोंसे संतापित रहते हैं। नारकीजीवोंको इष्ट पदार्थ मिलते ही नहीं—वे विचारे घोर भूख प्यास शीत उष्णकी वेदनासे दुःखित रहते हैं। मनुष्योंकी अपेक्षा कुछ अधिक रमणीक विषय प्राप्त करनेवाले असुर अर्थात् भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देव होते हैं उनसे अधिक मनोज्ञ विषय पानेवाले कल्पवासी देव होते हैं। ऐसे २ प्राणी भी जब इंद्रियोंकी तृष्णासे पीड़ित रहते हुए दुःख नहीं सहसकनेसे विषयोंमें रमण करते हैं तब क्षुद्र प्राणियोंकी तो बात ही क्या है? प्रयोजन आचार्यके कहनेका यही है कि मोहकर्मके प्रेरे हुए ये संसारी प्राणी विषयचाहकी दाहमें मूर्छित होते हुए पुनः पुनः मृगकी तरह भांडलीमें जल जान दौड़ दौड़कर कष्ट उठाते हैं परन्तु अपनी विषयवासनाके कष्टको शांत नहीं कर सक्ते हैं। यह सब अज्ञान और मोहका महात्म्य है। ऐसा जान केवलज्ञानकी प्राप्तिका उपाय करना योग्य है जिससे यह अनादि रोगकी जड़ कट जावे और आत्मा सदाके लिये सुखी हो जावे। यहां वृत्तिकारने जो गर्म लोहेका दृष्टांत दिया है—उसका मतलब यह है कि जैसे गर्म लोहा चारोंतरफसे पानीको खींच लेता है वैसे चाहकी दाहसे त्रासित हुआ मनुष्य विषयभोगोंको खींचता है॥ ६९॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जब तक इंद्रियोंके द्वारा यह प्राणी विषयोंके व्यापार करता रहता है तब तक इनको दुःख ही है।

जेसिं विसयेसु रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं।६६।

यषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥६६॥

सामान्यार्थ-जिन जीवोंकी विषयोंमें प्रीति है उनको स्वाभाविक दुःख जानो। यदि वह इंद्रियजन्य दुःख] स्वभावसे न होवे तो विषयोंके सेवनके लिये व्यापार न होवे।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जेसिं विसयेसु रदी) जिन जीवोंकी विषयरहित अतींद्रिय परमात्म स्वरूपसे विपरीत इंद्रियोंके विषयोंमें प्रीति होती है (तेसिं सब्भावं दुक्खं वियाण) उनको स्वाभाविक दुःख जानो अर्थात् उन बहिर्मुख मिथ्यादृष्टी जीवोंको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यके अनुभवसे उत्पन्न उपाधि रहित निश्चय सुखसे विपरीत स्वभावसे ही दुःख होता है ऐसा जानो (जदि तं सब्भावं ण हि) यदि वह दुःख स्वभावसे निश्चयकर न होवे तो (विसयत्थं वावारो णत्थि) विषयोंके लिये व्यापार न होवे। जैसे रोगसे पीड़ित होनेवालोंके ही लिये औषधिका सेवन होता है वैसे ही इंद्रियोंके विषयोंके सेवनेके लिये ही व्यापार दिखाई देता है। इसीसे ही यह जाना जाता है कि दुःख है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि

जिन जीवोंकी रुचि इंद्रियोंके विषयभोगोंमें होती है उनको मोह कर्मजनित अंतरंगमें पीड़ा होती है। यदि पीड़ा न होवे तो उसके दूर करनेका उपाय न किया जावे। वास्तवमें यही बात है कि जब जब जिस इंद्रियकी चाहकी दाह उपजती है उस समय यह प्राणी घबड़ाता है और उस दाहकी पीड़ाको न सह सकनेके कारण इंद्रियोंके पदार्थोंके भोगमें दौड़ता है। एक पतंगा अपने नेत्र इंद्रिय सम्बन्धी दाहकी शांतिके लिये ही आकर अग्निकी लौमें पड़ जल जाता है। जैसे रोगी मनुष्य घबड़ाकर रोगकी पीड़ा न सह सकनेके कारण जो औषधि समझमें आती है उस औषधिका सेवन कर लेता है—वर्तमानकी पीड़ा मिट जावे यही अधिक चाहना रहती है। कषायके वश व अनादि संस्कारके वश यह प्राणी उस पीड़ाको मेटनेके लिये विषयभोग करता है जिससे यद्यपि वर्तमानमें पीड़ाको मेट देता है परन्तु आगामी पीड़ाको और बढ़ा देता है। विषयसेवन करना विषय चाहरूपी रोगके मेटनेकी सच्ची औषधि नहीं है तत्काल कुछ शांति होती है परन्तु रोग बढ जाता है। यही कारण है कि जो कोई भी प्राणी सैकड़ों हजारों वर्षों तक लगातार इंद्रियोंके भोगोंको भोगा करता है परन्तु किसी भी इन्द्रियकी चाहको शान्त नहीं कर सक्ता। इसीसे यह इस रोगकी शांतिका उपाय नहीं है। शांतिका उपाय उस रोगकी जड़को मिटा देना है अर्थात् उस कषायका दमन करना व नाश करना है जिसके उदयसे विषयकी वेदना पैदा होती है। जिसका नाश सम्यक्ती होकर अंतरंगमें अपने आत्माका दृढ़ श्रद्धान प्राप्तकर उस आत्माके स्वभावका भेद ज्ञान पूर्वक मनन करनेके उपायसे

ही धीरे धीरे होता है। विषयभोगसे कभी भी यह रोग मिटता नहीं। स्वामी समंतभद्राचार्यने स्वयंभूस्तोत्रमें बहुत ही यथार्थ वर्णन किया है जैसे:-

शतहृदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णा मयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादी॥१३

भावार्थ-इंद्रियोंका सुख बिजलीके चमत्कारके समान अथिर है। शीघ्र ही होकर नष्ट होजाता है तथा इस सुखसे तृष्णारूपी रोग मिटनेकी अपेक्षा और अधिक बढ़ जाता है। मात्र इतना ही बुरा अधिक होता है लाभ कुछ नहीं। तृष्णाकी वृद्धि निरंतर प्राणीको संतापित या दाहयुक्त करती रहती है। वह चाहका दाहरूपी ताप जगतके प्राणियोंको क्लेशित करता है। वे प्राणी उस पीड़ाके सहनेको असमर्थ होकर नानाप्रकार उद्यम करके धनका संग्रह करते हैं फिर धन लाकर इष्ट विषयोंकी सामग्री लानेकी चेष्टा करते हैं और भोगते हैं फिर भी शांति नहीं पाते हैं, तृष्णाको बढ़ा लेते हैं। इस कारण इंद्रियसुखका भोग अधिक आकुलताका कारण है। तब इस रोगकी शांतिका उपाय अपने आत्मामें तिष्ठता है अर्थात् आत्मानुभव करता है ऐसा ही स्वामीने उसी स्तोत्रमें कहा है:-

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः॥३१॥

भावार्थ-श्री सुपार्श्वनाथ भगवानने अच्छीतरह बता दिया है कि जीवोंका प्रयोजन क्षणभंगुर भोगोंसे सिद्ध नहीं होगा

किन्तु अविनाशी रूपसे अपने आत्मामें तिष्ठनेसे होगा। क्योंकि भोगोंसे तृष्णाकी वृद्धि हो जाती है, ताप मिटता नहीं है। प्रयोजन यह है कि इन्द्रियसुख उल्टा दुःखरूप ही है। खाज खुजानेसे खाजका रोग बढ़ता ही है। वैसे ही इन्द्रियोंके भोगोंसे चाहनाका रोग बढ़ता ही है—इसका उपाय आत्मानुभव है। आत्मानंदके द्वारा जो शांतरस व्यापता है वही रस चाहकी दाहको मेट देता है। और धीरे२ ऐसा मेट देता है कि फिर कभी चाहकी दाहका रोग पैदा नहीं होता है ऐसा जान साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका ही मनन करना योग्य है।

इस प्रकार निश्चयसे इन्द्रियजनित सुख दुःखरूप ही है ऐसा स्थापन करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं॥ ११॥

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते हैं कि मुक्त आत्माओंके शरीर न होते हुए भी सुख रहता है इस कारण शरीर सुखका कारण नहीं है।

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो॥६७

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः॥ ६७॥

सामान्यार्थ—यह आत्मा स्पर्श आदि इंद्रियोंके आश्रयसे ग्रहण करने योग्य मनोज्ञ विषयभोगोंको पाकर या ग्रहणकर अपने अशुद्ध स्वभावसे परिणमन करता हुआ स्वयं ही सुखरूप हो जाता है। शरीर सुखरूप नहीं है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अप्पा) यह संसारी आत्मा (फासेहिं) स्पर्शन आदि इंद्रियोंसे रहित शुद्धात्मतत्वसे विलक्षण स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके द्वारा (समस्सिदे) भले प्रकार ग्रहण करने योग्य (इट्ठे विसये) अपनेको इष्ट ऐसे विषयभोगोंको (पप्पा) पाकरके या ग्रहण करके (सहावेण परिणाममाणो) अनन्त सुखका उपादान कारण जो शुद्ध आत्माका स्वभाव उससे विरुद्ध अशुद्ध सुखका उपादान कारण जो अशुद्ध आत्मस्वभाव उससे परिणमन करता हुआ (सयमेव) स्वयं ही (सुहं) इन्द्रिय सुखरूप हो जाता है या परिणमन कर जाता है, तथा (देहो ण हवदि) शरीर अचेतन होनेसे सुखरूप नहीं होता है। यहां यह अर्थ है कि कर्मोंके आवरणसे मैले संसारी जीवोंके जो इन्द्रियसुख होता है वहां भी जीव ही उपादान कारण है शरीर उपादान कारण नहीं है। जो देह रहित व कर्मबंध रहित मुक्त जीव हैं उनको जो अनन्त अतीन्द्रियसुख है वहां तो विशेष करके आत्मा ही कारण है।

भावार्थ-यहां आचार्य कहते हैं कि शरीर व उसके आश्रित जो जड़रूप द्रव्यइन्द्रियें तथा बाहरी पदार्थ हैं इन किसीमें भी सुख नहीं है। इन्द्रियसुख भी संसारी आत्माके अशुद्ध भावोंसे ही अनुभवमें आता है। यह संसारी जीव पहले तो इन्द्रियसुख भोगनेकी तृष्णा करता है-फिर उस चाहकी दाहको न सह सकनेके कारण जिनकी तरफ यह कल्पना उठती है कि अमुक पदार्थको ग्रहण करनेसे सुख भासेगा उस इष्ट पदार्थको इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी या भोगनेकी चेष्टा करता है-यदि

वे भोगनेमें नहीं आए तो आकुलता हीमें फंसा रहता है। यदि कदाचित् वे ग्रहणमें आगए तो अपने रागभावके कारण यह बुद्धि करलेता है कि मैं सुखी भया–इस कारण इन्द्रियोंके द्वारा भी जो सुख होता है वह आत्मामें ही होता है। इस सुखको यदि निश्चय सुख गुणका विपरीत परिणमन कहें तौभी कोई दोष नहीं है। जैसे मिथ्यादृष्टीके सम्यक्त भावका मिथ्यातरूप परिणमन होता है इसलिये श्रद्धान तो होता है परन्तु विपरीत पदार्थोंमें होता है। तब ही उसको मिथ्या या झूठा श्रद्धान कहते हैं। इसी तरह स्वात्मानुभवसे शून्य रागभावमें परिणमन करते हुए जीवके जो परके द्वारा सुख अनुभवमें आता है वह सुख गुणका विपरीत परिणमन है। अर्थात् अशुद्ध रागी आत्मामें अशुद्ध राग रूप मलीन सुखका स्वाद आता है। इस अशुद्ध सुखके स्वाद आनेमें कारण रागरूप कषायका उदय है। वास्तवमें मोही जीव जिस समय किसी पदार्थका इंद्रिय द्वारा भोग करता है उस समय वह रागरूप परिणमन कर जाता है अर्थात् वह रागभावका भोग करता है। वह रागभाव चारित्रगुणका विपरीत परिणमन है–उसीके साथ साथ सुख गुणका भी विपरीत स्वाद आता है। वास्तवमें स्वाद उसी समय आता है जब उपयोग कुछ काल विश्राम पाता है इंद्रियोंके द्वारा भोग करनेमें उपयोग अवश्य कुछ कालके लिये किसी मनोज्ञ विषयके आश्रित रागभावमें ठहर जाता है तब आत्माको सुख गुणकी अशुद्धताका स्वाद आता है। यदि उपयोग राग संयुक्त रहता हुआ अति चंचल होता है ठहरता नहीं तो उस चंचल आत्माके भीतर रागभाव होते हुए भी अशुद्ध

सुखका भान नहीं होता है। जैसे सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्माके स्वात्मानुभवके द्वारा सच्चे अतीन्द्रिय सुखके भोगनेकी योग्यता हो जाती है। यदि उसका उपयोग निज आत्माके भावमें परसे मोह रागद्वेष त्याग ठहर जाता है तब ही स्वात्मानुभव होता हुआ निजानन्दका स्वाद आता है। विना उपयोगके कुछ काल विश्राम पाए निज सुखका स्वाद भी नहीं आसक्ता है। इसलिये यहां आचार्यने यह सिद्ध किया है कि सुख अपने आत्मामें ही है। आत्मामें यदि सुख गुण न होता तो संसारी आत्माको भी जो इंद्रिय सुख व काल्पनिक सुख कहा जाता है सो भी प्राप्त नहीं होता। क्योंकि इंद्रियोंके द्वारा होनेवाला सुख अशुद्ध है, पराधीन है, मोह व रागको बढ़ानेवाला है, अतृप्तिकारी है तथा कर्मबंधका बीज है इसलिये उपादेय नहीं है। परन्तु शुद्ध आत्माके स्वाधीन शुद्ध सुख है जो वीतरागमयी है, बंधकारक नहीं है व तृप्तिदायक है इसलिये उपादेय है। ऐसा जानकर क्षणिक व अशुद्ध तथा पराधीन सुखकी लालसा छोड़कर निजाधीन अनंत अतींद्रिय सुखको भोगनेके लिये आत्माको मुक्त करना चाहिये और इसी कर्मसे छुटकारा पानेके उपायमें हमको साम्यभावका आलम्बन करके निज सुखका स्वाद पानेका पुरुषार्थ करना चाहिये यही निजानंद पूर्ण आनन्दकी प्रगटताका बीज है। इस कथनसे आचार्यने यह भी बतला दिया है कि सुख अपने भावोंमें ही होता है शरीरादि कोई बाहरी पदार्थ सुखदाई नहीं हैं इसलिये हमें अपनी इस मिथ्याबुद्धिको भी त्याग देना चाहिये कि यह शरीर, पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, भोजन तथा वस्त्र सुखदाई हैं। हमारी ही कल्पनासे

ये सुखदाई तथा दुःखदाई भासते हैं। यही स्त्री जब हमारी इच्छानुसार वर्तती है तब इष्ट व सुखदाई भासती है, जब इच्छा विरुद्ध वर्तन करती है तब अनिष्ट या दुखदाई भासती है। आज्ञाकारी पुत्र इष्ट व दुर्गुणी पुत्र दुखदायी भासता है इत्यादि। ऐसा जानकर इन्द्रिय सुखका भी उपादान कारण हमारा ही अशुद्ध आत्मा है, पर पदार्थ निमित्त मात्र हैं ऐसा जानना, क्योंकि सुख आत्माका गुण है इसीसे शरीर रहित सिद्धोंके अनंत अतींद्रिय आनन्द सदा विद्यमान रहता है ॥ ६७ ॥

उत्थानिका—अब आगे यहां कोई शंका करता है कि मनुष्यका शरीर जिसके नहीं है किन्तु देवका दिव्य शरीर जिसको प्राप्त है वह शरीर तो उसके लिये अवश्य सुखका कारण होगा। आचार्य इस शंकाको हटाते हुए समाधान करते हैं:—

एगंतेण हि देहो, सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं, दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६८॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा।
विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा ॥ ६८ ॥

सामान्यार्थ—सब तरहसे यह निश्चय है कि संसारी प्राणीको यह शरीर स्वर्गमें भी सुख नहीं करता है। यह आत्मा आप ही इन्द्रियोंके विषयोंके आधीन होकर सुख या दुःखरूप होजाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(एगंतेण हि) सब तरहसे निश्चयकर यह प्रगट है कि (देहिस्स) शरीरधारी संसारी

प्राणीको (देहो) यह शरीर (सग्गे वा) स्वर्गमें भी (सुह ण कुणई) सुख नहीं करता है। मनुष्योंकी मनुष्य देह तो सुखका कारण नहीं है यह बात दूर ही तिष्ठे। स्वर्गमें भी जो देवोंका मनोज्ञ वैक्रयिक देह है वह भी विषयवासनाके उपाय विना सुख नहीं करता है। (आदा) यह आत्मा (सयं) अपने आप ही (विसयवसेण) विषयोंके वशसे अर्थात् निश्चयसे विषयोंसे रहित अमूर्त्त स्वाभाविक सदा आनन्दमई एक स्वभावरूप होनेपर भी व्यवहारसे अनादि कर्मके बंधके वशसे विषयोंके भोगोंके आधीन होनेसे (सोक्खं वा दुक्खं हवदि) सुख व दुःखरूप परिणमन करके सुख या दुःखरूप होजाता है। शरीर सुख या दुःखरूप नहीं होता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें भी आचार्यने शरीरको जड़रूप होनेसे शरीर सुख या दुःखरूप होता है इस बातका निषेध किया है तथा वतलाया है कि देवोंके यद्यपि धातु उपधातु रहित नानारूपोंको बदलनेवाला वैक्रियिक परम क्रांतिमय नित्य भूखप्यास निद्राकी बाधा रहित शरीर होता है तथापि देवोंके सुख या दुःख उनकी अनादि कालसे चली आई हुई विषयवासनाके आधीनपनेसे ही होता है। इंद्रियोंके विषयभोगनेसे सुख होगा इस वासनासे कषायके उदयसे भोगकी तृष्णाको शमन करनेके लिये असमर्थ होकर मनोज्ञ देवी आदिकोंमें वे देव रमण करते हैं। उनके नृत्य गानादि सुनते हैं जिससे क्षणभरके लिये आकुलता मेटनेसे सुख कल्पना कर लेते हैं। यदि किसी देवीका मरण होजाता है तो उस देवीको न पाकर उसके द्वारा भोग न कर सकनेके कारण

वे देव दुःखी होकर दुःखका अनुभव करते हैं। शरीर तो दोनों अवस्थाओंमें एकसा रहता है तथापि यह आत्मा अपनी ही कषायकी परिणतिमें परिणमनकर सुखी या दुःखी होजाता है। शरीर तो एक निमित्त कारण है—समर्थ कारण नहीं है। वलवान कारण कषायकी तीव्रता है। सांसारिक सुख या दुःखके होनेमें रागद्वेषकी तीव्रता कारण है। जब राग अति तीव्र होता है तब सांसारिक सुख और जब द्वेष अति तीव्र होता है तब सांसारिक दुःख अनुभवमें आता है। जब किसी इष्ट विषयके मिलनेमें असफलता होती है तब उस वियोगसे द्वेषभाव होता है कि यह वियोग हटे जिससे परिणाम बहुत ही संक्लेशरूप होजाते हैं उसी समय अरति शोक, नो कषायका तीव्र उदय होता आता है बस यह प्राणी दुःखका अनुभव करता है कभी किसी अनिष्ट पदार्थसे द्वेषभाव होता है तब उसका संयोग न हो यह भाव होता है तब ही भय तथा जुगुप्सा नोकषायका तीव्र उदय होता है इसी समय यह कषायवान जीव दुःखका अनुभव करता है।

वीतराग केवली भगवानके कोई कषाय नहीं है इसीसे परमौदारिक शरीर होते हुए भी न कोई सांसारिक सुख है न दुःख है। यह कषायोंके उदयका कारण है जो चारित्र और सुख गुणको विपरीत परिणमा देता है। जब रागकी तीव्रता होती है तब सुख गुणका विपरीत परिणमन इंद्रिय सुखरूप और जब द्वेषकी तीव्रता होती है तब उस गुणका दुःखरूप परिणमन होता है। कषायोंमें माया, लोभ, हास्य, रति, तीनों वेद राग तथा क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा द्वेष कहलाते हैं। ये कषायरूप राग

या द्वेष प्रगट रूपसे एक समयमें एक झलकते हैं परन्तु एक दूसरेके कारण होकर शीघ्र बदला बदली कर लेते हैं। किसी स्त्रीकी तृष्णासे राग हुआ, उसके वियोग होनेपर दूसरे समयमें द्वेष हो जाता है फिर यदि उसका संयोग हुआ तब फिर राग होजाता है। परिणामोंमें संक्लेशता द्वेषसे होती है तथा परिणामोंमें उन्मत्तता आशक्ति रागसे होती है। बाहरी पदार्थ मात्र निमित्तकारण हैं। कभी इष्ट बाहरी कारण होते हुए भी परिणाममें अन्य किसी विचारके कारण द्वेष रहता है जिससे इष्ट शरीरादि सुखभाव नहीं दे सक्ते हैं। प्रयोजन यह है, कि यही अशुद्ध आत्मा कषाय द्वारा सुखी तथा दुःखी होजाता है शरीर सुख या दुःखरूप नहीं होता है, ऐसा जानकर सांसारिक सुखको कषायजनित विकार मानकर तथा निजाधीन निर्विकार आत्मीक सुखका उपाय ठीक २ करना कर्तव्य समझकर उस सुखके लिये निज शुद्धात्मामें उपयोग रखकर साम्यभावका मनन करना चाहिये।

इस तरह मुक्त जीवोंके देह न होते हुए भी सुख रहता है इस बातको समझानेके लिये संसारी प्राणियोंको भी देह सुखका नहीं है ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ६८ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि यह आत्मा स्वयं सुख स्वभावको रखनेवाला है इसलिये जैसे निश्चय करके देह सुखका कारण नहीं है वैसे इंद्रियोंके पदार्थ भी सुखके कारण नहीं हैं।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६९॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्त्तव्यम् ।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६९ ॥

सामान्यार्थ-जिस पुरुषकी दृष्टि यदि अंधकारको दूर करनेवाली है अर्थात् अंधेरेमें देख सक्ती है उसको दीपकसे कुछ करना नहीं है वैसे ही यदि आत्मा स्वयं सुखरूप है तो वहां इन्द्रियोंके विषय क्या कर सक्ते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(जइ) जो (जणस्स दिट्ठी) किसी मनुष्यकी दृष्टि रात्रिको (तिमिरहरा) अंधकारको हरनेवाली है अर्थात् अंधेरेमें देख सक्ती है तो (दीवेण कादव्वं णत्थि) दीपसे कर्तव्य कुछ नहीं है। अर्थात् दीपकोंका उसके लिये कोई प्रयोजन नहीं है। (तह) तैसे (आदा सयम् सोक्खं) जो निश्चय करके पंचेद्रियोंके विषयोंसे रहित, अमूर्तीक, अपने सर्व प्रदेशोंमें आल्हादरूप सहज आनन्द एक लक्षणमई सुख स्वभाववाला आत्मा स्वयं है (तत्थ विसया किं कुव्वंति) तो वहां मुक्ति अवस्थामें हो या संसार अवस्थामें हो इन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थ क्या कर सक्ते हैं ? कुछ भी नहीं कर सक्ते। यह भाव है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने साफ २ प्रगट कर दिया है कि सुख आत्माका स्वभाव है। इसलिये जैसे बाहरी शरीर सुखरूप नहीं है वैसे इन्द्रियोंके विषयभोगके पदार्थ भी सुखरूप नहीं हैं। वास्तवमें इस संसारी प्राणीने मोहके कारण ऐसा मान रक्खा है कि धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि पदार्थ सुखदाई हैं। वास्तवमें बाहरी पदार्थ जैसेके तैसे अपने स्वभावमें हैं। हमारी कल्पनासे अर्थात् कषायके उदयजनित विकारसे कभी कोई पदार्थ

सुखदाई व कभी कोई पदार्थ दुःखदाई भासते हैं। जब स्त्री आज्ञामें चलती है तब सुखदाई और जब आज्ञासे विरुद्ध चलती है तब दुःखदाई भासती है। रागीको धन सुखरूप तथा वैरागीको दुःखरूप प्रगट होता है। निश्चयसे कोई पदार्थ सुख या दुःखरूप नहीं है न कोई दूसरेको सुखी या दुःखी करसक्ता है। यह प्राणी अपनी कल्पनासे कभी किसीके द्वारा सुखरूप तथा कभी दुःखरूप होजाता है। जैसा पहले गाथाओंमें कहा है कि सुख आत्माका निज स्वभाव है वैसे यहां कहा है कि सुखरूप स्वयं आत्मा ही है। जैसे ज्ञान स्वभाव आत्माका है वैसे सुख भी स्वभाव आत्माका है, संसार अवस्थामें उसी सुख गुणका विभावरूप परिणमन होता है। चारित्रमोहके उदय वश आत्मीक सुखका अनुभव नहीं होता है। परन्तु जब बलपूर्वक मोहके उदयको दूरकर कोई आत्मज्ञानी महात्मा अपने आत्मामें निज उपयोगकी थिरता करता है तो उसको उस सच्चे स्वाधीन सुखका स्वाद आता है। केवलज्ञानीके मोहका अभाव है इसलिये वे निरंतर सच्चे आनन्दका विलास करते हैं। प्रयोजन कहनेका यह है कि जब सुख निज आत्मामें है तब निज आत्माका ही स्वाद स्वाधीनतासे लेना चाहिये। सुखके लिये न शरीरकी न धनादिकी न भोजन पान वस्त्रादिकी आवश्यक्ता है। आत्मीक सुख तो तब ही अनुभवमें आता है जब सर्व परपदार्थोंसे मोह [illegible] ठहरा जाता है। यहां आचार्यने दृष्टांत दिया है कि जो कोई चोर, सिंह, बिलाव, सर्प आदि र[illegible] स्वयं देख सक्ते हैं उनके लिये दीपककी जरूरत नहीं है। देख-

नेका स्वभाव दृष्टिमें ही है। यह संसार अंधेरी रात्रिके समान है। अज्ञानी मोही बहिरात्मा जीवोंकी दृष्टि आत्मीक सुखको अनुभव करनेके लिये असमर्थ है। इसलिये बाहरी पदार्थोंका निमित्त मिलाकर ये जीव सांसारिक तथा काल्पनिक सुखको सुख मानकर रंजायमान होते हैं। वहां भी उनके ही सुख गुणका उनको अनु-भव हुआ है परन्तु वह विभावरूप भया है। इस बातको मोही जीव नहीं विचारते हैं। जैसे कोई मूर्ख रात्रिको दीपकसे देखता हुआ यह माने कि दीपक दिखाता है। मेरी आंख देखती है दीपक मात्र सहायक है ऐसा न समझे तैसे अज्ञानी मोही जीव यह समझता है कि पर पदार्थ सुख या दुःख देते हैं। मेरेमें स्वयं सुख है और वह परपदार्थके निमित्तसे मुझे भासा है इस बातका ज्ञान श्रद्धान अज्ञानियोंको नहीं होता है। यहां आचार्यने सचेत किया है कि आत्मा स्वयं आनन्दरूप है। इसलिये शरीर व विषयोंको सुखदाई दुःखदाई मानना केवल मोहका महात्म्य है। ऐसा जानकर ज्ञानीका कर्तव्य है कि साम्यभावमें ठहरनेका अभ्यास करे जिससे निज सुखका स्वयं अनुभव हो–ऐसा तात्पर्य है ॥६९॥

उत्थानिका–आगे आत्मा सुख स्वभाववाला भी है ज्ञान स्वभाववाला भी है इसी बातको ही दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं–

सयमेव जधादिच्चो, तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तधा णाणं, सुहं च लोगे तधा देवो ॥७०॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ७० ॥

सामान्यार्थ-जैसे आकाशमें सूर्य्य स्वयं ही तेज रूप, उष्णरूप तथा देवता पदमें स्थित ज्योतिषी देव है तैसे इसलोकमें सिद्ध भगवान भी ज्ञान स्वभाव, सुख स्वभाव तथा भगवान हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(नभसि) आकाशमें (सयमेव जधादिच्चो) जैसे दूसरे कारणकी अपेक्षा न करके स्वयं ही सुर्य्य (तेजो) अपने और दूसरेको प्रकाश करनेवाला तेजरूप है (उण्हो य) तथा स्वयं उष्णता देनेवाला है (देवदा य) तथा देवता है अर्थात् ज्योतिषीदेव है अथवा अज्ञानी मनुष्योंके लिये पूज्य देव है (तधा) तैसे ही (लोगे) इस लोकमें (सिद्धो वि णाणं सुहं च तधा देवो) सिद्ध भगवान भी दूसरें कारणकी अपेक्षा न करके स्वयं ही स्वभावसे स्व पर प्रकाशक केवलज्ञानस्वरूप हैं तथा परम तृप्तिरूप निराकुलता लक्षणमई सुख रूप हैं तैसे ही अपने शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिसे पैदा होनेवाले सुंदर आनन्दमें भीगे हुए सुखरूपी अमृतके प्यासे गणधर देव आदि परम योगियों, इन्द्रादि देवों व अन्य निकट भव्योंके मनमें निरन्तर भले प्रकार आराधने योग्य तैसे ही अनंतज्ञान आदि गुणोंके स्तवनसे स्तुति योग्य जो दिव्य आत्मस्वरूप उस स्वभावमई होनेसे देवता हैं। इससे जाना जाता है कि मुक्त प्राप्त आत्माओंको विषयोंकी सामग्रीसे भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने पूर्वकथित गाथाओंका सार खींचकर बता दिया है कि शुद्ध आत्माका स्वभाव केवलज्ञानमय है और अतींद्रिय आनंदमय है न उसके पास कोई अज्ञान है

कोई रागद्वेषकी कालिमा है और इसीसे काल्पनिक पराधीन ज्ञान तथा सुख नहीं है। जबतक कर्मबन्धनकी अशुद्धता आत्मामें रहती है तबतक यह आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोंका विकाश नहीं कर सक्ता है। बंधनके मिटते ही शुद्ध स्वभाव प्रगट हो जाता है। यद्यपि शुद्ध आत्मामें अनन्तगुणोंका प्रकाश हो जाता है तथापि यहां उन ही गुणोंको मुख्य करके बताया है जिनको हम जानकर आत्माकी सत्ताको अनात्मासे भिन्न पहचान सक्ते हैं। इसी लिये यहां ज्ञान और सुख दो मुख्य गुणोंकी महिमा बता दी है-ज्ञानसे सर्वको जानते तथा आपको जानते और सुखसे स्वाधीन निजानन्दका भोग करते हुए परमाल्हाद रूप रहते हैं। और इसी कारण शुद्ध आत्मा गणधर, इंद्रादिक तथा अन्य ज्ञानी सम्यग्दृष्टी भव्योंके द्वारा आराधने योग्य व स्तवनके योग्य परम देवता है। यहां दृष्टांत सुर्य्यका दिया है। सूर्यमें एक ही काल तेज और उष्णता प्रगट है अर्थात् सूर्य सब पदार्थोंको व अपनेको प्रकाश करता है और उष्णता प्रदान करता है-और इसीलिये अज्ञानी लौकिक जनोंके द्वारा देवता करके आदर पाता है। वास्तवमें सन्मान गुणोंका हुआ करता है। इस गाथासे यह भी आचार्यने प्रगट किया है कि ऐसा ही शुद्ध आत्मा हमारे द्वारा परमदेव मानने योग्य है। तथा हमें अपने आत्माका स्वभाव ऐसा ही जानना, मानना तथा अनुभवना चाहिये-इसी स्वभावके ध्यानसे स्वसंवेदन ज्ञान तथा निजात्मीक सुख झलकता है जो केवलज्ञान और अनन्तसुखका कारण है। वास्तवमें शरीर तथा इंद्रियोंके विषय सुखके कारण नहीं हैं। इस तरह स्वभावसे ही आत्मा सुख

स्वभाव है अतएव इंद्रियोंके विषय भी मुक्तात्माओंके सुखके कारण नहीं होते हैं ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥७०॥

उत्थानिका-आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव पूर्वमें कहे हुए लक्षणके धारी अनंतसुखके आधारभूत सर्वज्ञ भगवानको वस्तु स्वरूपसे स्तवनकी अपेक्षा नमस्कार करते हैं:-

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं, माहप्पं जस्स सो अरिहो॥७१

तेजः दृष्टिः ज्ञानं ऋद्धिः सुखं तथैव ऐश्वर्यं।
त्रिभुवनप्रधानदैवं माहात्म्यं यस्य सोऽर्हन् ॥ ७१ ॥

सामान्यार्थ-भामंडल, केवलदर्शन, केवलज्ञान, समवशरणकी विभूति, अतींद्रिय सुख, ईश्वरपना, तीन लोकमें प्रधान देवपना इत्यादि महात्म्य जिसका है उसे अर्हन्त कहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेजो) प्रभाका मंडल (दिट्ठी) तीन जगत व तीन कालकी समस्त वस्तुओंकी सामान्य सत्ताको एक काल ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन (णाणं) तथा उनकी विशेष सत्ताको ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान, (इड्ढी) समवशरणकी सर्व विभुति (सोक्खं) बाधा रहित अनंत सुख, (ईसरियं) व जिनके पदकी इच्छासे इन्द्रादिक भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसा ईश्वरपना (तहेव तिहुवणपहाणदइयं) तैसे ही तीन भवनके ईशोंरके भी वल्लभपना या इष्टपना ऐसा देवपना इत्यादि (जस्स माहप्पं) जिसका महात्म्य है (सो अरिहो) वही अरहंत देव है। इस प्रकार वस्तुका स्वरूप कहते हुए नमस्कार किया।

भावार्थ-यहां आचार्यने शुद्ध आत्माके जो केवलज्ञान और अतींद्रिय अनन्तसुख स्वभावको धारनेवाले हैं दो भेद किये हैं अर्थात् अरहंत और सिद्ध। और उनके स्वरूपका खुलाशा करते हुए उनको नमस्कार किया है। क्योंकि वस्तुके स्वरूप मात्रको कहना भी नमस्कार हो जाता है। परमौदारिक शरीर सहित आत्माको अरहंत कहते हैं जिनका शरीर कोटि सूर्यसम दीप्तमान रहता हुआ अपनी दीप्तिसे चारों तरफ भामंडल बना लेता है, जिस शरीरको भोजनपानकी आवश्यक्ता नहीं होती है, चारों तरफसे शरीरको पुष्टिकारक नोकर्म वर्गणाओंका नित्य ग्रहण होता है। इस अरहंत भगवानके ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मोंका अभाव हो गया है इसलिये केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तबल तथा अतींद्रिय आनन्द, परम वीतरागता आदि स्वभाव प्रगट हो गए हैं। तथा पुण्यकर्मका इतना तीव्र उदय है जिससे समवशरणकी रचना हो जाती है जिसमें १२ सभाओंके द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच सब भगवानकी अनक्षरी दिव्यध्वनि सुनकर अपनी २ भाषामें धर्मका स्वरूप समझ जाते हैं। बड़े२ गणधर मुनि चक्रवर्ती राजा तथा इंद्रादिक देव जिस अरहंत भगवानकी भली विधिसे आराधना करते हैं इस भावसे कि वे भी अरहंत पदके योग्य हो जावें ऐसा ईश्वरपना जिन्होंने प्राप्त कर लिया है तथा तीन लोकके ईश इन्द्र अहमिंद्र भी जिनको अंतरंगसे प्यार करते हैं ऐसे परम देवपनेको धारण करनेवाले हैं, इत्यादि अद्भुत महात्म्यके धारी श्री अरहंत भगवान कहे जाते हैं। इन अरहंतोंका शरीर परम सौम्य वीतरागमय झलकता है

जिसके दर्शन मात्रसे शांति छाजाती है। प्रयोजन कहनेका यह है कि जबतक हम निर्विकल्प समाधिमें आरूढ़ नहीं हैं तबतक हमको ऐसे श्री अरहंत भगवानका पूजन, भजन, आराधन, मनन करते रहना चाहिये। परमपुरुषकी सेवा हमारे भावोंको उच्च बनानेवाली है। यद्यपि अरहंत भगवान वीतराग होनेसे भक्ति करनेवालेसे प्रसन्न नहीं होते और न कुछ देते हैं परन्तु उनकी भक्तिसे हमारे भाव शुभ होते हैं जिससे हम स्वयं पुण्य कर्मोंको बांध लेते हैं और यदि हम अपने भावोंमें उनका निरादर करते व उनकी वचनसे निन्दा करते हैं तो हम अपने ही अशुभ भावोंसे पाप कर्मोंको बांध लेते हैं वे वीतराग हैं—समदर्शी हैं। न प्रसन्न होते न अप्रसन्न होते हैं। तथापि उनका दर्शन, पूजन, स्तवन हमारा उपकार करता है—जैसा श्री समंतभद्रस्वामीने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें कहा है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥८७॥

भावार्थ-हे भगवान! आप वीतराग हैं। आपको हमारी पूजा या भक्तिसे कुछ प्रयोजन नहीं है। अर्थात् आप हमारी पूजासे प्रसन्न नहीं होते, वैसे ही आप वैर भावसे रहित हैं इससे हमारी निन्दासे आप विकारवान नहीं होते हैं ऐसे आप उदासीन हैं तथापि आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापके मैलोंसे पवित्र करता है अर्थात् आपके शुद्ध गुणोंको जब हमारा मन स्मरण करता है तब हमारा पाप नष्ट होजाता है और मन

वैराग्यवान होकर पवित्र होजाता है ऐसा जान श्री अरहंत भगवानको ही आदर्श मानके उनकी भक्ति करनी योग्य है तथा भक्ति करते करते उनके समान अपने आत्माको देखकर आपमें आप तिष्ठकर स्वानुभवका आनन्द लेना योग्य है जो समताको विस्तारकर मोक्षरूप अखंड अविनाशी राज्यकी तरफ ले जानेवाला है ॥ ७१ ॥

उत्थानिका-आगे सिद्ध भगवानके गुणोंका स्तवनरूप नमस्कार करते हैं।

तं गुणदो अधिगदरं, अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं
अपुणब्भावणिबद्धं, पणमामि पुणो पुणो सिद्धं ॥ ७२

तं गुणतः अधिकतरं अविच्छिदमनुजदेवपतिभावं ।
अपुनर्भावनिबद्धं प्रणमामि पुनः पुनः सिद्धं ॥ ७२ ॥

सामान्यार्थ-गुणोंसे परिपूर्ण, अविनाशी, मनुष्य व देवोंके स्वामी, मोक्षस्वरूप सिद्ध भगवानको मैं वारवार प्रणाम करता हूं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तं) उस (सिद्ध) सिद्ध भगवानको जो (गुणदो अधिगतरं) अव्याबाध, अनन्त सुख आदि गुणों करके अतिशय पूर्ण हैं, (अविच्छदं मणुवदेवपदिभावं) मनुष्य व देवोंके स्वामीपनेसे उल्लंघन कर गए हैं अर्थात् जैसे पहले अरहंत अवस्थामें मनुष्य व देव व इन्द्रादिक समवशरणमें आकर नमस्कार करते थे इससे प्रभुपना होता था अब यहां उस भावको लांघ गए हैं अर्थात् सिद्ध अवस्थामें न समवशरण है न

देवादि आते व प्रत्यक्ष नमस्कार करते हैं। (नोट--यहां टीकाकारने अविच्छिदं तथा मणुवदेवपरिभावं इन दोनों पदोंको एकमें मान कर अर्थ ऐसा किया है। यदि हम इन दोनों पदोंको अलग२ मानलें तो यह अर्थ होगा कि वह सिद्ध भगवान अविनाशी हैं। उनकी अवस्थाका कभी अभाव नहीं होगा तथा वे मनुष्य व देवोंके स्वामीपनको प्राप्त हैं अर्थात् उनसे महान इस संसारमें कोई प्राणी नहीं है। सब उनहींका ध्यान करते हैं। यहां तक कि तीर्थंकर भी सिद्धोंका ही ध्यान छद्मावस्थामें करते हैं) (अपुणब्भावणिवद्धं) तथा मुक्तावस्थामें निश्चल अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनरूप संसारसे विलक्षण शुद्धबुद्ध एक स्वभावमई निज आत्माकी प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसी मोक्षके आधीन हैं अर्थात् स्वाधीन व मुक्त हैं (पुणो पुणो पणमामि) वारवार नमस्कार करता हूं।

भावार्थः-यहां आचार्यने निकल परमात्मा श्री सिद्धभगवानको नमस्कार किया है। सिद्धोंके शरीर कोई प्रकारके नहीं होते हैं जब कि अरहंतोंके औदारिक तैजस और कार्माण ऐसे तीन शरीर होते हैं। सिद्धोंमें पूर्ण आत्मीकगुण या स्वभाव झलक रहे हैं क्योंकि कोई भी आवरण व कर्मरूपी अंजन सिद्ध भगवानके नहीं है। ये सर्व ही अल्पज्ञानियोंके द्वारा भजनीय व पूज्य हैं इसीसे त्रिलोकके स्वामी हैं, उनके स्वभावका कभी वियोग न होगा तथा वे मोक्षके अतींद्रिय आनन्दके नित्य भोगनेवाले हैं। आचार्यने पूर्व गाथाओंमें जिस केवलज्ञानकी तथा अनन्तसुखकी महिमा बताई है उसके जैसे श्री अरहंत भगवान स्वामी हैं वैसे

श्री सिद्धपरमेष्टी भी हैं–ये दोनों ही परमात्मा सविकल्प अवस्थामें व शुद्धोपयोगकी भावनाके समय ध्यान करने योग्य हैं–इनहीके द्वारा यह आत्मा अपने निज स्वभावमें निश्चलता प्राप्त करता है। जगतके प्राणियोंको किसी देवकी आवश्यक्ता पड़ती है जिसकी वे भक्ति करें उनके लिये आचार्यने बता दिया है कि जैसे हमने यहां श्री अरहंत और सिद्ध परमात्माको नमस्कार किया है वैसे सर्व उपासक श्रावक श्राविका भी इनहीकी भक्ति करो–इनहीके द्वारा मोक्षका मार्ग प्रगट होगा व आत्माको परम सुखकी प्राप्ति होगी।

इस प्रकार नमस्कारकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह आठ गाथाओंसे पांचवा स्थल जानना चाहिये। इस तरह अठारह गाथाओंसे व पांच स्थलसे सुख प्रपंच नामका अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ। इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "एस सुरासुर" इत्यादि चौदह गाथाओंसे पीठिकाको वर्णन किया। फिर सात गाथाओंसे सामान्यपने सर्वज्ञकी सिद्धि की, फिर तेतीस गाथाओंसे ज्ञान प्रपंच फिर अठारह गाथाओंसे सुख प्रपंच इस तरह समुदायसे बहत्तर गाथाओंके द्वारा तथा चार अन्तर अधिकारोंसे शुद्धोपयोग नामका अधिकार पूर्ण किया ॥ ७२ ॥

उत्थानिका–इसके आगे पचीस गाथा पर्यंत ज्ञानकंठिका चतुष्टय नामका अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। इन २५ गाथाओंके मध्यमें पहले शुभ व अशुभ उपयोगमें मूढ़ताको हटानेके लिये " देवदजदि गुरु " इत्यादि दश गाथाओं तक पहली ज्ञानकंठिकाका कथन है। फिर परमात्माके स्वरूपके ज्ञानमें मूढ़-

ताको दूर करनेके लिये "चत्ता पावारम्भं" इत्यादि सात गाथाओं तक दूसरी ज्ञानकंठिका है। फिर द्रव्यगुण पर्यायके ज्ञानके सम्बन्धमें मूढताको हटानेके लिये "दव्वादीएसु" इत्यादि छः गाथाओं तक तीसरी ज्ञानकंठिका है। फिर स्व और पर तत्वके ज्ञानके सम्बन्धमें मूढताको हटानेके लिये 'णाणप्पगं" इत्यादि दो गाथाओंसे चौथी ज्ञानकंठिका है। इस तरह इस चार अधिकारकी समुदायपातनिका है।

अब यहां पहली ज्ञानकंठिकामें स्वतंत्र व्याख्यानके द्वारा चार गाथाएं हैं। फिर पुण्य जीवके भीतर विषयभोगकी तृष्णाको पैदा कर देता है ऐसा कहते हुए गाथाएं चार हैं। फिर संकोच करते हुए गाथाएं दो हैं-इस तरह तीन स्थलतक क्रमसे व्याख्यान करते हैं। यद्यपि पहले छः गाथाओंके द्वारा इंद्रियोंके सुखका स्वरूप कहा है तथापि फिर भी उसीको विस्तारके साथ कहते हुए उस इंद्रिय सुखके साधक शुभोपयोगको कहते हैं:-अथवा दूसरी पातनिका है कि पीठिकामें जिस शुभोपयोगका स्वरूप सूचित किया है उसीका यहां इंद्रियसुखके विशेष कथनमें इंद्रिय सुखका साधकरूप विशेष व्याख्यान करते हैं:-

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो, सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥७३॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषुरक्तः शुभोपयोगात्मक आत्मा ॥ ७३ ॥

सामान्यार्थ-जो श्री जिनेन्द्रदेव, साधु और गुरुकी

पूजामें तथा दानमें वा सुन्दर चारित्रमें वा उपवासादिकोंमें लव-लीन है वह शुभोपयोगमई आत्मा है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–जो (देवदजदिगुरुपूजासु) देवता, यति, गुरुकी पूजामें (चेव दाणम्मि) तथा दानमें (वा सुसीलेसु) और सुशीलरूप चारित्रोंमें (उववासादिसु) तथा उपवास आदिकोंमें (रत्तो) आसक्त हैं वह (सुहोवओगप्पगो अप्पा) शुभोपयोग धारी आत्मा कहा जाता है। विशेष यह है कि जो सर्व दोष रहित परमात्मा है वह देवता है, जो इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शुद्ध आत्माके स्वरूपके साधनमें उद्यमवान है वह यति है, जो स्वयं निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयका आराधन करनेवाला है और ऐसी आराधनाके चाहनेवाले भव्योंको जिन दीक्षाका देनेवाला है वह गुरु है। इन देवता, यति और गुरुओंकी तथा उनकी मूर्ति आदिकोंकी यथासंभव अर्थात् जहां जैसी संभव हो वैसी द्रव्य और भाव पूजा करना, आहार, अभय, औषधि और विद्यादान ऐसा चार प्रकार दान करना, आचारादि ग्रंथोंमें कहे प्रमाण शीलव्रतोंको पालना, तथा जिनगुणसंपत्तिको आदि लेकर अनेक विधि विशेषसे उपवास आदि करना–इतने शुभ कार्योंमें लीनता करता हुआ तथा द्वेषरूप भाव व विषयोंके अनुराग रूप भाव आदि अशुभ उपयोगसे विरक्त होता हुआ जीव शुभोपयोगी होता है ऐसा सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ–यहां आचार्यने शुद्धोपयोगमें प्रीतिरूप शुभोप-योगका स्वरूप बताया है अथवा अरहंत सिद्ध परमात्माके मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावोंका वर्णन करके उन परमात्माके आरा-

घनकी सूचना की है अथवा मुख्यतासे उपासकका कर्तव्य बताया है। शुभोपयोगमें कषायोंकी मंदता होती है। वह मंद कषाय इन व्यवहार धर्मोंके पालनसे होती है जिनको गाथामें सूचित किया है अर्थात् सच्चे देवताकी श्रद्धापूर्वक भक्ति और पूजा करना व्यवहार धर्म है। जिसमें क्षुधादि अठारह दोष नहीं है तथा जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी और अतींद्रिय अनन्त सुखके धारी हैं ऐसे अरहंत भगवान तथा सर्व कर्म रहित श्री सिद्ध भगवान ये ही सच्चे पूजने योग्य देवता हैं। इनके गुणोंमें प्रीति बढ़ाते हुए मनसे, बचनसे तथा कायसे पूजा करना शुभोपयोगरूप है। प्रतिबिम्बोंके द्वारा भी वैसी ही भक्ति हो सक्ती है जैसी साक्षात समवशरणमें स्थित अरहंत भगवानकी। तथा द्रव्य पूजाके निमित्तसे भाव पूजा होती है। पूज्यके गुणोंमें उपयोगका भीज जाना भाव पूजा है। जल चंदनादि अष्ट द्रव्योंको चढ़ाते हुए गुणानुवाद करना अथवा कहीं कहीं श्रावक अवस्थामें व मुनि अवस्थामें केवल मुखसे पाठ द्वारा गुणोंका कथन करना व नमन करना द्रव्य पूजा है। गृहस्थोंके मुख्यतासे आठ द्रव्योंके द्वारा व कमसे कम एक द्रव्यके द्वारा पूजा होती है व गौणतासे आठ द्रव्योंके विना स्तुति मात्र व नमस्कार मात्रसे भी द्रव्य पूजा होती है। मुनियोंके सामग्रीका ग्रहण नहीं है। वे सर्व त्यागी हैं। इस लिये मुनि महाराज स्तुति व वन्दना करके द्रव्य पूजा करते हैं। जैसे नमस्कारके दो भेद हैं—द्रव्य नमस्कार व भाव नमस्कार वैसे पूजाके दो भेद हैं—द्रव्य पूजा व भाव पूजा। जिसको नमस्कार किया जाय उसके गुणोंमें लवलीनता भाव नमस्कार है वैसे जिनको

पूज्य जावे उसके गुणोंमें लीनता भाव पूजा है। वचनसे नमः शब्द कहना व अंगोंका झुकाना द्रव्य नमस्कार है वैसे पूज्य पुरुषके गुणानुवाद गाना, नमन करना, अष्टद्रव्यकी भेट चढाना द्रव्य पूजा है। द्रव्य पूजा निमित्त है भाव पूजा साक्षात् पूजा है। यदि भाव पूजा न हो तो द्रव्य पूजा कार्यकारी नहीं होगी। इसलिये अरहंत व सिद्धकी भक्ति भावोंकी निर्मलताके लिये ही करनी चाहिये। श्री समंत भद्राचार्यने स्वयभू स्तोत्रमें भक्ति करते हुए यही भाव झलकाया है जैसे—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥५॥

भावार्थ—वह जगतको देखने वाले, साधुओंसे पूज्यनीक पूर्ण ज्ञानमई देहके धारी, निरंजन व अल्पज्ञानी अन्य वादियोंके मतको जीतनेवाले श्री नाभिराजाके पुत्र श्री वृषभ जिनेन्द्र मेरे चित्तको पवित्र करो। भावोंकी निर्मलता होनेसे जो शुभ राग होता है वह तो महान पुण्य कर्मको बांधता है व जितने अंश वीतराग भाव होता है वह पूर्व बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता है—यहां देवताका आराधन अरहंत व सिद्धका आराधन ही समझना चाहिये। जिनको बड़े २ इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, साधु, गणधर आदि मस्तक नमाते हैं वे ही एक जैन गृहस्थके द्वारा भी पूजने योग्य देव हैं। इनको छोड़कर अन्य रागद्वेष सहित कर्मबन्धमें बन्धे जन्म मरण करनेवाले स्वर्गवासी व पातालवासी व मध्यलोकवासी देवगतिमें तिष्ठे हुए किसी भी जीवको देवता मानकर पूजना व आराधना नहीं चाहिये। जो इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहनाको छोड़कर शुद्ध रमाके

स्वभावको प्रगट करनेके लिये रत्नत्रयमई धर्मका यत्न सर्व परिग्रह छोड़ व तेरा प्रकार चारित्र धारणकर करते हैं वे यति या साधु हैं। इनकी पूजा करनी शुभोपयोग है। साधुओंकी भक्ति आठ द्रव्योंसे पूजा, स्तुति, नमस्कारसे भी होती तथा भक्तिपूर्वक शुद्ध आहार, औषधि व शास्त्र दानसे भी होती है। जो साधु स्वयं रत्नत्रयको साधते हुए दूसरोंको साधुधर्म साधन कराते अथवा उनको शास्त्रकी शिक्षा देते ऐसे आचार्य और उपाध्याय गुरु हैं। इनकी पूजामें आशक्त होना शुभोपयोग है इस तरह "देवदजदिगुरुपूजासु" इस एक पदसे आचार्यने अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियोंकी भक्तिको सूचित किया है। दानमें भक्ति पूर्वक उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रोंको पात्रदान तथा दया पूर्वक दुःखितों व अज्ञानियोंको आहार, औषधि, विद्या तथा अभयदान करना बताया है। जैसे पूजा करनेसे कषाय मंद होती है वैसे दान देनेसे कषाय मंद होती है। तीसरे शीलोंमें महाव्रतरूप तथा अणुव्रतरूप मुनि व श्रावकका व्यवहार चारित्र बताया है। मुनियोंको पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तिमें और श्रावकोंको बारहव्रतरूप चारित्रमें लवलीन होना चाहिये-यह सब शुभोपयोग है। उपवासादिमें बारह प्रकार तप समझने चाहिये-इन तपोंमें मुनियोंको पूर्ण रूपसे तथा श्रावकोंको एक देशमें आशक्त होना चाहिये। इनमें मुख्य तप ध्यान है, ध्यान करनेमें प्रीति, उपवास करनेमें अनुराग, रसत्याग करनेमें रति इत्यादि १२ तपोंमें प्रेम करना शुभोपयोग है।

इस शुभोपयोगमें परिणमन करनेवाला आत्मा स्वयं शुभो-

पगी हो जाता है। इस गाथामें आचार्यने व्यवहार चारित्रका वर्णन कर दिया है। शुभोपयोगमें वर्तन करनेसे उपयोग अशुभोपयोगसे बचा रहता है तथा यह शुभोपयोग शुद्धोपयोगमें चढ़नेके लिये मध्यकी सीढ़ी है। इसलिये शुद्धोपयोगकी भावना करते हुए शुभोपयोगमें वर्तन करना चाहिये। वास्तवमें शुभोपयोग सम्यग्दृष्टीके ही होता है जैसा पहले कहा जाचुका है, परन्तु गौणतासे अर्थात् मोक्षमार्गमें परिणमन रूपसे नहीं किन्तु पुण्यबंधकी अपेक्षासे मिथ्यादृष्टीके भी होता है इसी शुभोपयोगसे मिथ्यात्वी द्रव्यलिंगी मुनि नौ ग्रैवेयकतक व अन्य भेषीमुनि बारहवें स्वर्गतक जासक्ता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोगको ही उपादेय मानके उसीकी भावनाकी प्राप्तिके लिये अरहंत भक्ति आदि शुभोपयोगके मार्गमें वर्तना चाहिये ॥७३॥

उत्थानिका—आगे बताते हैं कि पूर्व गाथामें कथित शुभोपयोगके द्वारा जो पुण्यकर्म बन्ध जाता है उसके उदयसे इंद्रियसुख प्राप्त होता है—यह पराधीनता इंद्रियसुखमें है—

जुत्तो सुहेण आदा, तिरियो व माणुसो या देवो वा।
भूदो तावदि कालं, लहदि सुहं इंदियं विविहं ॥७४॥

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा।
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधम् ॥ ७४ ॥

सामान्यार्थ—शुभोपयोगसे युक्त आत्मा मनुष्य, या देव या तिर्यंच होकर उतने कालतक नाना प्रकार इंद्रियभोग सम्बंधी सुखको भोगता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(सुहेणजुत्तो आदा) जैसे निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धोपयोगसे युक्त आत्मा मुक्त होकर अनन्त कालतक अतींद्रियसुखको प्राप्त करता है वैसे ही पूर्वसूत्रमें कहे हुए शुभोपयोगमें परिणमन करता हुआ यह आत्मा (तिरियो वा माणुसो वा देवो वा भूदो) तिर्यंच या मनुष्य या देव होकर (तावदि कालं) अपनी अपनी आयुपर्यंत (विविहं इंदियं सुहं लहदि) नाना प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुखको पाता है।

भावार्थ-शुभोपयोग भी अपराध है क्योंकि परमें सन्मुखता रूप भाव है इसीसे बन्धरूप है। जितना शुभ भाव होता है उतना ही विशेष रसवाला साता वेदनीय, शुभनाम, उच्च गोत्र तथा शुभ आयुका बन्ध हो जाता है। सम्यक्ती जीवोंके सम्यक्तकी भूमिकामें जो शुभ भाव होता है वह तो अतिशयकारी पुण्यका बंध करता है-ऐसा सम्यक्ती जीव सिवाय कल्पवासी देवकी आयुके अथवा देव पर्यायमें यदि है तो सिवाय उत्तम मनुष्य पर्यायके और किसी आयुका बन्ध नहीं करता है। मिथ्यादृष्टी जीव अपने योग्य शुभोपयोगसे तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव आयु तथा इन गतियोंमें भोग योग्य पुण्य कर्म्म बांध लेते हैं। चार आयुमें नरक आयु अशुभ है क्योंकि वह आयु नारकियोंको सदा क्लेशरूप भासती है जब कि तिर्यंच, मनुष्य या देवोंको अपनी२ आयु सदा क्लेशरूप नहीं भासती है। इन तीनोंको इन्द्रिय भोगके योग्य कुछ पदार्थ मिल जाते हैं जिसमें ये प्राणी रति करते हुए अपनी आयुको सुखदाई मानलेते हैं। शुभोपयोगमें जितना कषाय अंश होता है वही पुण्य कर्मको बांध

देता है। जो पुण्यकर्म्म इष्ट पुद्गलोंको व इष्ट पुद्गल सहित जीवोंको आकर्षण करलेता है। उनहीमें आशक्त होकर यह संसारी प्राणी इंद्रियसुखका भोग कर लेता है। यह इन्द्रिय सुख पराधीन है–पुण्य कर्मके आधीन है, इसलिये त्यागने योग्य है। अतींद्रिय सुख स्वाधीन है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है। ऐसा जानकर शुद्धोपयोगकी भावना नित्य करनी योग्य है ॥ ७४ ॥

उत्थानिका–आगे आचार्य दिखाते हैं कि पूर्वगाथामें जिस इंद्रिय सुखको बतलाया है वह सुख निश्चयनयसे सुख नहीं है, दुःखरूप ही है।

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसयेसु रम्मेसु ॥ ७५ ॥

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे।
ते देहवेदनार्त्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७५ ॥

सामान्यार्थ–देवोंके भी आत्मस्वभावसे प्राप्त होनेवाला सुख नहीं है ऐसा परमागममें सिद्ध है। वे देव शरीरकी वेदनासे पीड़ित होकर रमणीक विषयोंमें रमन कर लेते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थः–मनुष्यादिकोंके सुखकी तो बात ही क्या है (सुराणंपि) देवों व इन्द्रोंके भी (सहाव-सिद्ध सोक्खं) स्वभावसे सिद्ध सुख अर्थात रागद्वेषादिकी उपाधिसे रहित चिदानन्दमई एक स्वभावरूप उपादानकारणसे उत्पन्न होनेवाला जो स्वाभाविक अतींद्रिय सुख है सो (णत्थि) नहीं होता है (उवदेसे सिद्धम्) यह परमागमके उपदेशमें उप-

देश किया गया है। ऐसे अतींद्रिय सुखको न पाकर (ते देह-वेदणट्टा) वे देवादिक शरीरकी वेदनासे पीड़ित होते हुए (रम्मेसु विसयेसु रमंति) रमणीक दिखनेवाले इंद्रिय विषयोंमें रमन करते हैं। इसका विस्तार यह है कि-संसारका सुख इस तरहका है कि जैसे कोई पुरुष किसी वनमें हो-हाथी उसके पीछे दौड़े, वह घबड़ाकर ऐसे अंधकूपमें गिर पड़े जिसके नीचे महा अजगर मुख फाड़े बैठा हो व चार कोनोंमें चार सांप मुख फैलाए बैठे हों। और वह पुरुष उस कूपमें लगे हुए वृक्षकी शाखाको पकड़कर लटक जावे जिस शाखाकी जड़को सफेद और काले चूहे काट रहे हों तथा उस वृक्षमें मधु मक्खियोंका छत्ता लगा हो जिसकी मक्खियां उसके शरीरमें चिपट रहीं हों, हाथी ऊपरसे मार रहा हो ऐसी विपत्तिमें पड़ाहुआ यदि वह मधुके छत्तेसे गिरती हुई मधुबूंदके स्वादको लेता हुआ अपनेको सुखी माने तो उसकी मूर्खता है क्योंकि वह शीघ्र ही कूपमें पड़कर मरणको प्राप्त करेगा यह दृष्टांत है। इसका दार्ष्टांत यह है कि यह संसाररूपी महा वन है जिसमें मिथ्यादर्शन आदि कुमार्गमें पड़ा हुआ कोई जीव मरणरूपी हाथीके भयसे त्रासित होता हुआ किसी शरीररूपी महा अंध कूपमें पड़े, जिस शरीररूपी कूपमें नीचे सातमा नरकरूपी अजगर हो व क्रोध मान माया लोभरूप चार सर्प उस शरीररूपी कूएंके चार कोनोंमें बैठे हों ऐसे शरीररूपी कूपमें वह जीव आयु कर्मरूपी वृक्षकी शाखामें लटक जावे जिस शाखाकी जड़को शुक्ल कृष्णपक्षरूपी चूहे निरंतर काट रहे हों व उसके शरीरमें मधुमक्खियोंके समान अनेक रोग लग रहे हों तथा मरण-

रूपी हाथी सिरपर खड़ा हो और वह मधुकी बूंदके समान इंद्रिय विषयके सुखका भोगता हुआ अपनेको सुखी माने सो उसकी अज्ञानता है। विषयसुख दुःखका घर है। ऐसा सांसारिक सुख त्यागने योग्य हैं जब कि मोक्षका सुख आपत्ति रहित स्वाधीन तथा अविनाशी है इसलिये ग्रहण करने योग्य है, यह तात्पर्य्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बतादिया है कि सच्चा सुख आत्माका निज स्वभाव है जिस सुखके लिये किसी परपदार्थकी वांछा नहीं होती है। न वहां कोई आकुलता, चिंता व तृषाकी दाह होती है। वह सुख निज आत्माके अनुभवसे प्राप्त होता है। इसके सामने यदि इंद्रियजनित सुखको देखा जावे तो वह दुःखरूप ही प्रतीत होगा। जिनके मिथ्यात्व और कषायका दमन होगया है ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टी जीव इसी आनन्दका निरंतर अनुभव करते हैं उनको कभी भी इंद्रिय विषय-भोगकी चाहकी दाह सताती नहीं है। किन्तु जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्मा हैं चाहे वे देवगतिमें भी क्यों न हों तथा जिनको स्वात्मानुभवके लाभके विना उस अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद नहीं विदित है वे विचारे निरंतर इन इंद्रियोंके विषयभोगकी ज्वालासे जला करते हैं और अनेक आपत्तियोंको सहकर भी क्षणिक विषयसुखको भोगना चाहते हैं। वे बराबर तृषावान होकर बड़े उद्यमसे विषयभोगकी सामग्रीको पाकर उसे भोगते हैं परन्तु तृषाको बुझानेकी अपेक्षा उल्टी बढ़ा लेते हैं। जिससे उनकी चाहकी आकुलता कभी मिटती नहीं वे असंख्यात वर्षोंकी आयु रखते हुए भी दुःखी ही बने रहते हैं-उनकी आत्माको

सुख शांतिका लाभ होता नहीं। टीकाकारने जो दृष्टांत दिया है कि मूर्ख प्राणी एक मधुकी बूंदके लोभसे आगे आनेवाली आपत्तिको भूल जाता है सो बिलकुल सच है—मरण निकट है। परलोकमें क्या होगा इस सब विचारको अपने लिये भूलकर आप रातदिन विषयभोगमें पड़ा रहता है। उसकी दशा उस अज्ञानीकी तरह होती है जिसका वर्णन स्वामी पूज्यपादजीने इष्टोपदेशमें किया है:—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

भाव यह है कि मूर्ख अज्ञानी जैसे दूसरोंके लिये आपत्तियोंका आना देखता है वैसा अपने लिये नहीं देखता है। जैसे जलते हुए वनके भीतर वृक्षके ऊपर बैठा हुआ कोई मनुष्य मृगोंका भागना व जलना देखता हुआ भी आप निश्चिंत बैठा रहे अपना जलना होनेवाला है इसको न देखे। बहिरात्मा अज्ञानी जीवोंकी यही दशा है। वे विचारे निजानंदको न पाकर इसी विषयसुखमें लुब्धायमान रहते हैं। यहां पर यह शंका होगी कि सराग सम्यग्दृष्टी जीव फिर विषयभोग क्यों करते हैं क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टीको भी स्वात्मानुभव हो जाता है वह अतींद्रिय आनन्दका लाभ कर लेता है फिर भी गृहस्थ अवस्थामें पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें क्यों जाते हैं क्यों नहीं सर्व प्रपंचजाल छोड़कर निजानंदका भोग करते हैं? इस शंकाका समाधान यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टियोंके अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म उदयमें नहीं हैं इसीसे उनके यथावत् श्रद्धान और ज्ञान तो हो गया है

परन्तु चारित्र यद्यपि मिथ्या नहीं है तथापि बहुत ही अल्प है। क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय है। इन कषायोंके उदयमें पूर्व संस्कारके वश जानते हुए भी व श्रद्धान करते हुए भी कि ये इंद्रियसुख अतृप्तिकारी, बन्धकारक, तृष्णाको वृद्धि करनेवाला है वे विचारे इंद्रियभोगोंमें पड़ जाते हैं और भोग लेते हैं। यद्यपि वे अपनी निन्दा गर्हा करते रहते हैं तथापि आत्मबलकी व वीतरागताकी कमीसे इतने पुरुषार्थी नहीं होते जो अपने श्रद्धान तथा ज्ञानके अनुकूल सदा वर्तन कर सकें, परन्तु मिथ्यादृष्टीकी तरह आकुलव्याकुल व तृषातुर नहीं होते हैं। चाह होनेपर उसकी शमनताके लिये योग्य विषयभोग कर लेते हैं। उनकी दशा उन जीवोंके समान होती है जिनको किसी नशा पीनेकी आदत पड़ गई थी—किसीके उपदेशसे उसके पीनेकी रुचि हट गई है। तौभी त्याग नहीं कर सके तब तक उस नशाको लाचारीसे लेते रहते हैं। जिनके अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय शमन होगई परन्तु प्रत्याख्यानावरणीय कषाय उदयमें है उनके चाह अधिक घट जाती है परन्तु वे भी सर्वथा इंद्रिय भोग छोड़ नहीं सके। अपनी निन्दा गर्हा करते रहते व तत्वविचार व स्वात्ममननके अभ्याससे जब आत्मशक्ति बढ़ जाती तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी दमन होजाती तब वे विषयभोग सर्वथा त्यागकर साधु होकर जितेन्द्रिय रहते हुए ज्ञान ध्यानका मनन करते हैं। इससे नीचेकी अवस्थाके दो गुणस्थानोंमें जो विषय सुखका भोग है वह उनके ज्ञान व श्रद्धानका अपराध नहीं है किन्तु उनके कषायके उदयका अपराध है सो भी त्यागने

योग्य है। यह बात अच्छी तरह ध्यानमें लेनेकी है कि सुख निराकुलता रूप है वह निज आत्म ध्यानमें ही प्राप्त होसक्ता है। पर पदार्थोंमें रागद्वेष करना सदा ही आकुलताका मूल है। ये रागद्वेष विषयकी आशक्तिके वश होजाते हैं इसलिये विषय सुखकी आशक्ति बिलकुल छोड़ने योग्य है। श्री समंतभद्राचार्यने स्वयंभू स्तोत्रमें यही भाव दर्शाया है–

स चानुबन्धोस्य जनस्य तापकृत्
तृषोभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं,
ततो भवानेवगतिः सतां मतः ॥ २०॥

भाव यह है कि यह विषयोंकी आशक्ति मनुष्यको क्लेश देनेवाली है तथा तृष्णाकी बराबर वृद्धिको करनेवाली है। तथा विषयसुखको पाकर भी इस प्राणीकी अवस्था सुख व संतोषरूप नहीं रहती है। जबतक एक पदार्थ मिलता नहीं उसके मिलनेकी आकुलता रहती, यदि वह मिल जाता है तो उसकी रक्षाकी आकुलता रहती, यदि वह नष्ट होजाता है तो उसके वियोगकी आकुलता रहती है। एक विषय मिलनेपर संतोषसे बैठना होता नहीं अन्य अन्य विषयकी तृष्णा बढ़ती चली जाती है। हे प्रभु! अभिनंदन स्वामी! आपका लोकोपकारी ऐसा मत है इसी लिये मोक्षार्थी ज्ञानी पुरुषोंके लिये आप ही शरणके योग्य हैं। ऐसा जान इंद्रिय सुखको सुखरूप नहीं किन्तु दुःखरूप समझकर अतींद्रिय सुखके लिये निज आत्माका अनुभव शुद्धोपयोगके द्वारा करना योग्य है ॥ ७१ ॥

उत्थानिका-आगे पूर्व कहे प्रमाण शुभोपयोगसे होनेवाले इंद्रिय सुखको निश्चयसे दुःखरूप जानकर उस इंद्रिय सुखके साधक शुभोपयोगको भी अशुभोपयोगकी समानतामें स्थापित करते हैं ।

णरणारयतिरियसुरा, भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किध सो सुहो व असुहो, उवओगो हवदि जीवाणं ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजंति यदि देहसंभवं दुःखम् ।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥७६॥

सामान्यार्थ-मनुष्य, नारकी, पशु और देव जो शरीरसे उत्पन्न हुई पीड़ाको सहन करते हैं तो जीवोंका उपयोग शुभ या अशुभ कैसे होसक्ता है अर्थात् निश्चयसे अशुभ ही है ।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(जदि) जो (णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, पशु और देव स्वाभाविक अतींद्रिय अमूर्तीक सदा आनन्दमई जो सच्चा सुख उसको नहीं प्राप्त करते हुए (देहसंभवं दुक्खं भजंति) पूर्वमें कहे हुए निश्चय सुखसे विलक्षण पंचेंद्रियमई शरीरसे उत्पन्न हुई पीड़ाको ही निश्चयसे सेवते हैं तो (जीवाणं सो सुहो वा असुहो उवओगो किध हवदि) जीवोंके भीतर वह शुभ या अशुभ उपयोग जो शुद्धोपयोगसे भिन्न है व्यवहारसे भिन्न होनेपर भी किस तरह भिन्नताको रख सक्ता है ? अर्थात् किसी भी तरह भिन्न नहीं है । एकरूप ही है ।

भावार्थ-यहां आचार्यने सांसारिक दुःख तथा सुखको समान बता दिया है। क्योंकि दोनों ही आकुलतारूप व आत्माकी शुद्ध परिणतिसे विलक्षण तथा बंध रूप हैं । जैसे शरीरमें

रोगादिकी पीड़ा होनेसे कष्ट होता है वैसे इंद्रियोंकी विषयचाह द्वारा जो आशक्ति पैदा होती है और उस आशक्तिके वश किसी पर पदार्थमें यह रंजायमान होता है उस समय क्षणभरके लिये जो अज्ञानसे साताती मालूम पड़ती है उसीको सुख कहते हैं, सो वह उस क्षणके पीछे तृष्णाको बढ़ानेसे व पुनः विषयभोगकी इच्छाको जगानेसे तथा राग गर्भित परिणाम होनेसे बंधकारक है इस कारणसे दुःख ही है। वास्तवमें सांसारिक सुख सुख नहीं है किन्तु घनी विषय चाहरूप पीड़ाको कुछ कमी होनेसे दुःखकी जो कमी कुछ देरके लिये होगई है उसीको व्यवहारमें सुख कहते हैं। असलमें दुःखकी अधिकताको दुःख व उसकी कमीको सुख कहते हैं। वह कमी अर्थात् सुखाभास और अधिक दुःखके लिये कारण है। जैसे कोई मनुष्य नंगे पग ज्येष्ठकी धूपकी आतापमें चला जाता हुआ गर्मीके दुःखसे अति दुःखी हो जंगलमें कहीं एक छायादार वृक्ष देखकर वहां घवड़ाकर जाकर विश्राम करता है। जबतक वह ठहरता है तबतक कुछ गरमीके कम होनेसे उसको सुखसा भासता है। वास्तवमें उसके दुःखकी कमी हुई है फिर जैसे ही वह चलने लगता है उसको अधिक गरमीकी पीड़ा सताती है। इसी तरह सांसारिक सुखको मात्र कोई दुःखकी कुछ देरके लिये शांति समझनी चाहिये। जहां पहले व पीछे आकुलता हो वह सुख कैसे? वह तो दुःख ही है।

श्री गुणभद्राचार्य श्री आत्मानुशासनमें कहते हैं—

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखं।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ ४६ ॥

भावार्थ-धर्म वह है जहां अधर्म नहीं, सुख वह है जहां दुःख नहीं, ज्ञान वह है जहां अज्ञान नहीं, गति वह है जहांसे लौटना नहीं। वास्तवमें सांसारिक सुख दुःख दोनोंमें अपने ही रागद्वेषका भोग है। रागका भोग सुख है, द्वेषका भोग दुःख है। जब कोई प्राणी किसी भी इन्द्रियके विषयमें आशक्त हो उसी तरफ रागी हो जाता है और अन्य सब विषयोंसे छुट जाता है तब ही उसको सुख भासता है। ऐसे विषयभोगके समय रति अथवा तीनों वेदोंमेंसे कोई वेद वा हास्य ऐसे पांच नोकषायोंमेंसे कोई तथा लोभ या मायाका उदय रहता ही है-इनहीके उदयको राग कहते हैं। इसीका अनुभव सुख कहलाता है। दुःखके समय द्वेषका भोग है। शोक, भय, जुगुप्सा, अरति इनमेंसे किसीका उदय तथा मान या क्रोधके उदयको ही द्वेष कहते हैं-इसी द्वेषका अनुभव दुःख है। जब किसी विषयकी चाह पैदा होती है तब राग है परंतु उसी समय इच्छित पदार्थका लाभ न होनेसे वियोगसे शोक व ग्लानि व अरतिसी भावोंमें रहती है यही दुःखका अनुभव है। जब वह प्राप्त होजाता है तब रति व लोभका उदय सो सुखका अनुभव है। सुखानुभवके समय सातावेदनीय तथा दुःखानुभवके समय असाता वेदनीयका उदय भी रहता है। वेदनीय बाहरी सामग्रीका निमित्त मिलादेती है। यदि मोहनीयका उदय न हो और यह आत्मा वीतरागी रहे तो रागद्वेषकी प्रगटता न होनेसे इस वीतरागीको साता या असाता कुछ भी अनुभवमें न आएगी इसकारण एक अपेक्षासे रागका अनुभव सुख व द्वेषका अनुभव दुःख है। वास्तवमें कषायका स्वाद सांसारिक सुख व दुःख है इसलिये यह

स्वाद मलीन तथा संक्लेशरूप है। सुखमें संक्लेश कम जब कि दुःखमें संक्लेश अधिक है। ये सुख तथा दुःख क्षण क्षणमें बदल जाते हैं व एक दूसरेके कारण होजाते हैं। एक स्त्री इस क्षण अनुकूल वर्तनसे सुखरूप वही अन्य क्षण प्रतिकूल वर्तनसे दुःख रूप भासती है। अर्थात् उपयोग जब रागका अनुभव करता है तब सुख, जब द्वेषका अनुभव करता है तब दुःख भासता है। जब दोनोंमें कषायका ही भोग है तब यह सुख तथा दुःख एक रूप ही हुए—आत्माके स्वाभाविक वीतराग अतींद्रिय आनन्दसे दोनों ही विपरीत हैं। जब ये सुख व दुःख समान हैं तब जिस पुण्यके उदयसे सुख व जिस पापके उदयसे दुःख होता है वे पुण्य पाप भी समान हैं। जब पुण्य व पाप समान हैं तब जिस भावसे पुण्य बंध होता है वह शुभोपयोग तथा जिस भावसे पाप बंध होता है वह अशुभोपयोग भी समान हैं—दोनों ही कषाय भावरूप हैं। पूजा, दान, परोपकारादिमें रागभावको व अन्याय, अभक्ष्य, अन्यथा आचरणसे द्वेषभावको शुभोपयोग, तथा विषयभोग व परके अपकारमें रागभावको व धर्माचरणसे द्वेषभावको अशुभ उपयोग कहते हैं। ये शुभ व अशुभ उपयोग रागद्वेषमई हैं। ये दोनों ही आत्माके शुद्ध उपयोगसे भिन्न हैं इसलिये दोनों समान हैं। व्यवहारमें मंदकषायको शुभोपयोग व तीव्र कषायको अशुभोपयोग कहते हैं, निश्चयसे दोनों ही कषायरूप हैं इसलिये त्यागने योग्य हैं। इसी तरह इन उपयोगोंसे जो पुण्यकर्म तथा पापकर्म बंध होते हैं वे भी दोनों पुद्गलमई हैं इसलिये आत्मस्वभावसे भिन्न होनेके कारण त्यागने योग्य है। श्री समयसार कलशमें

श्री अमृतचंद्राचार्यने कहा है:-

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंध हेतुः ॥३॥

भावार्थ-पुण्य पापकर्म दोनोंका हेतु आत्माका अशुद्ध भाव है, दोनोंका स्वभाव पुद्गलमई है। दोनोंका अनुभव राग द्वेषरूप है दोनोंका आश्रय एक कलुषित आत्मा है इससे इनमें भेद नहीं है-दोनों ही बन्ध मार्गका आश्रय किये हुए हैं तथा समस्त यह कर्मबन्धके कारण हैं, इसलिये ये पुण्य पाप समान हैं वैसे ही इनके उदयसे जो रागद्वेष सहित साता व असाताका अनुभव होता है वह भी कषायरूप अशुद्ध अनुभव है, आत्मीक अनुभवसे विलक्षण है इसलिये समान है। आचार्यका अभिप्राय यह है कि शुभोपयोगसे पुण्यबांध जो देव या मनुष्योंको सामग्री प्राप्त होती है उसीके कारण यह प्राणी रागी हो उनके रमनेको इसलिये जाता है कि विषयोंकी चाह शांत करूंगा परन्तु उनके भोग करनेसे तृष्णाको बढ़ा लेता है। चाहकी दाह बढ़ जाती है-यह दाह ही दुःख है। इसलिये यह इंद्रिय सुख दुःखका कारण होनेसे दुःखरूप है। जब ऐसा है तब शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही त्यागने योग्य हैं। क्योंकि जैसे पापोदयसे दुःखमें आकुलता होती है वैसे पुण्योदयसे सुखके निमित्तसे आकुलता होती है। इसलिये दोनों ही समान हैं-आत्माके शुद्ध भावसे भिन्न हैं।

श्री समयसारजीमें श्री कुंदकुंद भगवानने कहा है-

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुहसीलं।
कहं तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १५२ ॥

भाव यह है कि यद्यपि व्यवहारनयसे अशुभोपयोग रूप कर्मको कुशील अर्थात् बुरा और शुभोपयोगरूप कर्मको सुशील अथवा अच्छा कहते हैं, परन्तु निश्चयसे देखो तो जिसको सुशील कहते हैं वह भी कुशील है क्योंकि संसारमें ही रखनेवाला है। पुण्यका उदय जबतक रहता है तबतक कर्मकी बेड़ी कटकर आत्मा स्वाधीन व निराकुल सुखी नहीं होता है। ऐसा जान आत्माधीन सच्चे सुखके लिये एक शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है। शेष सर्व कषायका पसारा है जो स्वाधीनताका घातक, आकुलतारूप व बन्धका कारक है तथा संसाररूप है—एक शुद्धोपयोग ही मोक्ष रूप तथा मोक्षका कारण है इसलिये यही ग्रहण करने योग्य है॥ ७६ ॥

इस तरह स्वतंत्र चार गाथाओंसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे व्यवहारनयसे ये पुण्यकर्म देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिके पद देते हैं इसलिये उनकी प्रशंसा करते हैं सो इसलिये बताते हैं कि आगे इन्हीं उत्तम फलोंके आधारसे तृष्णाकी उत्पत्तिरूप दुःख दिखाया जायगा।

कुलिसाउहचक्कधरा, सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं, करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७७॥

कुलिशायुधचक्रधराः शुभोपयोगात्मकैः भोगैः।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वंति सुखिता इवाभिरताः ॥ ७७ ॥

सामान्यार्थ-सुखियोंके समान रति करते हुए इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदिक शुभ उपयोगके फलसे उत्पन्न हुए भोगोंके द्वारा शरीर आदिकी वृद्धि करते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(कुलिसाउहचक्कधरा) देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिक (सुहिदा इव अभिरदा) मानों सुखी हैं ऐसे आशक्त होते हुए(सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं) शुभोपयोगके द्वारा पैदा हुए व प्राप्त हुए भोगोंसे विक्रिया करते हुए (देहादीणं) शरीर परिवार आदिकी (विद्धिं करेंति) बढ़ती करते हैं। यहां यह अर्थ है कि जो परम अतिशयरूप तृप्तिको देनेवाला विषयोंकी तृष्णाको नाश करनेवाला स्वाभाविक सुख है उसको न पाते हुए जीव जैसे जोंकें विकारवाले खूनमें आशक्त हो जाती हैं वैसे आशक्त होकर सुखाभासमें सुख जानते हुए देह आदिकी वृद्धि करते हैं। इससे यह जाना जाता है कि उन इन्द्र व चक्रवर्ती आदि बड़े पुण्यवान जीवोंके भी स्वाभाविक सुख नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बड़े २ इन्द्र व चक्रवर्ती आदि जीवोंकी अवस्था बताई है कि इन जीवोंने पूर्व भवमें शुभोपयोगके द्वारा बहुत पुण्य बंध किया था जिससे ये ऊंचे पदमें आए तथा पुण्यके उदयसे मनोज्ञ इंद्रियोंके विषय प्राप्त किये। अब वे अज्ञानसे ऐसा जानकर कि इन विषयोंके भोगसे सुख होगा उन पदार्थोंमें आशक्त होकर उनको भोग लेते हैं, परन्तु इससे उनकी विषयचाह शांत नहीं होती, क्षणिक कुछ बाधा कम हो जाती है उसको ये अज्ञानी जीव सुख मान लेते हैं, परन्तु पीछे और अधिक तृष्णामें पड़कर चिंतावान हो जाते हैं।

इस बातपर लक्ष्य नहीं देते। वास्तवमें जिसको सुख माना है वह उल्टा दुःखदाई हो जाता है। जैसे जोंक जंतु अज्ञानसे मलीन व हानिकारक रुधिरको आसक्त हो पान करती है, वह यह नहीं देखती है कि इससे मेरा नाश होगा व दुःख अधिक बढ़ेगा। ऐसे ही विषयाशक्त जीवोंकी दशा जाननी।

इन्द्र या चक्रवर्ती आदि देव या खास मनुष्योंमें शरीरमें विक्रिया करनेकी शक्ति होती है वे विषयदाहकी दाहमें अधिक इच्छावान होकर एक शरीरके अनेक रूप बना लेते व अपने देवी आदि परिवारकी संख्या विक्रियाके द्वारा बढ़ा लेते हैं। वे अत्यन्त आशक्त हो जाते हैं तौभी तृप्तिको न पाकर दुःखी ही रहते हैं। कहनेका मतलब यह है विषयोंका सुख चक्रवर्ती आदिको भी तृप्त नहीं कर सका तो सामान्य मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? असलमें परमहित रूप आत्मीकसुख ही है। ऐसा जान इसी सुखके लिये निरंतर स्वानुभवका अभ्यास रखना योग्य है ॥७७॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि पुण्यकर्म जीवोंमें विषयकी तृष्णाको पैदा कर देते हैं:-

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥७८॥

यदि संति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि।
जनयंति विषयतृष्णा जीवानां देवतान्तानाम् ॥ ७८ ॥

सामान्यार्थ-यदि शुभ परिणामोंसे उत्पन्न नाना प्रक

रके पुण्यकर्म होते हैं तथापि वे स्वर्गवाले देवताओं तकके जीवोंके यकी तृष्णाको पैदा कर देते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जदि हि) यद्यपि निश्चय करके (परिणामसमुब्भवाणि) विकार रहित स्वसंवेदन भावसे विलक्षण शुभ परिणामोंके द्वारा पैदा होनेवाले (विविहाणि पुण्णाणि सति) अपने अनन्तभेदसे नाना तरहके तथा पुण्य व पापसे रहित परमात्मासे विपरीत पुण्य कर्म होते हैं तथापि वे (देवदंताणं जीवाणं) देवता तकके जीवोंके भीतर (विसयतण्हं) विषयोंकी चाहको (जणयंति) पैदा कर देते हैं। भाव यह है कि ये पुण्य कर्म उन देवेन्द्र आदि बहिर्मुखी जीवोंके भीतर विषयकी तृष्णा बढ़ा देते हैं। जिन्होंने देखे, सुने, अनुभए भोगोंकी इच्छारूप निदान बन्धको आदि लेकर नाना प्रकारके मनोरथरूप विकल्प जालोंसे रहित जो परमसमाधि उससे उत्पन्न जो सुखामृतरूप तथा सर्व आत्माके प्रदेशोंमें परम आल्हादको पैदा करनेवाली एक आकार स्वरूप परम समरसी भावमई और विषयोंकी इच्छारूप अग्निसे पैदा होनेवाली जो परमदाह उसको शांत करनेवाली ऐसी अपने स्वरूपमें तृप्तिको नहीं प्राप्त किया है। तात्पर्य यह है कि जो ऐसी विषयोंकी तृष्णा न होवे तो गंदे रुधिरमें जोकोंकी आशक्तिकी तरह कौन विषयभोगोंमें प्रवृत्ति करै ?। और जब वे बहिर्मुखी जीव प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं तब अवश्य यह मालूम होता है कि पुण्यकर्म ही तृष्णाको पैदा कर देनेसे दुःखके कारण हैं।

भावार्थ-यहां आचार्यने पुण्यकर्मको व उसके कारण

शुभोपयोगको तथा उसके फल इंद्रिय सुखको त्यागने योग्य बताया है, मुख्यतासे संकेत पुण्य कर्मकी तरफ है। पुण्यकर्म शुभोपयोगके द्वारा नानाप्रकार साता वेदनीय, शुभनाम, शुभगोत्र तथा शुभ आयुके रूपमें बंधजाता है जिसके फलसे मनोहर साता रूप बाहरी सामग्री, मनोहर शरीरका रूप, माननीय कुल तथा अपनेको रुचनेवाली आयु प्राप्त होती है। भोगभूमिके तिर्यंच तथा मनुष्य पुण्य कर्मसे ही होते हैं। कर्मभूमिमें बहुतसे पशु तथा मनुष्य साताकारी सामग्री प्राप्तकर लेते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देवोंके भी पुण्यफलसे बहुत मनोज्ञ देह देवी आदि सामग्री होती है। सबसे अधिक साताकी सामग्री देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती नारायण प्रति नारायण आदि पदवीधारियोंके होती है। इनमें जो जीव सम्यग्दृष्टी ज्ञानी होते हैं उनके परिणामोंमें ये सामग्री यद्यपि चारित्रकी अपेक्षा कषायके उदयसे राग पैदा करानेमें निमित्त होती है तथापि श्रद्धानकी अपेक्षा कुछ विकार नहीं करती है। परन्तु जो मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित जीव होते हैं उनके परिणामोंमें बाहरी सामग्री उसी तरह विषयकी तृष्णाको बढ़ा देती है जिस तरह ईंधनको पाकर अग्नि अपने स्वरूपको बढ़ा देती है। अन्तरङ्ग मोह रागद्वेषकी वृद्धि करनेमें बाहरी पदार्थ निमित्त कारण हैं। यह क्षेत्रादि बाहरी परिग्रह जब सम्यग्दृष्टियोंके भीतर भी रागादि भावोंके जगानेमें निमित्त कारण है तब मिथ्यादृष्टियोंकी तो बात ही क्या कहनी—बड़े २ क्षायिक सम्यक्ती तीर्थंकर भी इस बाहरी परिग्रहके निमित्तसे वीतराग परिणतिको पूर्णपने नहीं कर सके। यही कारण है जिससे वे गृह-

वास त्याग परिग्रह भारको पटक निर्जन वनमें जाकर आत्मध्यान करते हैं। अंतरंग रागादि व मूर्छारूप परिग्रह भावके लिये बाहरी क्षेत्रादि निमित्त कारणरूप नोकर्म हैं इसीसे उपचारसे क्षेत्रादिको भी परिग्रहके नामसे कहाजाता है। अज्ञानी जीव पुण्यके उदयसे चक्रवर्ती होकर भी घोर उन्मत्त होकर घोर पाप बांध लेते हैं और सातवें नर्क तक चले जाते हैं। इसलिये मुख्यतासे ये पुण्य कर्म अज्ञानियोंके भीतर विषयोंकी दाहको बहुत ही बढ़ानेमें प्रबल निमित्त पड़ जाते हैं। जिस कारणसे मनोज्ञ सामग्री रहते हुए भी वे अधिक अधिक सामग्रीकी चाहमें पड़कर उसके लिये आकुलित होते हैं यहांतक कि अन्याय प्रवृत्ति भी करलेते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव बाहरी सामग्रीसे इतना नहीं भूलते जो वस्तुके स्वरूपको न ध्यानमें रक्खें किन्तु वे भी कषायोंके उदयके प्रमाण रागी द्वेषी हो ही जाते हैं—वे भी प्रवृत्ति मार्गमें स्त्री, धन, पृथ्वी आदिमें राग करलेते व उसकी वृद्धि व रक्षा अच्छी तरह करते हैं। इस तरह यह सिद्ध है कि पुण्यकर्म अंतरंग चाहकी दाहको बढानेमें प्रबल निमित्त सामने रख देते हैं, यदि ऐसा न हो तो कोई भी विषयभोगोंमें रति न करे। इसलिये ये पुण्यकर्म भी संसार बढ़ानेके कारण होजाते हैं अतः ग्रहणकरनेयोग्य नहीं है। तब जिस शुभ उपयोगसे पुण्यकर्मका बंध होता है वह भी उपादेय नहीं है। उपादेय एक शुद्धोपयोग है जो कर्मका नाशक है, विषयदाहको शांतिकारक है तथा निजानन्दका प्रवर्द्धक है इसलिये इसकी ही भावना निरन्तर कर्तव्य है, यह भाव है॥ ७८॥

उत्थानिका-आगे पुण्यकर्म दुःखके कारण हैं इसी ही पूर्वके भावको विशेष करके समर्थन करते हैं।

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहिं विसयसो-क्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७९॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णाः दुःखितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि ।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ताः ॥ ७९ ॥

सामान्यार्थ-वे पुण्यकर्म भोगी फिर भी तृष्णाको बढ़ाए हुए चाहकी दाहोंसे घबड़ाए हुए इंद्रिय विषयके सुखोंको मरण-पर्यंत दुःखसे जलते हुए चाहते रहते और भोगते रहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(पुण) तथा फिर (ते) वे सर्व संसारी जीव (उदिण्णतण्हा) स्वाभाविक शुद्ध आत्मामें तृप्तिको न पाकर तृष्णाको उठाए हुए (तण्हाहिं दुहिदा) स्वसंवेद-नसे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख उसके अभावसे अनेक प्रकारकी तृष्णासे दुःखी होते हुए व (आमरणं दुक्खसंतत्ता) मरणपर्यंत दुःखोंसे संतापित रहते हुए (विषयसोक्खानि) विषयोंसे रहित परमात्माके सुखसे विलक्षण विषयके सुखोंको (इच्छंति) चाहते रहते हैं (अणुहवंति य) और भोगते रहते हैं। यहां यह अर्थ है कि जैसे तृष्णाकी तीव्रतासे प्रेरित होकर जोंक जंतु खराब रुधिरकी इच्छा करती है तथा उसको पीती है इस तरह करती हुई मरण पर्यंत दुःखी रहती है अर्थात् खराब रुधिर पीते पीते उसका मरण हो जाता है परन्तु तृष्णा नहीं मिटती है। जैसे अपने

शुद्ध आत्माके अनुभवको न पानेवाले जीव भी जैसे मृग तृषातुर होकर वारवार मांडलीमें जल जान जाता है, परन्तु तृषा न बुझाकर दुःखी ही रहता है। इसी तरह विषयोंको चाहते तथा अनुभव करते हुए मरणपर्यंत दुःखी रहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तृष्णारूपी रोगको पैदा करनेके कारणसे पुण्यकर्म वास्तवमें दुःखके ही कारण हैं।

भावार्थ-इस गाथामें फिर भी आचार्यने पहली बातको समर्थन किया है। संसारमें मिथ्यादृष्टी जीवोंके तृष्णाको उत्पन्न करनेवाला तीव्र लोभका सदा ही उदय रहता है। जहां निमित्त बाहरी पदार्थोंका नहीं होता है वहां वह तीव्र लोभका उदय बाहरी कार्योंके द्वारा प्रगट नहीं होता है, परन्तु जहां निमित्त होता है व निमित्त मिलता जाता है वहां वह लोभ तृष्णाके नामसे प्रगट होता है। पुण्यकर्मके उदयसे जब बाहरी पदार्थ इंद्रियोंके विषयभोग योग्य प्राप्त हो जाते हैं तब वह लोभी जीव उनमें अतिशय तन्मय हो जाता है और उन सामग्रियोंकी स्थितिको चाहते हुए भी और अधिक विषयभोगोंकी चाह करलेता है, उस चाहके अनुसार पदार्थोंके सम्बन्ध मिलानेके लिये अनेक प्रकारके यत्न करता है जिसके लिये अनेक कष्टोंको सहता है। जब कदाचित् पुण्यके उदयसे इच्छित पदार्थ मिल जाते हैं तब उनको भोगकर क्षणिक सुख मानलेता है परंतु फिरभी अधिक तृष्णा बढ़ा लेता है। उस बढ़ी हुई तृष्णाके अनुसार फिर भी नवीन सामग्रीका सम्बन्ध मिलानेका प्रयास करता है। यदि इच्छित पदार्थ नहीं मिलते हैं तो महा-

दुःखी होता है, यदि कदाचित् मिलजाते हैं तो उनको भी भोगकर अधिक तृष्णाको बढ़ा लेता है। इस तरह यह संसारी जीव पिछले प्राप्त पदार्थोंकी रक्षा व नवीन विषयोंके संग्रहमें रातदिन लगा रहता है। ऐसा ही उद्यम करते करते अपना जीवन एक दिन समाप्त कर देता है परंतु विषयोंकी दाहको कम नहीं करता हुआ उलटा बढ़ाता हुआ उसकी दाहसे जलता रहता है। यदि इष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध छूट जाता है तो उसके वियोगमें क्लेशित होता है। चीटियोंके भीतर तृष्णाका दृष्टांत अच्छी तरह दिखता है। वे रात दिन अनाजका बहुत बड़ा समूह एकत्र कर लेती हैं और इसी लोभके प्रकट कार्यमें अपना जन्म शेष करदेती हैं। मिथ्यादृष्टी संसारी जीव विषयभोगको ही सुखका कारण, श्रद्धान करते व जानते हुए इस अज्ञान जनित मोहसे रातदिन व्याकुल रहते हुए जैसे एक जन्मकी यात्राको बिताते हैं वैसे अनन्त जन्मोंकी यात्राको समाप्त कर देते हैं। अभिप्राय यह है कि पुण्य कर्मोंके उदयसे भी सुख शांति प्राप्त नहीं होती है किन्तु वे भी संसारके दुःखोंके कारण पड़ जाते हैं। ऐसा जान पुण्यके उदयको व उसके कारण शुभोपयोगको कभी भी उपादेय नहीं मानना चाहिये। एक आत्मीक आनन्दको ही हितकारी जानकर उसीके लिये नित्य साम्यभावकी भावना करनी योग्य है। टीकाकारने जो जोंक जंतुका दृष्टांत दिया है वह बहुत उचित है। कारण वे खराब खूनकी इतनी प्यासी होती हैं कि जितना वे इस खूनको पीती हैं उतनी ही अधिक तृष्णाको बढ़ा लेती हैं और फिर २ उसीको पीती चली जाती हैं यहां तक कि खून विकार अपना असर करता है और वे मर जाती हैं। यही

अवस्था संसारी प्राणियोंकी है कि वे विषयकी चाहमें जलते हुए मर जाते हैं। इसलिये पुण्य कर्मको दुःखका कारण जानकर उससे विराग भजना चाहिये ॥ ७९ ॥

उत्थानिका—आगे फिर भी पुण्यसे उत्पन्न जो इंद्रिय-सुख होता है उसको बहुत प्रकारसे दुःखरूप प्रकाश करते हैं—

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥८०॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम्।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ॥ ८० ॥

सामान्यार्थ—जो इंद्रियोंके द्वारा सुख प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधा सहित है, नाश होनेवाला है, कर्मबंधका बीज है, आकुलता रूप है इसलिये यह सुख दुःख रूप ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थः—(जं) जो संसारीक सुख (इंदिएहिं लद्धं) पांचों इंद्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है (तं सोक्खं) वह सुख (सपरं) परद्रव्यकी अपेक्षासे होता है इसलिये पराधीन है, जब कि पारमार्थिक सुख परद्रव्यकी अपेक्षा न रखनेसे आत्माके आधीन स्वाधीन है। इंद्रियसुख (बाधासहिदं) तीव्र क्षुधा तृषा आदि अनेक रोगोंका सहकारी है, जब कि आत्मीकसुख सर्व बाधाओंसे रहित होनेसे अव्याबाध है। इंद्रिय सुख (विच्छिण्णं) साताका विरोधी जो असाता वेदनीयकर्म उसके उदय सहित होनेसे नाशवंत तथा अन्तर सहित होनेवाला है, जब कि अतीन्द्रिय सुख असाताके उदयके न होनेसे निरन्तर

सदा विना अन्तर पड़े व नाशहुए रहनेवाला है। इंद्रिय सुख (बन्धकारणं) देखे, सुने, अनुभवकियेहुए भोगोंकी इच्छाको आदि लेकर अनेक खोटे ध्यानके आधीन होनेसे भविष्यमें नरक आदिके दुःखोंको पैदा करनेवाले कर्मबन्धको बांधनेवाला है अर्थात् कर्मबंधका कारण है, जबकि अतींद्रिय सुख सर्व अपध्यानोंसे शून्य होनेके कारणसे बंधका कारण नहीं है। तथा (विसमं) यह इंद्रियसुख परम उपशम या शांतभावसे रहित तृप्तिकारी नहीं है अथवा हानि वृद्धिरूप होनेसे एकसा नहीं चलता किन्तु विसम है, जब कि अतींद्रिय सुख परम तृप्तिकारी और हानि वृद्धिसे रहित है, (तघा दुक्खमेव) इसलिये यह इंद्रिय सुख पांच विशेषण सहित होनेसे दुःखरूप ही है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने इंद्रियजनित सुखको बिलकुल दुःखरूप ही सिद्ध किया है। वास्तवमें जिसका फल बुरा वह वस्तु वर्तमानमें अच्छी मालूम होनेपर भी कामकी नहीं है। यदि कोई फल खानेमें मीठा हो परन्तु रोग पैदा करनेवाला हो व मरण देनेवाला हो तो वह फल अनिष्ट कहलाता है बुद्धिमान लोग ऐसे फलको कभी भी ग्रहण नहीं करते। यही बात इंद्रिय सुखके साथ सिद्ध होती है। इंद्रियोंके भोगसे जो स्पर्शके द्वारा, स्वादके द्वारा, सूंघनेके द्वारा, देखनेके द्वारा तथा सुननेके द्वारा सुख प्रगट होता है वह सुख वास्तवमें सुख नहीं है किन्तु सुखसा भास होता है। वह तो असलमें दुःख ही है क्योंकि उसमे नीचे लिखे पांच दोष हैं। पहला-दोष यह है कि वह पराधीन है क्योंकि जबतक

विषयोंको ग्रहण करनेवाली इंद्रियां काम करने योग्य ठीक न हों व जबतक इच्छित पदार्थ भोगनेमें न आवें तबतक इंद्रिय सुख पैदा नहीं होता है। यदि दोनोंमें एककी कमी होगी तो यह सुखाभास भी नहीं भासेगा किन्तु उल्टा दुःखरूप ही झलकेगा। बड़ी भारी पराधीनता इस सांसारिक सुखमें है। इंद्रियें ठीक होने पर भी व चेतन व अचेतन पदार्थ रहने पर भी यदि पर पदार्थोंका परिणमन या वर्तन भोगनेवालेके अनुकूल नहीं होता है तो यह सुख नहीं मिलता है। इससे भी बड़ी भारी पराधीनता है। दूसरा दोष यह है कि यह बाधाओंसे पूर्ण है। जबतक चाहे हुए पदार्थ नहीं मिलते हैं तबतक उनके संयोग मिलानेके लिये बहुत ही कष्ट उठाना पड़ता है। यदि पदार्थ मिल जाते हैं और वे अपनी इच्छाके अनुसार नहीं वर्तन करते हैं तो इस मोही जीवको बड़ा कष्ट होता है और कदाचित् वे नष्ट हो जाते हैं तो उनके वियोगसे दुःख होता है इसलिये ये इंद्रियसुख बाधाओंसे पूर्ण हैं। तीसरा दोष यह है कि यह इंद्रियजनित सुख नाश होजाता है क्योंकि यह साता वेदनीय कर्मके आधीन है, जिसका उदय बहुत कालतक नहीं रहता है। साताके पीछे असाताका उदय हो जाता है जिससे सांसारिक सुख नष्ट हो जाता है। अथवा अपनी शक्ति नष्ट हो जाती है व पदार्थ नष्ट हो जाता है अथवा इस इंद्रिय विषयको भोगते हुए उपयोग उकता जाता है। चौथा दोष यह है कि यह इंद्रियजनित सुख कर्मबन्धका कारण है क्योंकि इस सुखके भोगमें तीव्र रागकी प्रवृत्ति होती है। जहां तीव्र विषयोंका राग है वहां अवश्य अशुभ कर्मका बन्ध होता है।

पांचमा दोष यह है कि इस इंद्रियसुखके भोगमें समताभाव नहीं रहता है एक विषयको भोगते हुए दूसरे विषयकी कामना हो जाती है अथवा यह सुख एकसा नहीं रहता है—हानि वृद्धिरूप है। इस तरह इन पांचों दोषोंसे पूर्ण यह इंद्रियसुख त्यागने योग्य है। अनन्तकाल इस संसारी प्राणीको पांचों इन्द्रियोंको भोगते हुए वीता है परन्तु एक भी इन्द्री अभीतक तृप्त नहीं हुई है। जैसे समुद्र कभी नदियोंसे तृप्त नहीं होता है वैसे कोई भी प्राणी विषयभोगोंसे तृप्त नहीं होता। इसलिये यह सुख वास्तवमें सुखदाई व शांतिकारक नहीं है। जबकि आत्माके स्वभावके अनुभवसे जो अतींद्रियसुख पैदा होता है वह इन पांचों दोषोंसे रहित तथा उनके विरोधी गुणोंसे परिपूर्ण है। आत्मीकसुख स्वाधीन है क्योंकि वह अपने ही आत्माके द्वारा अनुभवमें आता है उसमें पर वस्तुके ग्रहणकी जरूरत नहीं है किन्तु परवस्तुका त्याग होना ही इस सुखानुभवका कारण है। आत्मिक सुख सर्व वाधाओंसे रहित अव्यावाध तथा निराकुल है। इस सुखको भोगते हुए न आत्मामें कोई कष्ट होता है न शरीरमें कोई रोग होता है। उल्टा इसके इस सुखके भोगसे आत्मा और शरीर दोनोंमें पुष्टि आती है, आत्माका अन्तरायकर्म हटता है जिससे आत्मवीर्य बढ़ता है। परिणामोंमें शांति शरीर रक्षक जब कि अशांति शरीर नाशक है। यह प्रसिद्ध है कि चिंता चिता समान, क्रोध दावाग्नि समान शरीरके रुधिरादिको जला देते हैं। इससे स्वरूपके अनुभवसे शरीर स्वास्थ्ययुक्त रहता है। आत्मीकसुख कर्मबन्धका कारण न होकर कर्मबन्धके नाशका बीज है, क्योंकि आत्मानुभवमें जो वीतरागता

होती है वही कर्मोंकी सत्ताको आत्मामेंसे हटाती है। अतींद्रिय सुख आत्माका स्वभाव है इसलिये अविनाशी है। यद्यपि स्वानुभवी छद्मस्थ जीवोंके धारावाही आत्मसुख नहीं स्वादमें आता तथापि वह स्वाधीन होनेसे नाशरहित है। धारावाही स्वाद न आनेमें बाधक कषाय है। सुखका स्वरूप नाशरूप नहीं है। तथा आत्मिकसुख समता रूप है। जितनी समता होगी उतना ही इस सुखका स्वाद आवेगा। इस सुखके भोगमें आकुलता नहीं है न यह अपनी जातिको बदलता है। यह सुख तो परमतृप्ति तथा संतोषको देनेवाला है। ऐसा जान आत्मजन्य सुखको ही सुख जानना चाहिये और इंद्रिय सुखको बिलकुल दुःख रूप ही मानना चाहिये। इससे यह सिद्ध किया गया है कि जिस पुण्यके उदयसे इंद्रिय सुख होता है उस पुण्यका कारण जो शुभोपयोग है वह भी हेय है। एक साम्यभावरूप शुद्धोपयोग ही ग्रहण करने योग्य है।

इस तरह जीवके भीतर तृष्णा पैदा करनेका निमित्त होनेसे यह पुण्यकर्म दुःखके कारण हैं ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ८० ॥

उत्थानिका–आगे निश्चयसे पुण्य पापमें कोई विशेष नहीं है ऐसा कहकर फिर इसी व्याख्यानको संकोचते हैं–

ण हि मण्णदि जो एवं, णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं
हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो ॥ ८१ ॥

न हि मन्यते य एवं नास्ति विशेष इति पुण्यपापयोः।
हिण्डति घोरमपारं संसारं मोहसंच्छन्नः ॥ ८१ ॥

सामान्यार्थ–पुण्य और पापकर्ममें भेद नहीं है ऐसा जो निश्चयसे नहीं मानता है वह मोहकर्मसे ढका हुआ भयानक और अपार संसारमें भ्रमण करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(पुण्णपावाणं णत्थि विसेसोत्ति) पुण्य पापकर्ममें निश्चयसे भेद नहीं है (जो एवं णहि मण्णदि) जो कोई इस तरह नहीं मानता है (मोहसंछण्णो) वह मोहकर्मसे आच्छादित जीव (घोरं अपारं संसारं हिंडदि) भयानक और अभव्यकी अपेक्षासे अपार संसारमें भ्रमण करता है। मतलब यह है कि द्रव्य पुण्य और द्रव्य पापमें व्यवहार नयसे भेद है, भाव पुण्य और भाव पापमें तथा पुण्य पापके फल रूप सुख दुःखमें अशुद्ध निश्चयनयसे भेद है। परंतु शुद्ध निश्चयनयसे ये द्रव्य पुण्य पापादिक सब शुद्ध आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं इसलिये इन पुण्य पापोंमें कोई भेद नहीं है। इस तरह शुद्ध निश्चयनयसे पुण्य व पापकी एकताको जो कोई नहीं मानता है वह इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, कामदेव आदिके पदोंके निमित्त निदान बन्धसे पुण्यको चाहता हुआ मोह रहित शुद्ध आत्मतत्त्वसे विपरीत दर्शनमोह तथा चारित्र मोहसे ढका हुआ सोने और लोहेकी दो बेड़ियोंके समान पुण्य पाप दोनोंसे बंधा हुआ संसार रहित शुद्धात्मासे विपरीत संसारमें भ्रमण करता है।

भावार्थ–यहां आचार्यने शुद्ध निश्चयनयको प्रधानकर यह बतादिया है कि पुण्य और पापकर्ममें कोई भेद नहीं है। दोनों ही बंधरूप हैं, पुद्गलमय हैं, आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं। आत्माका स्वभाव निश्चयसे शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वरूप परम समता

भावमई है। कषायकी कालिमासे रहित है। शुभोपयोग यद्यपि व्यवहारमें शुभ कहा जाता है परन्तु वह एक कषायसे रंगा हुआ ही भाव है। अशुभोपयोग जब तीव्र कषायसे रंगा हुआ भाव है तब शुभोपयोग मंद कषायसे रंगा हुआ भाव है। कषाय की अपेक्षा दोनों ही अशुद्धभाव हैं इसलिये दोनों ही एक रूप अशुद्ध हैं। इस ही तरहसे इन शुभ तथा अशुभ भावोंसे बंधा हुआ सातावदेनीयादि द्रव्य पुण्य तथा असाता वेदनीय आदि द्रव्य पाप भी यद्यपि सुवर्ण बेड़ी और लोहेकी बेड़ीके समान व्यवहार नयसे भिन्न २ हैं तथापि पुद्गल कर्मकी अपेक्षा दोनों ही समान हैं, ऐसे ही पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त सांसारिक सुख तथा तथा पाप कर्मके उदयसे प्राप्त सांसारिक दुःख यद्यपि साता असाताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं तथापि निश्चयसे आत्माके स्वाभाविक आनन्दसे विपरीत होनेके कारण समान हैं। आत्माके शुद्धोपयोगको, उसकी अबंध अवस्थाको तथा अतींद्रिय आनन्दको जो पहचानकर उपादेय मानते हैं वे ही संसारसे पार होजाते हैं, परन्तु जो ऐसा नहीं मानते हैं वे मिथ्यात्वकर्मसे अज्ञानी रहते हुए शुभोपयोग, पुण्यकर्म तथा सांसारिक सुखोंको उपादेय और अशुभोपयोग, पापकर्म तथा दुःखोंको हेय जानते हुए रागद्वेष भावोंमें परिणमन करते हुए इस भयानक संसारवनमें अनन्तकाल तक भटकते रहते हैं। उन जीवोंको पांच इंद्रियमई सुख ही सुख भासता है, जिसके लिये वे तृषातुर रहते हैं और उस सुखकी प्राप्ति बाहरी पदार्थोंके संयोगसे होगी ऐसा जानकर चक्रवर्ती व इन्द्र तकके ऐश्वर्यकी कामना किया करते हैं। इस निदानभावसे

वे द्रव्यलिंग धारकर मुनि धर्म भी पालते हैं तथापि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही ठहरे हुए अनन्त संसारके कारण होते हैं। यहां आचार्यके कहनेका तात्पर्य यह है कि इन अशुद्ध भावोंसे तथा पुण्य पापकर्मोंसे आत्माको साम्यभावकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती है। अतएव इन सबसे मोह त्याग निज शुद्धोपयोग या साम्यभावमें भावना करनी योग्य है जिससे यह आत्मा अपने निज स्वभावका विलास करनेवाला हो जावे ॥ ८१ ॥

उत्थानिका–इस तरह ज्ञानी जीव शुभ तथा अशुभ उपयोगको समान जानकर शुद्धात्म तत्वका निश्चय करता हुआ संसारके दुःखोंके क्षयके लिये शुद्धोपयोगके साधनको स्वीकार करता है ऐसा कहते हैं:–

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो, खवेदि देहुब्भवं दुःखं ॥८२॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखं ॥ ८२ ॥

सामान्यार्थ–इस तरह पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाला जो कोई पर द्रव्यमें राग या द्वेष नहीं करता है वह शुद्ध उपयोगको रखता हुआ शरीरसे उत्पन्न होनेवाले दुःखका नाश करदेता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(एवं विदिदत्थो जो) इस तरह चिदानन्दमई एक स्वभावरूप परमात्म तत्वको उपादेय तथा इसके सिवाय अन्य सर्वको हेय जान करके हेयोपादेयके यथार्थ ज्ञानसे तत्त्व स्वरूपका ज्ञाता होकर जो कोई (दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा) अपने शुद्ध आत्मद्रव्यसे अन्य शुभ तथा अशुभ सर्व

द्रव्योंमें राग द्वेष नहीं करता है। (सो उपओगविसुद्धो) वह रागादिसे रहित शुद्धात्माके अनुभवमई लक्षणके धारी शुद्धोपयोगसे विशुद्ध होता हुआ (देहुब्भवं दुःखं खवेदि) देहके संयोगसे उत्पन्न दुःखको नाश करता है। अर्थात् यह शरीर गर्मलोहेके पिंड समान है। उससे उत्पन्न दुःखको जो निराकुलता लक्षणके धारी निश्चय सुखसे विलक्षण है और बड़ी भारी आकुलताको पैदा करनेवाला है, वह ज्ञानी आत्मा लोहपिंडसे रहित अग्निके समान अनेक चोटोंका स्थान जो शरीर उससे रहित होता हुआ नाश कर देता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ–यहां आचार्यने संसारके सर्व दुःखोंके नाशका उपाय एक शुद्ध आत्मीकभाव है ऐसा प्रगट किया है। तथा बताया है कि जैसे गर्म लोहेकी संगतिमें अग्नि नाना प्रकारसे पीटे जानेकी चोटको सहती है उस ही तरह यह मोही जीव शरीरकी संगतिसे नाना प्रकारके दुःखोंको सहता है। परन्तु जिसने इस देहको व उसके आश्रित पांचों इंद्रियोंको व उन इंद्रिय सम्बंधी पदार्थोंको तथा उनसे होनेवाले सुखको आकुलताका कारण, संसारका बीज तथा त्यागने योग्य निश्चय किया है और देह रहित आत्मा तथा उसकी वीतरागता और अतींद्रिय आनन्दको ग्रहण करने योग्य जाना है वही पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ जाननेवाला है। ऐसा तत्वज्ञानी जीव निज आत्माके सिवाय सर्व पर द्रव्योंमें राग या द्वेष नहीं करता है किन्तु उनको उनके स्वभावरूप समता-भावसे जानता है वह निर्मल शुद्ध भावका धारी होता हुआ शुद्धोपयोगमें लीन रहता है। और इस आत्मध्यानकी

अग्निसे उन सर्व कर्मोंको ही भिन्न कर देता है जो संसारके दुःखोंके बीज हैं। तात्पर्य यह है कि संसारकी पराधीनतासे मुक्त होकर स्वाधीन होनेके लिये यही उपाय श्रेष्ठ है कि निज शुद्ध आत्मामें ही श्रद्धान, ज्ञान तथा चर्या प्राप्त की जावे। लोहपिंडसे रहित अग्नि जैसे स्वाधीनतासे जलती हुई काष्ठको जला देती है वैसे आत्माका शुद्ध उपयोग रागद्वेषसे रहित होता हुआ आठकर्मके काठको जला देता है और निजानंदके समुद्रमें मग्न होकर निज स्वाभाविक स्वाधीनताको प्राप्त कर लेता है। अतएव शुभ अशुभसे रागद्वेष छोड़ दोनोंको ही समान जानकर एक शुद्धोपयोगमई साम्यभावमें ही रमणता करनी योग्य है ॥८१॥

इस तरह संक्षेप करते हुए तीसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं। ऊपर लिखित प्रमाण शुभ तथा अशुभकी मूढ़ताको दूर करनेके लिये दश गाथाओं तक तीन स्थलोंके समुदायसे पहली ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें यह कह चुके हैं कि शुभ तथा अशुभ उपयोगसे रहित शुद्ध उपयोगसे मोक्ष होती है। अब यहां दूसरी ज्ञानकंठिकाके व्याख्यानके प्रारंभमें शुद्धोपयोगके अभावमें यह आत्मा शुद्ध आत्मीक स्वभावको नहीं प्राप्त करता है ऐसा कहते हुए उसही पहले प्रयोजनको व्यतिरेकपनेसे दृढ़ करते हैं—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी, ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं॥

त्यक्त्वा पापारंभं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धं ॥ ८२ ॥

सामान्यार्थ-पापके आरंभको छोड़कर वा शुभ चारित्रमें वर्तन करता हुआ यदि कोई मोह आदि भावोंको नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्माको नहीं पाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(पावारंभं चत्ता) पहले गृहमें वास करना आदि पापके आरंभको छोड़कर (वा सुहम्मि चरियम्मि समुट्ठिदो) तथा शुभ चारित्रमें भलेप्रकार आचरण करता हुआ (जदि मोहादी ण जहदि) यदि कोई मोह, रागद्वेष भावोंको नहीं त्यागता है (सो अप्पगं सुद्धं ण लहदि) सो शुद्ध आत्माको नहीं पाता है। इसका विस्तार यह है कि कोई भी मोक्षका अर्थी पुरुष परम उपेक्षा या वैराग्यके लक्षणको रखनेवाले परम सामायिक करनेकी पूर्वमें प्रतिज्ञा करके पीछे विषयोंके सुखके साधक जो शुभोपयोगकी परिणतियें हैं उनसे परिणमन करके अंतरंगमें मोही होकर यदि निर्विकल्प समाधि लक्षणमई पूर्वमें कहे हुए सामायिक चारित्रका अभाव होते हुए मोहरहित शुद्ध आत्म-तत्वके विरोधी मोह आदिकोंको नहीं छोड़ता है तो वह जिन या सिद्धके समान अपने आत्मस्वरूपको नहीं पाता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने यह बताया है कि परम सामायिक भाव ही आत्माकी शुद्धिका कारण है। जो कोई घरसे उदास होकर मुनिकी दीक्षा धारण करले और सब गृह सम्बन्धी पापके व्यापारोंको छोड़दे तथा साधुके पालने योग्य २८ मूलगु-णोंको भली भांति पालन करे अर्थात् व्यवहार चारित्रमें वर्तन करने लग जावे परन्तु अपने अंतरंगसे संसार सम्बन्धी मोहको व विषयोंकी इच्छाको नहीं त्यागे तो वह शुद्ध उपयोगमई

सामायिक भावको नहीं पाता हुआ न शुद्ध आत्माका अनुभव कर सक्ता है और न कभी अपनेको शुद्धकर परमात्मा हो सक्ता है। कारण यही है कि उसके भीतर मोक्ष साधक रत्नत्रयका अभाव है। जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे केवल शुद्ध आत्माका व उससे उत्पन्न वीतराग परिणति तथा अतींद्रिय सुखका प्रेमी हो जाता है और संसारके जन्ममरणमय प्रपंचजालसे व विषयभोगोंसे मोह व रागद्वेष छोड़ देता है तथा इसी लिये इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण आदिके पदोंकी अभिलाषा नहीं रखता है वही जीव अपने शुद्ध आत्मीक स्वभावके सिवाय अन्य भावोंको व पदार्थोंको नहीं चाहता हुआ तथा केवल आत्मीक अनुभवका स्वादी होता हुआ गृहवासको आकुलताका कारण जानकर त्याग देता है तथा मुनिअवस्थाको निश्चय शुद्धात्मामें रमणरूप चारित्रका निमित्त कारण जानकर धारण कर लेता है और व्यवहार चारित्रमें मोही न होता हुआ उसे पालते हुए निर्विकल्प समाधिरूप परम सामायिक भावमें तिष्ठता है। तथा इसी शुद्धभावका निरन्तर अभ्यास रखता है वही आत्मा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ एक दिन जिन केवली भगवान और फिर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। परन्तु यदि कोई मुनि होकर भी वीतराग भावको छोड़कर मोही या रागी द्वेषी हो जाता है तो वह आत्मा शुद्धोपयोगको न पाकर केवल शुभोपयोगमें वर्तन करता हुआ कभी भी शुद्ध आत्माको नहीं पाता है। उल्टा वह जीव शुभोपयोगके फलसे पुण्य बांध विषयोंकी सामग्रीमें उलझकर संसारके चक्रमें भ्रमण किया करता है। श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशोंमें कहा भी है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ – ॥

भाव यह है कि ज्ञानस्वभावसे वर्तन करना ही सदा ज्ञानरूप रहना है। क्योंकि ज्ञान स्वरूपमें वर्तन करना आत्म द्रव्यका स्वभाव है इसलिये यही मोक्षका कारण है। वास्तवमें शुभोपयोग मोक्षका कारण नहीं है। मोक्षका कारण शुद्धोपयोग है। अतएव सर्व विकल्प छोड़कर एक शुद्ध आत्माका ही अनुभव करना योग्य है इसी स्वात्मानुभवके द्वारा यह जीव शुद्ध स्वभावको प्राप्त कर लेता है ॥ ८३ ॥

उत्थानिका—आगे शुद्धोपयोगके अभावमें जिस तरहके जिन व सिद्ध स्वरूपको यह जीव नहीं प्राप्त करता है उसको कहते हैं—

तवसंजमप्पसिद्धो, सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो।
अमरासुरिंदमहिदो, देवो सो लोयसिहरत्थो ॥८४॥

तपःसंयमप्रसिद्धः शुद्धः स्वर्गापवर्गमार्गकरः।
अमरासुरेन्द्रमहितो देवः सो लोकशिखरस्थः ॥ ८४ ॥

सामान्यार्थ—वह देव तप संयमसे सिद्ध हुआ है, शुद्ध है, स्वर्ग व मोक्षका मार्ग प्रदर्शक है, इन्द्रोंसे पूज्यनीक तथा लोकके शिखरपर विराजित है।

अन्वय सहित विशेषार्थ:—(सो देवो) वह देव (तव संजमप्पसिद्धो) सर्व रागादि परभावोंकी इच्छाके त्यागरूप अपने स्वरूपमें दीप्तमान होना ऐसा जो तप तथा बाहरी इंद्रिय

संयम और प्राण संयमके बलसे अपने शुद्धात्मामें स्थिर होकर समतारसके भावसे परिणमना जो संयम इन दोनोंसे सिद्ध हुआ है, (सुद्धो) क्षुधा आदि अठारह दोषोंसे रहित शुद्ध वीतराग है, (सग्गापवग्गमग्गकरो) स्वर्ग तथा केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय लक्षणरूप मोक्ष इन दोनोंके मार्गका उपदेश करनेवाला है, (अमरासुरिंदमहिदो) उस ही पदके इच्छुक स्वर्गके व भवनत्रिकके इन्द्रों द्वारा पूज्यनीक है, तथा (लोयसिहरत्थो) लोकके अग्र शिखरपर विराजित है ऐसा जिन सिद्धका स्वरूप जानना योग्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने बताया है कि यह शुद्धोपयोगका ही प्रताप है जिसके बलसे श्री जिन सिद्ध परमात्माका स्वरूप प्राप्त होता है। श्री सिद्ध परमात्मा वास्तवमें कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। यही संसारी आत्मा जब निश्चयतप व निश्चय संयममें उपयुक्त होकर अभ्यास करता है तब आप ही कर्मोंके आवरणसे रहित हो अपनी शक्तिको प्रगट कर देता है। सर्व पर पदार्थोंकी इच्छाओंको त्यागकर निज शुद्ध स्वरूपमें लीन होकर ध्यानकी अग्निको जलाना तप है। तथा सर्व इंद्रियोंके विषयोंको रोककर व मुनिके चारित्र द्वारा पृथ्वीकायिकादि छः कायके प्राणियोंका रक्षक होकर शुद्धात्मामें डटे रहना तथा साम्यभावमें परिणमना रागद्वेष न करना सो संयम है। इन तप संयमोंके द्वारा ही रागद्वेषादि भाव मल व ज्ञानावरणादि द्रव्य मल कट जाता है और यह आत्मा शुद्ध वीतराग जिन हो जाता है। तब अरहंत अवस्थामें स्वर्ग व मोक्षका कारण जो रत्नत्रय धर्म है उसका

उपदेश करता है तथा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्प-वासी देवोंके इन्द्र जिनको किसी सांसारिक भावसे नहीं किन्तु उसी शुद्ध पदकी भावना करके पूजते हैं तथा जब अघातिया कर्मोंका भी अभाव हो जाता है तब वह देव शरीर त्याग ऊर्द्ध्व-गमन स्वभावसे ऊपर जाकर लोकाकाशके अंत ठहर जाते हैं तब उनको सिद्ध परमात्मा कहते हैं । सिद्ध अवस्थामें यह परमात्मा निरंतर स्वानुभूतिमें रमण करते रहते हैं । वहां न कोई चिन्ता है, न आकुलता है, न बाधा है । जिन आत्माओंके भीतर संसारकी वासनासे राग है वे शुभोपयोगमें ही रहते हुए संसारके ऊंच नीच पदोंमें भ्रमण किया करते हैं उनको आत्माका शुद्ध अवि-नाशी सिद्ध पद कभी प्राप्त नहीं होता है । इसलिये तात्पर्य्य यह है कि इसी शुद्ध पदके लिये शुद्धोपयोगकी भावना करनी चाहिये । श्री समयसार कलशोंमें श्री अमृतचंद्राचार्यजीने कहा है—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकला सुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११॥

भाव यह है कि यह शुद्ध पद शुभ कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सक्ता । यह पद स्वाभाविक ज्ञानकी कला द्वारा ही सहजमें मिलता है इसलिये जगतके जीवोंको आत्मज्ञानकी कलाके बलसे इस पदके लिये सदा यत्न करना चाहिये ॥ ८४ ॥

उत्थानिका—आगे सूचना करते हैं कि जो कोई इस प्रकार निर्दोष परमात्माको मानते हैं, अपनी श्रद्धामें लाते हैं ही अविनाशी आत्मीक सुखको पाते हैं—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा, ते सोक्खं अक्खयं जंति॥ ८५

तं देवदेवदेवं यतिवरवृषभं गुरुं त्रिलोकस्य ।
प्रणमंति ये मनुष्याः ते सौख्यं अक्षयं यान्ति ॥ ८५ ॥

सामान्यार्थ–जो मनुष्य उस इंद्रोंके देव महादेवको जो सर्व साधुओंमें श्रेष्ठ है व तीन लोकका गुरु है प्रणाम करते हैं वे ही अक्षय सुखको पाते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जे मणुस्सा) जो कोई भव्य मनुष्य आदिक (तं देवदेवदेवं) उस महादेवको जो देवोंके देव सौधर्म इन्द्र आदिक भी देव है अर्थात उनके द्वारा आराधनाके योग्य है, (जदिवरवसहं) इंद्रियोंके विषयोंको जीतकर अपने शुद्ध आत्मामें यत्न करनेवाले यतियोंमें श्रेष्ठ जो गणधरादिक उनमें भी प्रधान है, तथा (तिलोयस्स गुरुं) अनन्तज्ञान आदि महान गुणोंके द्वारा जो तीनलोकका भी गुरु है (पणमंति) द्रव्य और भाव नमस्कारके द्वारा प्रणाम करते हैं तथा पूजते हैं व उसका ध्यान करते हैं (ते) वे उसकी सेवाके फलसे (अक्खयं सोक्खं जंति) परम्परा करके अविनाशी अतीन्द्रिय सुखको पाते हैं ऐसा सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ–यहां आचार्यने उपासकके लिये यह शिक्षा दी है कि जो जैसा भावै सो तैसा होजावै। अविनाशी अनंत अतींद्रिय सुखका निरंतर लाभ आत्माकी शुद्ध अवस्थामें होता है। उस अवस्थाकी प्राप्तिका उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोगमें तन्मय होकर निर्विकल्प समाधिमें वर्तन करना है तथापि परम्परायसे

उसका उपाय अरहंत और सिद्ध परमात्मामें श्रद्धा जमाकर उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है। यहां गाथामें पूज्यनीय परमात्माके तीन विशेषण देकर यह बतलाया है कि वह परमात्मा उत्कृष्ट देव हैं। जिनको भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व कल्पवासी देव नमन करते हैं ऐसे इन्द्र वे भी जिनकी सेवा करते हैं इसलिये वे ही सच्चे महादेव हैं। जो मोक्षके लिये साधु पद धार यतन करे उनको यति कहते हैं उनमें बड़े श्री गणधर देव हैं। उनसे भी बड़े श्री परमात्मा हैं। इस विशेषणसे यह बतलाया है कि वे परमात्मा केवल इन्द्रोंसे ही आराधने योग्य नहीं हैं किन्तु उनकी भक्ति श्री गणधर आदि परम ऋषि भी करते हैं। तीसरे विशेषणसे यह बताया है कि उनमें ही तीन लोकके प्राणियोंकी अपेक्षा गुरुपना है क्योंकि जब तीन लोकके संसारी जीव अल्पज्ञानी व मंद या तीव्र कषाययुक्त हैं तथा जन्ममरण सहित हैं तब वह परमात्मा अनंतज्ञानी, वीतरागी तथा जन्ममरणादि दोष रहित हैं। प्रयोजन यह है कि आत्मार्थी पुरुषको अन्य संसारी रागी द्वेषी देवोंकी आराधना त्यागकर ऐसे ही अरहंत व सिद्ध परमात्माका आराधन करना योग्य है॥८९॥

उत्थानिका—आगे "चत्तापावारम्भं" इत्यादिसूत्रसे जो कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोगके विना मोह आदिका नाश नहीं होता है और मोहादिके नाशके विना शुद्धात्माका लाभ नहीं होता है उस ही शुद्धात्माके लाभके लिये अब उपाय बताते हैं—

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८६

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्त्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥८६॥

सामान्यार्थ-जो श्री अरहंत भगवानको द्रव्यपने, गुणपने व पर्यायपनेकी अपेक्षा जानता है सो ही आत्माको जानता है । उसी हीका मोह निश्चयसे नाशको प्राप्त हो जाता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो) जो कोई (अरहंतं) अरहंत भगवानको (दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं) द्रव्यपने, गुणपने, तथा पर्यायपनेकी अपेक्षा (जाणदि) जानता है (सो) वह पुरुष (अप्पाणं जाणदि) अर्हंतके ज्ञानके पीछे अपने आत्माको जानता है । तिस आत्मज्ञानके प्रतापसे (तस्स मोहो) उस पुरुषका दर्शन मोह (खलु लयं जादि) निश्चयसे क्षय हो जाता है । इसका विस्तार यह है कि अर्हंत आत्माके केवलज्ञान आदि विशेषगुण हैं । अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं । परम औदारिक शरीरके आकार जो आत्माके प्रदेशोंका होना सो व्यंजन पर्याय है। अगुरु लघुगुण द्वारा छःप्रकार वृद्धि हानिरूपसे वर्तन करनेवाले अर्थ पर्याय हैं । इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायोंके आधाररूप, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध चैतन्यमई अन्वयरूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। इस तरह द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्माको पहले जान कर फिर निश्चयनयसे उसी द्रव्यगुण पर्यायको आगमका सारभूत जो अध्यात्मभाषा है उसके द्वारा अपने शुद्ध आत्माकी भावनाके सन्मुख होकर अर्थात् विकल्प सहित स्वसंवेदन ज्ञानमें परिणमन करते हुए तैसे ही आगमकी भाषासे अधःकरण, अपूर्व-

करण, अनिवृत्तिकरण नामके परिणामविशेषोंके बलसे जो विशेष भाव दर्शनमोहके क्षय करनेमें समर्थ हैं अपने आत्मामें जोड़ता है। उसके पीछे जब निर्विकल्प स्वरूपकी प्राप्ति होती है तब जैसे पर्याय रूपसे मोतीके दाने, गुणरूपसे सफेदी आदि अभेद नयसे एक हार रूप ही मालूम होते हैं वैसे पूर्वमें कहे हुए द्रव्यगुण पर्याय अभेद नयसे आत्मा ही हैं इस तरह भावना करते करते दर्शनमोहका अंधकार नष्ट होजाता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने बतलाया है कि जो कोई चतुर पुरुष अरहंत भगवानकी आत्माको पहचानता है वह अवश्य अपने आत्माको जानता है। क्योंकि निश्चयनयसे अरहंतकी आत्मा और अपनी आत्मा समान हैं। उसके जाननेकी रीति यह है कि पहले यह मनन करे। जैसे अरहंत भगवानमें सामान्य व विशेष गुण हैं वैसे ही गुण मेरे आत्मामें हैं जैसे अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय अरहंत भगवानमें हैं वैसे अर्थ पर्याय और अपने शरीरके आकार आत्माके प्रदेशोंका वर्तन रूप व्यंजन पर्याय मेरे आत्मामें हैं। जैसे अरहंत अपने गुण पर्यायोंके आधाररूप असंख्यात प्रदेशी अमूर्तीक अविनाशी अखंड द्रव्य हैं वैसे मैं चैतन्यमई अखंड द्रव्य हूं। अपने भावोंमें इस तरह पुनः पुनः विचार करते हुए अपने भाव यकायक अपने स्वरूपमें थिर होजाते हैं। अर्थात् विचारके समय सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान होता है, थिरताके समय निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान होजाता है। इस तरह वारवार अभ्यास किये जानेसे परिणामोंकी विशुद्धता बढ़ती है। इस विशुद्धताकी वृद्धिको आगममें कारणरूप परिणा-

मोंकी प्राप्ति कहते हैं जिनके लाभके विना दर्शन मोहनीय कर्मका कभी क्षय नहीं होता है। इस तरह आत्मज्ञानके प्रतापसे मोहका क्षय होजाता है। मोहके उपशम होनेका भी यही प्रकार है। जब मोहका उपशम होता है तब उपशम सम्यक्त और जब मोहका नाश होता है तब क्षायिक सम्यक्त उत्पन्न होता है। अनुभव दो तरहका है एक भेदरूप दूसरा अभेदरूप। इस हारमें इतने मोती हैं इनकी ऐसी सफेदी है व ऐसी आभा है ऐसा अनुभव भेद रूप है। जब कि एक हार मात्रका विना विकल्पके अनुभव करना अभेदरूप है। तैसे ही आत्माके गुण ऐसे हैं उसमें पर्याय ऐसी हैं इस तरह भेदरूप अनुभव है और गुण पर्यायोंका विकल्प न करके एकाकार अभेदरूप आत्मद्रव्यके सन्मुख होकर लय होना अभेदरूप अनुभव है। यहां कर्त्ता कर्म, ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं रहता है। इसीको स्वानुभव दशा कहते हैं। जब आत्मा मोह कर्मके उदयको बलात्कार छोड़ देता है और अपनेमें ही ठहर जाता है तब आश्रय रहित मोह नष्ट होजाता है। इस तरह मोहके जीतनेका उपाय है। ऐसा ही उपाय श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है:—

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यन्तः किलकोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

भाव यह है कि बुद्धिमान आत्मा यदि भूत, भविष्य, वर्तमान सर्वका ही बंधको एकदम छेद करके और मोहको बलपूर्वक

हटाके भीतर अभ्यास करता है तो उसके अंतरंगमें कर्म कलंकसे रहित अविनाशी आत्मानामा देव जिसकी महिमा एक आत्मानुभवसे ही मालूम पड़ती है प्रगट विराजमान रहा हुआ मालूम होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग या साम्यभाव आत्मज्ञानसे ही होता है इसलिये आत्मज्ञानका नित्य अभ्यास करना योग्य है ॥ ८६ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जगतमें प्रमादको उत्पन्न करनेवाला चारित्र मोह नामका चोर है ऐसा मानकर आप्त श्री अरहंत भगवानके स्वरूपके ज्ञानसे जो शुद्धात्मारूपी चिंतामणिरत्न प्राप्त हुआ है उसकी रक्षाके लिये ज्ञानी जीव जागता रहता है।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८७

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मनः सम्यक् ।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ८७ ॥

सामान्यार्थ—दर्शन मोहसे रहित जीव भले प्रकार आत्माके तत्वको जानता हुआ यदि रागद्वेषको छोड़ देवे तो वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करे।

अन्वय सहित विशेषार्थः—(ववगदमोहो जीवो) शुद्धात्म तत्वकी रुचिको रोकनेवाले दर्शन मोहको जिसने दूरकर दिया है ऐसा सम्यग्दृष्टी आत्मा (अप्पणो तच्चं सम्मं उवलद्धो) अपने ही शुद्ध आत्माके परमानंदमई एक स्वभावरूप तत्वको संशय आदिसे रहित भले प्रकार जानता हुआ (जदि रागदोसे

जहदि) यदि शुद्धात्माके अनुभवरूपी लक्षणको धरनेवाले वीत-राग चारित्रके बाधक चारित्र मोहरूपी रागद्वेषोंको छोड़ देता है (सो सुद्धं अप्पाणं लहदि) तब वह निश्चय अभेद रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाला आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त होजाता है। पूर्व ज्ञानकंठिकामें "उवओग विसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं" ऐसा कहा था यहां "जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं" ऐसा कहा है। दोनोंमें ही एक मोक्षकी बात है इनमें विशेष क्या है। इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि वहां तो शुभ या अशुभ उपयोगको निश्च-यसे समान जानकर फिर शुभसे रहित शुद्धोपयोगरूप निज आत्मस्वरूपमें ठहरकर मोक्ष पाता है इस कारणसे शुभ अशुभ सम्बन्धी मूढ़ता हटानेके लिये ज्ञानकंठिकाको कहा है। यहां तो द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा आप्त अरहंतके स्वरूपको जानकर पीछे अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपमें ठहरकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस कारणसे यहां आप्त और कंठिकाको कहा है इतना ही विशेष है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे चारित्रकी आवश्यकाको बता दिया है तथा यही भाव झलकाया है जिसको स्वामी समन्तभद्राचार्यने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके इस श्लोकमें दिखलाया है। (नोट-यह आचार्य श्री कुन्दकुन्दके पीछे हुए हैं)।

श्लोक-मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ ४७ ॥

भावार्थ–मिथ्यात्व अंधेरेके चले जानेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर तथा साथ ही सम्यग्ज्ञानका लाभ हो जानेपर साधु रागद्वेषोंको हटानेके लिये चारित्रको पालते हैं। इस गाथामें श्री कुन्दकुन्द भगवानने दिखा दिया है कि केवल आत्माकी श्रद्धा व आत्माके ज्ञानसे ही मोक्ष नहीं होगी। जबतक रागद्वेषको त्यागकर शुद्धात्माके वीतराग स्वभावका अनुभव करके चारित्र मोहनीयको नाश न किया जायगा तबतक शुद्ध आत्माका लाभरूप मोक्ष नहीं हो सक्ता है। मोक्षके चाहनेवाले जीवको पहले तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये। इसके लिये श्री अरहंत भगवानके द्रव्य गुण पर्यायोंको जानकर उसी समान अपने आत्माको निश्चय करके पुनः पुनः अरहंत भक्ति और आत्ममनन करना चाहिये जिससे दर्शन मोहनीय कर्म और उसके सहकारी अनंतानुबंधी कषायका उपशम हो जावे, क्योंकि विना इनके दबे किसी भी जीवको सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं होसक्ता है। जब तत्त्व विचारके अभ्याससे सम्यक्त मिल जावे तब सम्यग्चारित्र और सम्यग्ज्ञानकी पूर्णताके लिये प्रमाद त्यागकर पुरुषार्थ करनेकी जरूरत है। क्योंकि संसारके पदार्थ हेय हैं, निज स्वभाव उपादेय है ऐसा जाननेपर भी जबतक संसारके पदार्थोंसे रागद्वेष न छोड़ा जायगा तबतक वीतराग भावका अनुभव न होगा और विना वीतराग भावका ध्यान हुए चारित्र मोहनीय कर्मका नाश नहीं होगा। जब इस कर्मका नाश होजायगा तब यथाख्यातचारित्र प्राप्त होगा उसीके पीछे अन्य तीन घातिया कर्मोंका नाश होगा और केवलज्ञान केवलदर्शन और अनंत वीर्यकी प्राप्ति हो जायगी।

इसी उपायसे शुद्ध परमात्मा हो जायगा। यदि स्वरूपके अभ्या-समें प्रमाद करेगा तो सम्भव है कि उपशम सम्यक्तसे गिरकर मिथ्यादृष्टी हो जावे। परन्तु यदि विषय कषायोंसे सावधान रहेगा और आत्मरसका स्वाद लेता रहेगा तो उपशमसे क्षयोपशम फिर क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकर चारित्र पर आरूढ़ होकर शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष लाभ कर लेगा। तात्पर्य यह है कि अपने हितमें चतुर पुरुषको सदा जागते रहना चाहिये। जो ज्ञान श्रृद्धा-नके पीछे चारित्रको न पालकर शुद्ध होना चाहते हैं उनके लिये श्री देवसेनाचार्यने तत्वसारमें ऐसा कहा है:--

चलणरहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरुसिहरमारुहिउं।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥ १३ ॥

भावार्थ-जैसे कोई मेरु शिषर पर चढ़ना चाहे परन्तु चले नहीं, बैठा रहे तो वह कभी मेरुके शिपर पर नहीं पहुंच सक्ता है। इसी तरह जो कोई आत्मध्यान न करे और कर्मोंका क्षय चाहे तो वह साधु कभी भी कर्मोंका नाशकर मोक्ष नहीं प्राप्त कर सक्ता है। तात्पर्य यह है कि जबतक सर्वज्ञ वीतराग अव-स्थामें न पहुंचे तबतक निरन्तर आत्मस्वरूपका मननकर शुद्धो-पयोगकी भावनामें लीन रहना चाहिये ॥ ८७ ॥

उत्थानिका-आगे आचार्य अपने मनमें यह निश्चय करके वैसा ही कहते हैं कि पहले द्रव्य गुण पर्यायोंके द्वारा आप्त अरहंतके स्वरूपको जानकर पीछे उसी रूप अपने आत्मामें ठहर-कर सर्व ही अर्हंत हुए और मोक्ष गए हैं-

सव्वे वि य अरहंता, तेण विधाणेण खविद्‌कम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८८ ॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥ ८८ ॥

सामान्यार्थ-इसी रीतिसे कर्मोंका नाशकर सर्व ही अरहंत हुए-तब वैसा ही उपदेश देकर वे निर्वाणको प्राप्त हुए इसलिये उनको नमस्कार हो।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेण विधाणेण) इसी विधानसे जैसा पहले कहा है कि पूर्वमें द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा अरहंतोंके स्वरूपको जानकर फिर उसी स्वरूप अपने आत्मामें ठहरकर अर्थात् पुनः पुनः आत्मध्यान करके (खविदकम्मंसा) कर्मोंके भेदोंको क्षय करके (सव्वे वि य अरहंता) सर्व ही अरहंत हुए (तहोवदेसं किच्चा) फिर वैसा ही उपदेश करके कि अहो भव्य जीवो! यही निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्माकी प्राप्ति रूप लक्षणको धरनेवाला मोक्षमार्ग है दूसरा नहीं है (ते णिव्वादा) वे भगवान निर्वृत्त होगए अर्थात् अक्षय अनंत सुखसे तृप्त सिद्ध हो गए (तेसिं णमो) उनको नमस्कार होहु। श्रीकुन्दकुंदाचार्य देव इस तरह मोक्षमार्गका निश्चय करके अपने शुद्ध आत्माके अनुभव स्वरूप मोक्षमार्गको और उसके उपदेशक अरहंतोंको इन दोनोंके स्वरूपकी इच्छा करते हुए "नमोस्तु तेभ्यः" इस पदसे नमस्कार करते हैं-यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने अपना पक्का निश्चय प्रगट किया है कि कर्मोंको नाशकर शुद्ध मुक्त होनेका यही उपाय है कि पहले अरहंत परमात्माके द्रव्य, गुण पर्यायको समझकर निश्चय लावे फिर उसी तरहका द्रव्य अपना है ऐसा निश्चयकर अपने शुद्ध स्वरूपको अनुभव करे। इसी स्वानुभवके द्वारा कर्मोंका नाश हो जाता है, और यह ध्यानेवाला आत्मा स्वयं अरहंत परमात्मा हो जाता है। तब केवलज्ञान अवस्थामें इसी ही मोक्षमार्गका उपदेश करता है जिससे अपने आत्माकी शुद्धि की है। आयुकर्मके शेष होनेपर सर्व शरीरोंसे छूटकर सिद्ध परमात्मा होजाता है। इसी ही रूपसे पूर्वकालमें सर्व आत्माओंने मुक्तिपद पाया है। आज भी जो मोक्षमार्ग प्रगट है वह श्री महावीर भगवान अरहंत परमात्माका उपदेश किया हुआ है। उसी उपदेशसे आज भी हम मोक्षको पहचान रहे हैं। ऐसा परम उपकार समझकर आचार्यने इन अरहंतोंको पुनः पुनः नमस्कार किया है। तथा भव्य जीवोंको इस कथनसे प्रेरणा की है कि वे इसी रत्नत्रयमई मार्गका विश्वास लावें और उस मार्गके प्रकाशक अरहंतोंके भीतर परम श्रद्धा रखके उनके द्रव्य गुण पर्यायको विचारकर उनकी भक्ति करें। उन समान अपने आत्म द्रव्यको जानकर अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना करें। जो जैसी भावना करता है वह उस रूप हो जाता है। जो अरहंत परमात्माका सच्चा भक्त है और तत्त्वज्ञानी है वह अवश्य शुद्ध आत्माका लाभ कर लेता है। श्री तत्त्वानुशासनमें श्री नागसेन मुनिने कहा भी है:-

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥ १९० ॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥

भाव यह है कि यह आत्मा जिस भावसे परिणमन करता है उसी भावसे वह तन्मयी हो जाता है । श्री अरहंत भगवानके ध्यानमें लगा हुआ स्वयं उस ध्यानके निमित्तसे भावमें अरहंत रूप हो जाता है । आत्मज्ञानी जिस भावके द्वारा जिस स्वरूप अपने आत्माको ध्याता है उसी भावसे वह उसी तरह तन्मयता प्राप्त कर लेता है । जिस तरह स्फटिक पत्थरमें जैसी उपाधि लगती है उसी रूप वह परिणमन कर जाता है ।

ऐसा जान अपने ज्ञानोपयोगमें शुद्ध आत्मस्वरूपकी सदा भावना करनी चाहिये-इसी उपायसे शुद्ध आत्मस्वरूपका लाभ होगा ॥ ८८ ॥

उत्थानिका:-आगे कहते हैं कि जो पुरुष रत्नत्रयके आराधन करनेवाले हैं वे ही दान, पूजा, गुणानुवाद, प्रशंसा तथा नमस्कारके योग्य होते हैं, और को नहीं ।

दंसणसुद्धा पुरिसा, णाण पहाणा समग्गचरियत्था।
पुज्जासक्काररिहा, दाणस्स य हि ते णमो तेसिं॥८८

दर्शनशुद्धाः पुरुषाः ज्ञानप्रधानाः समग्रचारित्रस्थाः ।
पूजासत्कारयोरर्हा दानस्य च हि ते नमस्तेभ्यः ॥ ८८ ॥

सामान्यार्थ-जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं, ज्ञानमें

प्रधान हैं। तथा पूर्ण चारित्रके पालनेवाले हैं वे ही निश्चयसे पूजा सत्कारके व दानके योग्य हैं, उनको नमस्कार होहु।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(दंसणसुद्धा) अपने शुद्ध आत्माकी रुचिरूप सम्यग्दर्शनको साधनेवाले तीन मूढ़ता आदि पचीस दोष रहित तत्त्वार्थका श्रद्धानरूप लक्षणके धारी सम्यग्दर्शनसे जो शुद्ध हैं (णाणपहाणा) उपमा रहित स्वसंवेदन ज्ञानके साधक वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए परमागमके अभ्यासरूप लक्षणके धारी ज्ञानमें जो समर्थ हैं तथा (समग्गचरियत्था) विकार रहित निश्चल आत्मानुभूतिके लक्षणरूप निश्चय चारित्रके साधनेवाले आचार आदि शास्त्रमें कहे हुए मूलगुण और उत्तरगुणकी क्रियारूप चारित्रसे जो पूर्ण हैं अर्थात् पूर्ण चारित्रके पालनेवाले (पुरिसा) जो जीव हैं वे (पूजासक्काररिहा) द्रव्य व भाव रूप पूजा व गुणोंकी प्रशंसारूप सत्कारके योग्य हैं, (दाणस्स य हि) तथा प्रगटपने दानके योग्य हैं। (णमो तेसिं) उन पूर्वमें कहे हुए रत्नत्रयके धारियोंको नमस्कार हो क्योंकि वे ही नमस्कारके योग्य हैं।

भावार्थः–आचार्यने इससे पहलेकी गाथामें सच्चे आप्तको नमस्कार करके यहां सच्चे गुरुको नमस्कार किया है। इस गाथामें बता दिया है कि जो साधु निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके धारी हैं उनहीको अष्ट द्रव्यसे भाव सहित पूजना चाहिये, व उनहीकी प्रशंसा करनी चाहिये। उनहीका पूर्ण आदर करना चाहिये तथा उनहीको दान देना चाहिये व उनहीको नमस्कार करना चाहिये। प्रयोजन यह है कि उच्च आदर्श ही

हमारा हितकारी होसक्ता है। उनहीका भाव व आचरण हम उपासकोंको उन रूप वर्तन करनेकी योग्यताकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्षका मार्ग है। निश्चय नयसे शुद्ध आत्माकी रुचि सम्यक्त है। स्वसंवेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तथा शुद्ध आत्मामें तन्मयता सम्यग्चारित्र है। इनहीके साधने वाले व्यवहार रत्नत्रय हैं—पचीस दोष रहित तत्वार्थका श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ वीतरागकी परम्परासे लिखित शास्त्रोंका अभ्यास व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। अट्ठाईस मूलगुण और उसके उत्तर गुणोंको पालना व्यवहार सम्यग्चारित्र है—निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके धारी निर्ग्रंथ साधु ही मोक्षमार्गपर स्वयं चलते हुए भव्यजनोंको साक्षात मोक्षका मार्ग दिखानेवाले होते हैं। जैन गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य है कि ऐसे साधुओंकी सेवा करें व साधुपद धारनेकी चेष्टामें उत्साही रहें। यहां भी तात्पर्य यही है कि शुद्धोपयोग व साम्यभाव ही उपादेय है। इसीके कारण ही साधुजन पूजनीय होते हैं।

तत्वज्ञानी गुरुसे परम लाभ होता है वे ही पूज्यनीय हैं ऐसा श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमें कहा है:—

> ज्ञानदर्शलक्ष्मं स्वात्म तत्वं समन्ता-
> द्वलमपि निबद्धे देहिभिर्नोपलक्ष्यम्।
> तदपि गुरुवचोभिर्बोध्यते तेन देवो
> गुरुरधिगततत्त्वस्तत्त्वतः पूजनीयः ॥ ६० ॥

भाव यह है कि ज्ञानदर्शन लक्षणधारी अपना आत्मतत्त्व सब तरहसे अपनी देहमें प्राप्त है तथापि देहधारी उसको नहीं

पहचानते हैं तो भी वह आत्मतत्त्व गुरुके वचनोंके द्वारा जाना जाता है इसलिये तत्त्वज्ञानी गुरुदेव निश्चयसे पूजने योग्य हैं।

इस तरह आप्त और आत्माके स्वरूपमें मूढ़ता या अज्ञानताको दूर करनेके लिये सात गाथाओंसे दूसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण की ॥ ८९ ॥

उत्थानिका–आगे शुद्ध आत्माके लाभके विरोधी मोहके स्वरूप और भेदोंको कहते हैं–

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो, पप्पा रागं व दोसं वा ॥९०॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा दोषं वा ॥ ९० ॥

सामान्यार्थ–शुद्ध आत्मा आदि द्रव्योंके सम्बन्धमें जो अज्ञान भाव है वह जीवके मोह है ऐसा कहा जाता है। इस मोहसे ढका हुआ प्राणी राग या द्वेषको प्राप्त होकर आकुलित होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः–(दव्वादिएसु) शुद्ध आत्मा आदि द्रव्योंमें उन द्रव्योंके अनन्त ज्ञानादि व अस्तित्व आदि विशेष और सामान्य गुणोंमें तथा शुद्ध आत्माकी परिणतिरूप सिद्धत्व आदि पर्यायोंमें जिनका यथासंभव पहले वर्णन होचुका है व जिनका आगामी वर्णन किया जायगा इन सब द्रव्य गुण पर्यायोंमें विपरीत अभिप्राय रखके (मूढो भावो) तत्वोंमें संशयको उत्पन्न करनेवाला अज्ञानभाव (जीवस्स मोहोत्ति हवदि) इस संसारी जीवके दर्शन मोह है (तेणोच्छण्णो) इस दर्शन मोहसे आच्छा-

दित हुआ यह जीव (रागं व दोसं वा पप्या) विकार रहित शुद्धात्मासे विपरीत इष्ट अनिष्ट इंद्रियोंके विषयोंमें हर्ष विषाद रूप चारित्र मोहनीय नामके रागद्वेष भावको पाकर (खुब्भदि) क्षोभ रहित आत्मतत्वसे विपरीत क्षोभके कारण अपने स्वरूपसे चलकर उल्टा वर्तन करता है। इस कथनसे यह बतलाया गया कि दर्शन मोहका एक और चारित्र मोहके भेद रागद्वेष दो इन तीन भेदरूप मोह है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने संसारके कारण भावको प्रगट किया है। संसारका कारण कर्मबंध है। सो कर्मबंध मोहके द्वारा होता है। मोहके मूल दो भेद हैं। दर्शन मोह और चारित्र मोह। श्रद्धानमें उल्टे व संशयरूप व बेविचाररूप भावको दर्शन मोह कहते हैं। यह जीव आत्मा और अनात्मा द्रव्योंमें व उनके गुणोंमें व उनकी स्वाभाविक तथा वैभाविक पर्यायोंमें जो संशय रूप व अन्यथा व अज्ञानरूप भाव रखता है, वही दर्शन मोह है। इस मोहके कारण वस्तु कुछकी कुछ मालूम होती है। श्री सर्वज्ञ वीतराग अरहंतने जैसा जीव और अजीवका स्वरूप बताया है वैसा श्रद्धानमें न आना दर्शन मोह है। भगवानने सच्चा सुख आत्माका स्वभाव बताया है इसको न विश्वासकर मोहसे मैला प्राणी इंद्रियोंके द्वारा भोगे जानेवाले सुखको सच्चा सुख मान बैठता है। इस ही झूठी मानन्के कारण अपनी रुचिसे जिन इष्ट पदार्थोंसे सुख कल्पना करता है उनमें राग और जिनसे दुःख कल्पना करता है, उनमें द्वेष कर लेता है। इस रागद्वेषको चारित्र मोह कहते हैं। रागद्वेष चार तरहका होता है। एक

अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी जो बहुत गाढ़ होता है व जिसकी वासना अनन्त कालतक चली जासक्ती है व जो मिथ्यात्वको बुलानेवाला व मिथ्यात्वको सहायक है। इस तरहके रागद्वेषमें पड़कर संसारी जीव रातदिन विषयोंके दास बने रहते हैं, इनका प्रत्येक शरीरका सर्व समय इष्ट पदार्थोंके सम्बन्ध मिलानेमें, अनिष्ट पदार्थोंके सम्बन्ध हटानेमें व इष्ट पदार्थोंके वियोग होनेपर दुःख करनेमें व नाना तरहके परको दुःखदाई अशुभ कर्मोंके विचार व आचरणमें बीतता है जिससे ऐसे मोही जीव दर्शनमोहके प्रभावसे रात दिन आकुलतासे पूर्ण रहते हुए कभी भी सुख शांतिके भावको नहीं पाते हैं। संसारके मूल कारण यही रागद्वेष मोह हैं।

इनहीसे क्षुभित जीव अनादि कालसे संसारमें जन्म मरण करता है तथा जबतक दर्शन मोहको दूर न करे तबतक बराबर चाहे अनन्तकाल होजावे जन्म मरण करता रहेगा।

दूसरा भेद रागद्वेषका वह है जो इस जीवको विषयोंसे श्रद्धा व रुचिकी अपेक्षा मूर्छित नहीं करता है किन्तु दर्शन मोहके बल विना रुचि न होते हुए भी विषयोंकी चाह पैदा करता है जिससे यह जानते हुए भी कि विषयोंमें सुख नहीं है ऐसी निर्बलता भावोंमें रहती है कि इष्ट पदार्थोंमें राग व अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष कर लेता है। इसकी वासना छः माससे अधिक नहीं रहती है, दर्शन मोह रहित सम्यग्दृष्टी जीवमें धर्ममें आस्तिक्य, जीवोंपर करुणा, कषायोंकी मंदतासे प्रशमभाव, तथा संसारसे वैराग्यरूप संवेग भाव वर्तन करता है जिससे यह जीव यथासंभव अन्यायोंसे बचनेका व परको पीड़ितकर अपने स्वार्थ साधनका बचाव

रखनेका उद्यम करता है। ऐसे जीवको अविरत सम्यग्दृष्टी कहते हैं। तथा इस रागद्वेषको अप्रत्यख्यानावरणीय रागद्वेष कहते हैं। इस भेदके कारण यह जीव श्रावकके व्रतोंके नियमोंको नहीं धारण कर सक्ता है। तीसरा भेद रागद्वेषका वह है कि जिसके कारण संसारसे छूटनेका भाव कार्यमें परिणति होने लगता है और यह सम्यग्दृष्टी जीव बड़े उत्साहसे श्रावकके व्रतोंको धारता हुआ त्याग करता चला जाता है। विषयोंके भोगमें अति उदासीन होता हुआ क्रमसे घटाता हुआ व परिग्रहको भी कम करता हुआ पहली दर्शन प्रतिमासे बढ़ता हुआ ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक बढ़ जाता है जहांपर परिग्रहमें मात्र एक लंगोटी होती है और आचरण मुनि मार्गकी तरफ झुकता हुआ है। इस भेदको प्रत्याख्यानावरणीय रागद्वेष कहते हैं। इसकी वासना पंद्रह दिनसे अधिक नहीं रहती है इसके बलसे मुनिव्रत नहीं होते हैं। जब यह नहीं रहता है तब मुनिव्रत होता है। चौथा भेद रागद्वेषका वह है जो संयमको घात नहीं करता है किन्तु वीतराग चारित्रके होनेमें मलीनता करता है। जब यह हट जाता है तब साधु वीतरागी तथा आत्माके आनन्दमें लीन हो जाता है। इस भेदको संज्वलन रागद्वेष कहते हैं। इसकी वासना अंतर्मुहूर्त मात्र है। जहां पहला भेद है वहां अन्य तीनों भी साथ साथ हैं। पहला भेद मिटनेपर तीन, दो मिटनेपर शेष दो, तीनों भेद मिटनेपर चौथा ही भेद रहता है। चारों ही प्रकारके रागद्वेषोंके दूर हुए विना यह आत्मा पूर्ण अक्षुभित व निराकुल नहीं होता है। तथापि जो २ भेद मिटता जाता है उतनी उतनी निराकुलता होती जाती

है। इस रागद्वेषमें चार कषाय और नौ नोकषाय गर्भित हैं।

लोभ, माया कषाय और हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये पांच नोकषाय ऐसे ७ चारित्रमोहके भेदोंको राग तथा क्रोध, मान, कषाय और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चार नोकषाय ऐसे ६ चारित्र मोहके भेदोंको द्वेष कहते हैं। इन्हीं रागद्वेषके चार भेद समझनेसे तेरह प्रकारके भेद अनन्तानुबन्धी, आदि चार भेदरूप फैलनेसे ५२ बावन प्रकारके भाव होसक्ते हैं। यद्यपि सिद्धांतमें कषायरूप चारित्र मोहनीयके २५ पचीस भेद कहे हैं तथापि चार कषायके सोलह भेद जैसे सिद्धांतमें कहे हैं, उनको लेकर और नौ नोकषाय भी इन १६ कषायोंकी सहायता पाकर काम करते हैं इसलिये इनके भी छत्तीस भेद होजाते हैं। इस तरह बावन भेद जानने चाहिये। दर्शनमोहके भी तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। जो सर्वथा श्रद्धान बिगाड़े वह मिथ्यात्व है, जो सच्चे झूठे श्रद्धानको मिश्र रूप रक्खे वह मिश्र है। जो सच्चे श्रद्धानमें मल या अतीचार लगावे वह सम्यक्त प्रकृति है। इस तरह मोहके सब पचपन भेद होसक्ते हैं।

इस मोहको आत्माका विरोधी, सुख शांतिका नाशक समताका घातक व संसारचक्रमें भ्रमण करनेवाला जानकर मुमुक्षु जीवको उचित है कि वह निज आत्माके अपने ही शुद्धोपयोग रूप साम्यभावको उपादेय मान उसीके लिये पुरुषार्थ करे। संसारमें दुःखी करनेवाला एक मोह है जैसा श्री योगीन्द्रदेवने अमृताशीतिमें कहा है:—

अज्ञाननामतिमिरप्रसरोयमन्तः
सन्दर्शिताखिलपदार्थविपर्ययात्मा–
मंत्री स मोहनृपतेः स्फुरतीह याव–
त्तावत्कुतस्तव शिवं तदुपायता वा ॥१४॥

भावार्थ–यह है कि मोह राजाका मंत्री जो अज्ञान नामके अन्धकारका फैलाव जिससे अंतरंगमें सम्पूर्ण पदार्थोंका उल्टा स्वरूप मालूम पड़ता है, जब तक अंतरंगमें प्रगट रहता है तब तक हे आत्मान् ! कहां तेरे मोक्ष है और कहां तेरे इस मोक्षका उपाय है । श्री कुलभद्र आचार्यने श्री सारसमुच्चयमें भी इस भांति कहा है:—

कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः ।
चतुर्गतिभवाम्भोधौ भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३१ ॥
कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम् ।
तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम् ॥ ३२ ॥
कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम् ।
संसारबीजतां याति विमुक्तं मोक्षबीजताम् ॥ ३३ ॥

भाव यह है कि जो जीव कषायोंसे मैला है व जिसका मन रागसे रंगीला है वह टूटी हुई नौकाके समान चार गतिरूप संसार समुद्रमें कष्ट उठाता है । कषायके आधीन जीव भयानक कर्मोंको बांधता है । जिससे यह करोड़ों जन्मोंमें भयानक दुःखको हो भेद रह यह आत्मा पूर्ण अक्षुभित ...थ्यात्व सहित है व कषाय विषयोंसे पूर्ण जो २ भेद मिटता जाता है और जो चित्त इन मिथ्यात्व व विषय ...यके बीजपनेको प्राप्त होता है । ऐसा

जान मोहसे उदास हो निर्मोह शुद्ध आत्मा ही के सन्मुख होना चाहिये। ॥ ९० ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य यह घोषणा करते हैं कि इन राग द्वेष मोहोंको जो संसारके दुःखोंके कारणरूप कर्मबंधके कारण हैं, निर्मूल करना चाहिये।

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥९१॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षयितव्याः॥ ९२ ॥

सामान्यार्थ—मोह तथा राग द्वेषसे परिणमन करनेवाले आत्माके नाना प्रकार कर्म बंध होता है इसलिये इनका क्षय करना योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स) मोह राग द्वेषमें वर्तनेवाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीवके जो मोहादि रहित परमात्माके स्वरूपमें परणमन करनेसे दूर है (विविहो बंधो जायदि) नाना प्रकार कर्मोंका बंध उत्पन्न होता है अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणको रखनेवाला भाव मोक्ष है। उस भावमोक्षके बलसे जीवके प्रदेशोंसे कर्मोंके प्रदेशोंका बिलकुल अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है। इस प्रकार द्रव्य भाव मोक्षसे विलक्षण तथा सब तरहसे ग्रहण करने योग्य स्वाभाविक सुखसे विपरीत जो नरक आदिका दुःख उसको उदयमें लानेवाला कर्म बंध होता है (तम्हा ते संखवइदव्वा) इसलिये जब राग द्वेष

मोहमें वर्तनेवाले जीवके इस तरहका कर्म बंध होता है तब रागादिसे रहित शुद्ध आत्मध्यानके बलसे इन रागद्वेष मोहोंका भले प्रकार क्षय करना योग्य है यह तात्पर्य्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने यह प्रेरणा की है कि आत्माके हित चाहनेवाले पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे आत्माको उन कर्मोंके बंधनोंसे छुड़ावें जिनके कारण वह आत्मा चार गतियोंमें भ्रमण करते हुए अनेक दुःखोंको भोगता है और निराकुल होकर अपनी सुख शांतिका लाभ सदाके लिये नहीं कर सक्ता है। क्योंकि नाना प्रकारके कर्मोंका बंधन इस अशुद्ध आत्माके उसके अशुद्ध भावोंसे होता है जिन भावोंको मोह, राग व द्वेष कहते हैं, इस लिये इन भावोंके कारण जो पूर्वबद्ध दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय कर्म्म हैं उनको जड़ मूलसे आत्माके प्रदेशोंसे दूर करके निकाल देना चाहिये जब कारण नहीं रहेगा तब उसका कार्य्य नहीं रहेगा। यहां इतना समझ लेना चाहिये कि आठों ही प्रकारके कर्मोंके बंधनके कारण ये रागद्वेष मोह हैं। जिन जीवोंने उनका क्षय कर दिया है ऐसे क्षीण मोही साधुके कर्मोंका बंध नहीं होता है, केवल योगोंके कारण ईर्य्यापथ आश्रव होता है जो चिकनई रहित शरीरपर धूल पड़नेके समान है, चिपटता नहीं है। इनके क्षय करनेका उपाय सूक्ष्मतासे जाननेके लिये श्री क्षपणासार ग्रन्थका मनन करना चाहिये। यहां इतना मात्र कहा जाता है कि पहले दर्शन मोहको और उसके सहकारी अनंतानुबंधी सम्बन्धी रागद्वेषको नाशकर क्षायिक सम्यग्दर्शनका लाभ करना चाहिये फिर श्रावक तथा साधुके आचरणको पालकर तथा शुद्धो-

पयोगकी भावना व उसका ध्यान करके सर्व रागद्वेष सम्बन्धी कर्म प्रकृतियोंको क्षय कर देना चाहिये। इन रागद्वेष मोहके क्षय करनेका उपाय आत्माका ज्ञान और वीर्य्य है। इसलिये मनसहित विचारवान जीवका कर्तव्य है कि वह जिनवाणीका अभ्यास करके आत्मा और अनात्माके भेदको समझले। आत्माके द्रव्यगुण पर्याय आत्मामें और अनात्माके द्रव्य गुण पर्याय अनात्मामें जाने। यद्यपि अपना आत्मा कर्म पुद्गलरूप अनात्माके साथ दूध पानीकी तरह मिला हुआ है तथापि हंस जैसे दूध पानीको अलग २ करनेकी शक्ति रखता है वैसे तत्वज्ञानीको इन आत्मा और अनात्माके लक्षणोंको अलग अलग जानकर इनको अलग अलग करनेकी शक्ति अपनेमें पैदा करनी चाहिये। इस ज्ञानको भेद विज्ञान कहते हैं। इस भेद विज्ञानके बलसे अपना आत्मवीर्य्य लगाकर भावको मोहके प्रपंच जालोंसे हटाकर शुद्ध आत्माके स्वरूपके मननमें लगा देना चाहिये। ज्यों २ आत्माकी तरफ झुकेगा मोहनीय कर्म शिथिल पड़ेगा। बारबार अभ्यास करते रहनेसे एक समय यकायक सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंका उपशम हो जायगा। फिर भी इसी शुद्ध आत्माके मननके अभ्यासको जारी रखनेसे सम्यक्तके बाधक कर्मोंका जड़मूलसे क्षय होजायगा तब अविनाशी क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जायगा। फिर भी उसी शुद्ध आत्माका मनन ध्यान या अनुभव करते रहना चाहिये। इसीके प्रतापसे गुणस्थानोंके क्रमसे चढ़ता हुआ एक दिन क्षपक श्रेणीके मार्गपर आरूढ होकर सर्व मोहनीय कर्मका क्षय कर वीतरागी निर्ग्रंथ साधु हो जायगा। तात्पर्य यह है इन राग द्वेष मोहोंके

नाशका उपाय निज आत्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान तथा अनुभव-रूप चारित्र है। निश्चय रत्नत्रय रूप आत्मा ही आपकी मुक्तिका कारण है, इसलिये मोक्षार्थी पुरुषका कर्तव्य है कि वह आत्म पुरुषार्थ करके इन संसारके कारणीभूत राग द्वेष मोहका नाश करे। जिससे यह आत्मा संसारके दुःखोंसे छूटकर निराकुल अतीन्द्रिय आनन्दका भोगनेवाला सदाके लिये हो जावे।

श्री अमितिगति आचार्यने अपने वृहत् सामायिकपाठमें कहा है:—

अभ्यास्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रिया।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मनः॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते।
ते गच्छंति शिवालयं विकलिला लब्ध्वा समाधिं बुधाः॥३८

भाव यह है कि जिन्होंने इंद्रिय विषय और कषाय रूपी वैरियोंका विजय कर लिया है, लौकिक क्रियाओंको रोक दिया है, तथा अपने मनको अपने आधीन करके बाहरी भीतरी परिग्रहके लेश मात्रसे भी अपनेको विमुख कर लिया है और जो संसार शरीर भोग सम्बन्धी श्रेष्ठ वैराग्यको धरनेवाले हैं वे ही बुद्धिमान समाधिभावको पाकर तथा शरीर रहित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

श्री गुणभद्राचार्यने अपने ग्रन्थ आत्मानुशासनमें कहा है—

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा।
परिणमितसमाधिः सर्वसत्वानुकम्पी॥
विहित हितमिताशी क्लेशजालं समूलं।
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥२२५॥

भावार्थ-जो साधु यम नियममें लीन हैं, अंतरंग बहिरंग शांत हैं, आत्म समाधिमें वर्तनेवाले हैं, सर्व जीवोंपर दयालु हैं, हितकारी मर्यादा रूप आहार करनेवाले हैं, निद्राके जीतनेवाले हैं तथा शुद्ध आत्माके स्वरूपको निश्चय किये हुए हैं वे ही सर्व दुःखोंके समूहको जड़मूलसे जला देते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस तरह बने अपने आत्माकी भावना करके राग द्वेष मोहका क्षय कर देना चाहिये ॥९१॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि राग द्वेष मोहोंको उनके चिन्होंसे पहचानकर यथासंभव उनहीका विनाश करना चाहिये।

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसयेसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥९२॥

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुष्येषु।
विषयेषु च प्रसंगो मोहस्यैतानि लिंगानि ॥९२॥

सामान्यार्थ-पदार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ नहीं समझना, तिर्यंच या मनुष्योंमें राग सहित दया भाव और विषयोंमें विशेष लीनता ये मोहके चिन्ह हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(अट्ठे अजधागहणं) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थोंके स्वरूपमें उनका जैसा स्वभाव है उस स्वभावमें उनको रहते हुए भी विपरीत अभिप्रायसे औरका और अन्यथा समझना तथा (तिरियमणुएसु) मनुष्य या तीर्यच जीवोंमें (करुणाभावो य) शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप परम उपेक्षा संयमसे विपरीत दयाका परिणाम अथवा व्यवहारसे उनमें दयाका अभाव होना दर्शन मोहके चिन्ह हैं (विसएसु अप्पसंगो) विषय रहित सुखके

स्वादको न पानेवाले बहिरात्मा जीवोंका इष्ट अनिष्ट इंद्रियोंके विषयोंमें जो अधिक संसर्ग रखना क्योंकि इनको देखकर विवेकी पुरुष प्रीति अप्रीतिरूप चारित्र मोहके राग द्वेष भेदको जानते हैं इसलिये (मोहस्सेदाणि लिंगाणि) मोहके ये ही चिन्ह हैं। अर्थात् इन चिन्होंको जाननेके पीछे ही विकार रहित अपने शुद्ध आत्माकी भावनाके द्वारा इन राग द्वेष मोहका घात करना चाहिये ऐसा सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने राग द्वेष मोहके चिन्ह बताये हैं जगतमें चेतन अचेतन पदार्थ हैं उनका स्वभाव क्या है तथा उनमें एक दूसरेके निमित्तसे क्या अवस्थाएं होती हैं, यदि निमित्त उनके विभावरूप परिणमनका न हो और वे स्वभावरूप परिणमन करें तो वे कैसे परिणमन करते हैं। इत्यादि जगतके पदार्थोंका जैसा कुछ स्वरूप है उसको वैसा न श्रद्धान कर औरका और श्रद्धान करना यह दर्शन मोह अर्थात् मिथ्यात्वका बड़ा प्रबल चिन्ह है। यह मिथ्यादृष्टी जीव परमात्मा संसारी आत्मा, पुण्य पाप आदिका स्वरूप ठीक ठीक नहीं जानता है। कुछका कुछ कहता है यही मिथ्यात्वका चिन्ह है। दूसरा चिन्ह यह है कि वह अपने स्वार्थवश जिन मनुष्योंसे व पशुओंसे अपना प्रयोजन निकलता हुआ जानता है उनमें अतिशय राग या ममत्व या दयाभाव करता है तथा दूसरा भाव यह है कि उसके भीतर तिर्यञ्च और मनुष्योंपर दयाभाव नहीं होता है। वह अपने मतलबके लिये उनको बहुत कष्ट देता है। अन्यायसे वर्तनकर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रहकी तृष्णाकर

मनुष्य और पशुओंको बहुत सताता है, अपने खानपान व्यवहारमें दयाभावसे वर्तन नहीं करता है। दूसरे प्राणी सर्वथा नष्ट होजावें तो भी अपने विषय कषाय पुष्ट करता है।

राग द्वेषके चिन्ह यह हैं कि इंद्रियोंके मनोज्ञ पदार्थोंमें अतिशय प्रीति करना तथा जो पदार्थ अपनेको नहीं रुचते हैं उनमें द्वेष करना। जहां थोड़ा भी पर पदार्थ पर राग या द्वेष है वहां चारित्र मोहनीयका चिन्ह प्रगट होता है। राग या द्वेषके वशीभूत हो अपने प्रीति भाजनोंपर यह प्राणी तरह२ का उपकार करता है और जिनपर द्वेष रखता है उनका हर तरह बिगाड़ करता है। जहां उपकारी पर प्रेम व अपकारी पर अप्रेम है वहां राग द्वेष है। जहां उपकारी पर राग व अपकारी पर द्वेष नहीं वहीं वीतरागभाव है। इन चिन्होंको बतानेका प्रयोजन यही है कि जो जीव सुख शांति प्राप्त करना चाहते हैं उनको उचित है कि वे इन तीनोंको छोड़नेका उपाय करें और वह उपाय एक साम्यभाव या शुद्धोपयोगका अभ्यास है। इसलिये अपने शुद्ध आत्माकी भावनाका अभ्यास करके इस साम्यभावके लाभसे राग द्वेष मोहको क्षय करना चाहिये।

श्री योगीन्द्रदेवने अमृताशीतिमें मोक्ष लाभके लिये नीचे प्रमाण बहुत अच्छा उपदेश दिया है—

> बहिरबहिरसारे दुःखभारे शरीरे।
> क्षयिणि पत रमन्ते मोहिनोऽस्मिन् वराकाः॥
> इति यदि तव बुद्धिर्निर्विकल्पस्वरूपे।
> भव भवसि भवान्तस्थायि धामाधिपस्त्वम्॥ ६९॥

भावार्थ—अत्यन्त आत्मासे भिन्न इस असार नाशवंत, तथा दुःखोंके बोझसे भारी शरीरमें जो विचारे मोही जीव हैं वे ही रमण करते हैं यह बड़े खेदकी बात है। हे भाई, यदि तेरी बुद्धि आत्माके विकल्प रहित शुद्ध स्वभावमें ठहर जावे तो तू संसारके अन्तको पाकर अविनाशी मोक्ष धामका स्वामी हो जावे।

तात्पर्य्य यह है कि मोहके नाशके लिये निज आत्माका मनन ही कार्यकारी है।

और भी वही कहा है:—

इदमिदमतिरम्यं नेदमित्यादिभेदा-
द्विदधाति पदमेते रागरोषादयस्ते ॥
तदलमलमेकं निष्कलं निष्क्रियस्त्वं ।
भज भजसि समाधेः सत्फलं येन नित्यम् ॥ ६६ ॥

भाव यह है कि यह चीज अति रमणीक है, यह चीज रमणीक नहीं हैं इत्यादि भेद करके ये राग द्वेषादि अपना पद स्थापन करते हैं इससे कुछ कार्यकी सिद्धि नहीं होती इसलिये सर्व क्रियाकांडोंसे निवृत्त होकर शरीर रहित तथा निर्मल एक आत्माको भजन करो, इससे तू समाधिका अविनाशी सच्चा फल भोगेगा। यहां इतना और जानना चाहिये कि गाथामें जो करुणाभाव शब्द है व जिसका दूसरा अर्थ वृत्तिकारने दयाका अभाव किया है, हमारी सम्मतिमें मूलकर्त्ताका यही भाव ठीक मालूम होता है कि जो मिथ्यादृष्टी होता है उसका लक्षण अनुकम्पाका अभाव है। क्योंकि सम्यग्दृष्टीके चार चिन्ह शास्त्रमें कहे हैं अर्थात् प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। ये ही

चार लक्षण मिथ्यादृष्टीमें नहीं होते इसीका संकेत आचार्यने गाथामें किया है ऐसा झलकता है। और यह बात बहुत ही ठीक मालूम पड़ती है, क्योंकि मिथ्यादृष्टीके चित्तमें आत्माका श्रद्धान न होनेसे केवल अपने स्वार्थका ही ध्यान होता है। इसलिये उसके चित्तमें न दयाभाव सच्चा होता है, न दयारूप वर्तन होता है।

वास्तवमें सम्यक्तभाव ही कार्यकारी है यही सर्व गुणोंका बीज है ॥ ९२ ॥

उत्थानिका-आगे यह पहले कह चुके हैं कि द्रव्य, गुण पर्यायका ज्ञान न होनेसे मोह रहता है इसी लिये अब आचार्य आगमके अभ्यासकी प्रेरणा करते हैं अथवा यह पहले कहा था कि द्रव्यपने, गुणपने व पर्यायपनेके द्वारा अरहंत भगवानका स्वरूप जाननेसे आत्माका ज्ञान होता है। ऐसे आत्मज्ञानके लिये आगमके अभ्यासकी अपेक्षा है इस प्रकार दोनों पातनिकाओंको मनमें धरकर आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं-

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥९३॥

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात्।
क्षीयते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम् ॥ ९३ ॥

सामान्यार्थ-जिन शास्त्रके द्वारा पदार्थोंको प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाननेवाले पुरुषके नियमसे मोहका समूह नष्ट होजाता है इसलिये शास्त्रको अच्छी तरह पढ़ना योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जिणसत्थादो) जिन शास्त्रकी निकटतासे (अट्ठे) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थोंको (पच्चक्खादीहिं) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा (बुज्झदो) जाननेवाले जीवके (णियमा) नियमसे (मोहोवचयो) मिथ्या अभिप्रायके संस्कारको करनेवाला मोहका समूह (खीयदि) क्षय होजता है (तम्हा) इसलिये (सत्थं समधिदव्वं) शास्त्रको अच्छी तरह पढ़ना चाहिये विशेष यह है कि कोई भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए शास्त्रसे " एगो मे सस्सदो अप्पा" इत्यादि परमात्माके उपदेशक श्रुतज्ञानके द्वारा प्रथम ही अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, फिर विशेष अभ्यासके वशसे परम समाधिके कालमें रागादि विकल्पोंसे रहित मानस प्रत्यक्षसे उस ही आत्माका अनुभव करता है। तैसे ही अनुमानसे भी निश्चय करता है। जैसे इस ही देहमें निश्चय नयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है क्योंकि विकार रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वह इस ही तरह जाना जाता है जिस तरह सुख दुःख आदि। तैसे ही अन्य भी पदार्थ यथासंभव आगमसे व अभ्याससे उत्पन्न प्रत्यक्षसे वा अनुमानसे जाने जासक्ते हैं। इसलिये मोक्षके अर्थी पुरुषको आगमका अभ्यास करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

भावार्थ-यहां आचार्यने अनादि मोहके क्षयका परम्परा अत्यन्त आवश्यक उपाय जिनवाणीका अभ्यास बताया है। जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान हुए विना उनका श्रद्धान नहीं हो सक्ता, श्रद्धान विना मनन नहीं होसक्ता, मनन विना दृढ़ संस्कार नहीं हो सक्ता, दृढ़ संस्कारके विना स्वात्माका अनुभव नहीं हो

सक्ता, स्वात्माके अनुभव विना सम्यक्त नहीं हो सक्ता। सम्यक्त और स्वात्मानुभव होनेका एक ही काल है। जब यह शक्ति प्रगट हो जाती है तब ही दर्शनमोहनीय उपशम होती है।

सर्वज्ञ वीतराग पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतरागी होनेके कारण अर्हंत अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्थामें शरीर सहित होनेके कारण ही उपदेश दे सक्ते हैं। उनका उपदेश यथार्थ पदार्थोंका प्रगट करनेवाला होता है, उस ही उपदेशको गणधर आदि महाबुद्धिशाली आचार्य धारणामें रखते हैं और उनके द्वारा अन्य ऋषिगण जानते हैं। उनहीकी परम्परासे चला आया हुआ वह उपदेश है जो श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पुज्यपाद आदि आचार्योंके रचित ग्रन्थोंमें मौजूद है। इसलिये जिनवाणीमें प्रसिद्ध चारों ही अनुयोगोंका कथन हरएक मुमुक्षुको जानना चाहिये। जितना अधिक शास्त्रज्ञान होगा उतना अधिक स्पष्ट ज्ञान होगा। जितना स्पष्ट ज्ञान होगा उतना ही निर्मल मनन होगा। प्रथमानुयोगमें पुज्य पुरुषोंके जीवनचरित्र उदाहरण रूपसे कर्मोंके प्रपंचको व संसार या मोक्षमार्गको दिखलाते हैं। करणानुयोगमें जीवोंके भावोंके वर्तनकी अवस्थाओंको व कर्मोंकी रचनाको व लोकके स्वरूपको इत्यादि तारतम्य कथनको किया गया है। चरणानुयोगमें मुनि तथा श्रावकके चारित्रके भेदोंको बताकर व्यवहारचारित्रपर आरूढ़ किया गया है। द्रव्यानुयोगमें छः द्रव्योंका स्वरूप बताकर आत्मा द्रव्यके मनन, भजन व ध्यानका उपाय बताकर निश्चय रत्नत्रयके पथको दर्शाया गया है। इन चारों ही प्रकारके सैकड़ों व हजारों ग्रन्थ जिनवाणीमें हैं–इनका

अभ्यास सदा ही उपयोगी है। सम्यक्त होनेके पीछे सम्यग्चारित्रकी पूर्णता व सम्यग्ज्ञानकी पूर्णताके लिये भी जिनवाणीका अभ्यास कार्यकारी है। इस पंचमकालमें तो इसका आलम्बन हरएक मुमुक्षुके लिये बहुत ही आवश्यक है क्योंकि यथार्थ उपदेष्टाओंका सम्बन्ध बहुत दुर्लभ है। जिनवाणीके पढ़ते रहनेसे एक मूढ़ मनुष्य भी ज्ञानी हो जाता है। आत्महितके लिये यह अभ्यास परम उपयोगी है। स्वाध्यायके द्वारा आत्मामें ज्ञान प्रगट होता है, कषायभाव घटता है, संसारसे ममत्व हटता है, मोक्ष भावसे प्रेम जगता है। इसीके निरंतर अभ्याससे मिथ्यात्वकर्म और अनंतानुबन्धी कषायका उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। श्री अमृतचंद्र आचार्यने श्री समयसार कलशमें कहा है:-

> उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यादू पदांके:-
> जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
> सपदि समयसारं ते परमज्योतिरुच्चै-
> रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

भावार्थ-निश्चयनय और व्यवहारनयके विरोधको मेटनेवाली स्याद्वादसे लक्षित जिनवाणीमें जो रमते हैं वे स्वयं मोहको वमनकर शीघ्र ही परमज्ञानज्योतिमय शुद्धात्माको जो नया नहीं है और न किसी नयकी पक्षसे खंडन किया जा सक्ता है देखते ही हैं।

यह स्वाध्याय श्रावक धर्म और मुनि धर्मके पालनमें भी उपकारी है। मनको अपने आधीन रखनेमें सहाई है।

श्री गुणभद्राचार्य अपने आत्मानुशासनमें इस भांति कहते हैं—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते।
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते॥
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमति मूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम्॥ १७०॥

भावार्थ—बुद्धिमान पुरुष अपने मनरूपी बन्दरको प्रतिदिन शास्त्ररूपी वृक्षके स्कंधमें रमावै, जिस वृक्षकी जड़ सम्यक् व गाढ़ बुद्धि है, जो नाना नयरूपी सैकड़ों शाखाओंसे ऊंचा है, जिसमें वाक्यरूपी पत्ते हैं व जो अनेक धर्मरूप पदार्थोंके बड़े २ फलोंके भारसे नम्र है।

ऐसा जानकर जब आत्मामें शुद्धोपयोगकी भावना यों ही न होसके तब शास्त्रोंके स्वाध्यायके द्वारा भावको निर्मल करते रहना चाहिये। यह शास्त्रका अभ्यास मोक्ष मार्गकी प्राप्तिके लिये एक प्रबल सहकारी कारण है॥ ९३॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य, गुण पर्यायोंको अर्थसंज्ञा है ऐसा कहते हैं:—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो॥ ९४॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः॥ ९४॥

सामान्यार्थ—द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायोंको अर्थ नामसे कहा गया है। इनमें गुण और पर्यायोंका सर्वस्व द्रव्य है ऐसा उपदेश है।

-अन्वय सहित विशेषार्थ-(दव्वाणि) द्रव्य, (गुणा) उनके सहभावी गुण व (तेसिं पज्जाया) उन द्रव्योंकी पर्यायें ये तीनों ही (अट्ठसण्णया) अर्थके नामसे (भणिया) कहे गए हैं। अर्थात् तीनोंको ही अर्थ कहते हैं। (तेसु) इन तीन द्रव्य गुण पर्यायोंमेंसे (गुणपज्जयाणं अप्पा) अपने गुण और पर्यायोंका सम्बन्धी स्वभाव (दव्वत्ति) द्रव्य है ऐसा उपदेश है। अथवा यह प्रश्न होनेपर कि द्रव्यका क्या स्वभाव है? यही उत्तर होगा कि जो गुण पर्यायोंका आत्मा या आधार है वही द्रव्य है वही गुण पर्यायोंका निजभाव है। विस्तार यह है कि जिस कारणसे शुद्धात्मा अनन्त ज्ञान अनंत सुख आदि गुणोंको तैसे ही अमूर्तिकपना, अतींद्रियपना, सिद्धपना आदि पर्यायोंको इयर्ति अर्थात् परिणमन करता है व आश्रय करता है इस लिये शुद्धात्मा द्रव्य अर्थ कहा जाता है तैसे ही जिस कारणसे ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायें अपने आधारभूत शुद्धात्मा द्रव्यको इयरति अर्थात् परिणमन करती हैं-आश्रय करती हैं, इसलिये वे ज्ञानगुण व सिद्धत्व आदि पर्यायें भी अर्थ कही जाती हैं। ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायोंका जो कुछ सर्वस्व है वही उनका निज भाव स्वभाव है और वह शुद्धात्मा द्रव्य ही स्वभाव है। अथवा यह प्रश्न किया जाय कि शुद्धात्मा द्रव्यका क्या स्वभाव है तो कहना होगा कि पूर्वमें कही हुई गुण और पर्यायें हैं। जिस तरह आत्माको अर्थ संज्ञा जानना उसी तरह अन्य द्रव्योंको व उनके गुण पर्यायोंको अर्थ संज्ञा है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने जिनवाणीके द्वारा जिन पदार्थोंको जानना है उनकी व्यवस्थाका कुछ सार बताया है, अर्थ शब्दको द्रव्य, गुण, पर्याय तीनोंमें घटाया है। इयर्ति इति अर्थः अर्थात् गुण पर्यायोंको आश्रय करे व परिणमन करे वह अर्थ अर्थात् द्रव्य है। इसी तरह इयरति इति अर्थाः जो द्रव्यको आश्रय करते हैं ऐसे गुण तथा द्रव्यके आधारमें परिणमन करनेवाली पर्यायें अर्थ हैं। द्रव्य गुण पर्यायोंका सर्वस्व है या समुदाय है। यह उपदेश श्री सर्वज्ञ भगवानका है। जैसे मिट्टी अपने चिकनेपने आदि गुणको व घड़े सकोरे प्याले आदि पर्यायको आश्रय करती है इससे मिट्टी अर्थ है, वैसे चिकनापना आदि गुण मिट्टीको आश्रय करते हैं इससे चिकनापना आदि गुण अर्थ हैं। इसी तरह घड़ा, सकोरा, मटकैना आदि पर्यायें मिट्टीको आश्रय करती हैं इसलिये ये घड़े आदि अर्थ हैं। मिट्टी अपने चिकनेपने आदि गुण व घड़ा आदि पर्यायोंका आधार है या सर्वस्व है इस लिये मिट्टी द्रव्य है। मिट्टीमें जितने सहभावी हैं वे गुण हैं और उन गुणोंमें जो समय समय सूक्ष्म या स्थूल परिणमन होता है वे पर्यायें हैं। जितनी पर्यायें मिट्टीके गुणोंमें होनी संभव हैं अर्थात् जितनी पर्यायें मिट्टी गुप्त हैं वे ही क्रमसे कभी कोई कभी कोई प्रगट होती रहती हैं। एक समयमें एक पर्याय रहेगी इसलिये पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। श्री उमास्वामी महाराजने भी तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" ॥ ५/३८ अर्थात् गुण पर्यायोंको आश्रय रखनेवाला द्रव्य है। आत्मा और अनात्मारूप छहों द्रव्योंमें अर्थपना और द्रव्यपना इसी तरह सिद्ध है। आत्माके ज्ञान सुख

वीर्य चारित्र सम्यक्तादि विशेष गुण, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण सदा साथ रहनेवाले गुण हैं। और मोक्षापेक्षा सिद्धपना आदि पर्याय हैं। सिद्ध भगवानका आत्मा अपने इन शुद्ध गुण पर्यायोंका आत्मा है, सर्वस्व है, आधार है इसलिये शुद्धात्मा द्रव्य है। इस कथनसे आचार्यने यह भी सिद्ध करदिया है कि द्रव्यमें न तो गुण बढ़ते हैं, न अपनी संख्यासे घटते हैं, उनमें प्रगटपना अप्रगटपना नाना निमित्तोंसे हुआ करता है इसीसे समय समय गुणोंकी स्वाभाविक या वैभाविक अवस्था विशेष जाननेमें आती है इसीको पर्याय कहते हैं। इसलिये वह चेतन द्रव्य जिसमें जडपना नहीं है कभी भी पलटते पलटते जड अचेतन नहीं हो सक्ता और न अचेतन जड़ द्रव्य पलटते पलटते कभी चेतन बन सक्ते हैं। चेतनकी पर्यायें चेतनरूप, अचेतनकी अचेतन रूप ही हुआ करेंगी। इसलिये अपनेमें जो जड़ चेतन नों एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रखते हुए दूध पानीकी तरह मिल उन दोनोंको हंसकी तरह अलग अलग जानो। चेतनके स्वाभाविक गुण पर्याय चेतनमे, जड़के स्वाभाविक गुणपर्यायें अचेतनमें। इस ही ज्ञानको सच्चा पदार्थज्ञान कहते हैं। तथा यही ज्ञान विवेकरूप कहा जाता है। इसी विवेकसे निज आत्मा पृथक् झलकता है, इसी झलकनको स्वानुभव व स्वात्मध्यान कहते हैं तथा यही आनंद और वीतरागताको देता है, यही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग है, यही बंध नाशक है, यही स्वतंत्रताका बीज है इस पदार्थ ज्ञानकी महिमाको श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसो रौष्ण्य शैत्यव्यवस्था ।
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ॥
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः ।
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥३/१५॥

भाव यह है कि पदार्थके यथार्थ ज्ञानसे ही गर्म पानीके भीतर गर्मी अग्निकी है, पानी शीतल होता है, यह बुद्धि होती है। एक नमकीन व्यंजनमें निमकपना लवणका तथा तरकारीका स्वाद अलग है यह ज्ञानपना प्रगट होता है इसी तरह आत्मा और अनात्माके विवेक ज्ञानसे ही अविनाशी चैतन्य प्रभु आत्मा भिन्न है तथा क्रोधादि विकारकी कलुषताको रखनेवाला सूक्ष्म कार्माण पुद्गल स्कंध अलग है यह तत्वज्ञान होता है, तब यह अज्ञान मिट जाता है कि मैं चेतन क्रोधादिका कर्ता हूं व क्रोधादि मेरे ही स्वाभाविक कार्य हैं। ऐसा भेदज्ञान होनेसे ही निज आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें प्रतीतिगोचर होते हुए अनुभवगोचर होता है। प्रयोजन यह है कि जिनवाणी द्वारा पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करके द्रव्योंके गुण पर्यायोंको पहचानना चाहिये तथा गुण गुणी अलग रहते हैं यह मिथ्या बुद्धि छोड़ देनी चाहिये, तब ही आत्माका हित होगा व निशंक ज्ञान होकर समताभावका उदय होगा।

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते हैं कि इस दुर्लभ जैनके उपदेशको पाकरके भी जो कोई मोह रागद्वेषोंको नाश करते हैं वे ही सर्व दुःखोंका क्षय करके निज स्वभाव प्राप्त करते हैं।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।९५।

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ९५ ॥

सामान्यार्थ–जो कोई जैन तत्त्वज्ञानके उपदेशको पाकर रागद्वेषोंको नाश करता है वह थोड़े ही कालमें सर्व दुःखोंसे मुक्ति पालेता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जो) जो कोई भव्य जीव (जोण्हमुवदेसं उवलद्ध) जैनके उपदेशको पाकर (मोहरागदोसे णिहणदि) मोह रागद्वेषको नाश करता है (स) वह (अचिरेण कालेण) अल्पकालमें ही (सव्वदुक्खमोक्खं पावदि) सर्व दुःखोंसे छूट जाता है । विशेष यह है कि जो कोई भव्यजीव एकेंद्रियसे विकलेंद्रिय फिर पंचेंद्रिय फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपनेकी परम्पराको समझकर अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाले जैन तत्वके उपदेशको पाकर मोह राग द्वेषसे विलक्षण अपने शुद्धात्माके निश्चल अनुभवरूप निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे अविनाभूत वीतराग चारित्ररूपी तीक्ष्ण खड्गको मोह राग द्वेष शत्रुओंके ऊपर पटकता है वह ही वीर पुरुष परमार्थरूप अनाकुलता लक्षणको रखनेवाले सुखसे विलक्षण सर्व दुःखोंका क्षय कर देता है यह अर्थ है ।

भावार्थ–आचार्यने इस गाथामें चारित्र पालनेकी प्रेरणा की है । तथा वृत्तिकारके भावानुसार यह बात समझनी चाहिये कि मनुष्य जन्मका पाना ही अति कठिन है । निगोद एकेन्द्रीसे

उन्नति करते हुए पंचेन्द्रिय शरीरमें आना बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी जिनेन्द्र भगवानका सार उपदेश मिलना दुर्लभ है। यदि कोई शास्त्रोंका मनन करेगा और गुरुसे समझेगा तथा अनुभवमें लायेगा तो उसे जिन भगवानका उपदेश समझ पड़ेगा। भगवानका उपदेश आत्माके शत्रुओंके नाशके लिये निश्चय रत्नत्रयरूप स्वात्मानुभव है। इसीके द्वारा रागद्वेष मोहका नाश हो सक्ता है। सिवाय इस खड्गके और किसीमें बल नहीं है जो इन अनादिसे लगे हुए आत्माके वैरियोंका नाश किया जावे। जो कोई इस उपदेशको समझ भी लेवे परन्तु पुरुषार्थ करके स्वात्मानुभव न करे तो वह कभी भी दुःखोंसे छूटकर मुक्त नहीं होसक्ता। जैसा यहां आचार्यने कहा है, वैसा ही श्री समयसारजीमें आपने इन रागद्वेष मोहके नाशका उपाय इस गाथासे सूचित किया है—

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावादि अचिरेण कालेण ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो कोई मुनि नित्य उद्यमवंत होकर निज आत्माकी भावनाको आचरण करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखोंसे छूट जाता है।

श्री योगेन्द्रदेवने श्री अमृताशीतिमें इसी बातकी प्रेरणा की है—

सत्साम्यभावगिरिगह्वरमध्यमेत्य ।
पद्मासनादिकमदोषमिदं च बद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि सखे ! परमात्मरूपं ।
त्वं ध्याय वेत्सि ननु येन सुखं समाधेः ॥ २८ ॥

भावार्थ--सच्चे समताभाव रूपी पहाड़की गुफाके मध्यमें जाकर और दोष रहित पद्मासन आदि कोई भी आसन बांधकर हे मित्र ! तू अपने आत्मामें अपने परमात्म रूपका ध्यान कर, जिससे अवश्य तू समाधिके आनंदको भोगेगा।

आचार्य कुलभद्रजीने सारसमुच्चयमें कहा है—

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥ ३१४ ॥

भाव यह है कि नित्य ही सुंदर आत्मज्ञानरूपी जलसे आत्माको स्नान कराना चाहिये, जिससे यह जीव जन्म जन्ममें भी निर्मलताको प्राप्त हो जावे। वास्तवमें यह जीव उपयोगको थिरकर भेदज्ञान द्वारा परको अलगकर निजको ग्रहण करता है तब ही वीतराग चारित्रके द्वारा मोहकर्मका नाश करता है। इस तरह द्रव्य, गुण, पर्यायके संबन्धमें मूढ़ताको दूर करनेके लिये ओंसे तीसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई ॥ ९५ ॥

उत्थानिका—आगे सूचित करते हैं कि अपने आत्मा और परके भेद विज्ञानसे मोहका क्षय होता है।

णाणप्पगमप्पाणं, परं च दव्वत्तणाहि संबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो, जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ९६ ॥

ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ॥ ९६ ॥

सामान्यार्थ-जो कोई यदि निश्चयसे अपने ज्ञान स्व-

रूप आत्माको तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थको अपने अपने द्रव्यपनेसे सम्बंधित जानता है वही मोहका क्षय करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(जो) जो कोई (णिच्छयदो) निश्चय नयके द्वारा भेदज्ञानको आश्रय करके (जदि) यदि (णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहि संबद्धं जाणदि) अपने ज्ञान स्वरूप आत्माको अपने ही शुद्ध चैतन्य द्रव्यपनेसे सम्बंधित तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थोंको यथायोग्य अपनेसे पर चेतन अचेतन द्रव्यपनेसे सम्बंधित जानता है या अनुभव करता है (सो मोहक्खयं कुणदि) वही मोह रहित परमानन्दमई एक स्वभावरूप शुद्धात्मासे विपरीत मोहका क्षय करता है।

भावार्थ-यहां आचार्यने भेद विज्ञानका प्रकार बताया है। पहले तो अनादिसे सम्बंधित पुद्गल और आत्माको अलग अलग द्रव्य पहचानना चाहिये। आत्माका चेतन द्रव्यपना आत्मामें तथा पुद्गलका अचेतन द्रव्यपना पुद्गलमें जानना चाहिये फिर अपने स्वाभाविक आत्म पदार्थसे सर्व अन्य आत्माओंको तथा अन्य पांच द्रव्योंको भी भिन्न२ जानना चाहिये इस तरह जब निश्चयनयके द्वारा द्रव्यदृष्टिसे जगतको देखनेका अभ्यास डाले तब इस देखनेवालेकी पर्यायदृष्टि गौण हो जाती है और द्रव्यदृष्टि मुख्य हो जाती है। तब द्रव्यदृष्टिमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव सब अपने२ स्वभावमें दिखते हैं। अनंत आत्माएं भी सब समान शुद्ध ज्ञानानंदमयी भासती हैं-तब समताकी भावना दृढ़ हो जाती है। रागद्वेष मोह अपने आप चले जाते हैं। मात्र पर्यायदृष्टिमें रागद्वेष मोह झल-

करते हैं। जैसे दूधपानी, सोनाचांदी, ताम्बापीतल व वस्त्र मैल मिले हुए भी भेदविज्ञानसे अलग अलग जाननेमें आते हैं वैसे ही चेतन और अचेतन मिले हुए होनेपर भी भिन्न२ जाननेमें आते हैं। भेदज्ञानके प्रतापसे निज आत्मा द्रव्यको अलग करके अनुभव किया जाता है तब ही मोहका नाश होता है। इस भेद विज्ञानकी महिमा स्वामी अमृतचंद्रजीने समयसारकलशमें इस भांति दी है—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
सभेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—शुद्धात्म तत्वके लाभसे यह संवर होता है सो लाभ भेद विज्ञानके द्वारा ही होता है इसलिये भेद विज्ञानको अच्छी तरह भावना चाहिये।

श्री नागसेन मुनिने भी तत्त्वानुशासनमें कहा है:—

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं ।
ज्ञ स्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

भावार्थ—ध्याता अपने आत्माको अपने आत्मा ही के द्वारा सर्व कर्म जनित भावोंसे भिन्न ज्ञान स्वभाव तथा वीतराग स्वरूप सदा अनुभव करे ॥ ९१ ॥

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें जिस स्व परके भेद विज्ञानकी बात कही है वह भेद विज्ञानके जिन आगमके द्वारा सिद्ध होसक्ता है ऐसा कहते हैं:—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९७ ॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥ ९७ ॥

सामान्यार्थ-इसलिये जिन भगवान कथित मार्गके द्वारा द्रव्योंमेंसे अपने आत्मा और पर द्रव्यको उनके गुणोंकी अपेक्षासे जाने, यदि आत्मा अपनेको मोह रहित करना चाहता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः-(तम्हा) क्योंकि पहले यह कह चुके हैं कि स्वपरके भेद विज्ञानसे मोहका क्षय होता है इसलिये (जिणमग्गादो) जिन आगमसे (दव्वेसु) शुद्धात्मा आदि छः द्रव्योंके मध्यमेंसे (गुणैः) उन उनके गुणोंके द्वारा (आदं परं च) आत्माको और परद्रव्यको (अभिगच्छदु) जाने, (जदि) यदि (अप्पा) आत्मा (अप्पणो) अपने भीतर (णिम्मोहं) मोह रहित भावको (इच्छदि) चाहता है। विशेष यह है कि जो यह मेरा चैतन्य भाव अपनेको और परको प्रकाशमान करनेवाला है उसी करके मैं शुद्ध ज्ञानदर्शन भावको अपना आत्मा रूप जानता हूं तथा पर जो पुद्गल आदि पांच द्रव्य हैं तथा अपने जीवके सिवाय अन्य सर्व जीव हैं उन सबको पररूपसे जानता हूं। इस कारणसे जैसे एक घरमें जलते हुए अनेक दीपकोंका प्रकाश यद्यपि मिल रहा है तथापि सबका प्रकाश अलग अलग है। इस ही तरह सर्वद्रव्योंके भीतरमें मेरा सहज शुद्ध

चिदानन्दमई एक स्वभाव अलग है उसका किसीके साथ मोह नहीं है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें भी आचार्यने शास्त्र पठन और भेद ज्ञानकी प्रेरणा की है। जो मार्ग या धर्म या उपाय संसारसे उद्धार होनेका श्री जिनेन्द्रोंने बताया है वही जिनवाणीमें ऋषियोंके द्वारा दर्शाया गया है। इसलिये जिन आगमका भले प्रकार अभ्यास करके लोक जिन छः द्रव्योंका समुदाय है उन छहों द्रव्योंको भले प्रकार उनके सामान्य विशेष गुणोंके द्वारा जानना चाहिये। उन द्रव्योंके गुण पर्यायोंको अलग अलग समझ लेना चाहिये। यद्यपि अनंत जीव, अनन्त पुद्गल, असंख्यात कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय तथा एक आकाशास्तिकाय परस्पर एक क्षेत्र रहते हुए इस तरह मिल रहे हैं जैसे एक घरमें यदि अनेक दीपक जलाए जांय तो उन सबका प्रकाश सब मिल जाता है तथापि जैसे प्रत्येक दीपकका प्रकाश भिन्न२ है, क्योंकि यदि एक दीपकको वहांसे उठा ले जावें तो उसीका प्रकाश उसके साथ अलग होकर चला जायगा, इसी तरह हरएक द्रव्य अपनी अपनी सत्ताको भिन्न २ रखता है कोईकी सत्ता कभी भी किसी अन्य द्रव्यकी सत्तासे मिल नहीं सक्ती ऐसा जानकर अपने जीव द्रव्यको सबसे अलग ध्यानमें लेना चाहिये तथा उसका जो कुछ निज स्वभाव है उसीपर लक्ष्य देना चाहिये। जीवका निज स्वभाव शुद्ध जलकी तरह निर्मल ज्ञाता दृष्टा वीतराग और आनन्द मई है वही मैं हूं ऐसा अनुभव करना चाहिये। मेरा सम्बन्ध या मोह किसी भी अन्य जीव व सर्व अचेतन द्रव्योंसे

नहीं है इसीको भेदज्ञान कहते हैं। इस भेदज्ञानके द्वारा जब आत्मानुभवका अभ्यास किया जाता है तब अवश्य मोहकी ग्रंथी टूट जाती है और यह आत्मा परम निर्मोही वीतरागी तथा शुद्ध होजाता है। जब भेद ज्ञान होजाता है तब ही सम्यक्त भाव प्रगट होजाता है और दर्शन मोहनीय उपशम या क्षय हो जाती है फिर कषायके उदयजनित राग द्वेषका अंत पुनः २ आत्म-भावना या साम्यभाव या शुद्धोपयोगके प्रतापसे हो जाता है। तब यह आत्मा पूर्ण वीतरागी हो जाता है।

ऐसी ही भावनाका उपदेश समयसारजीमें भी आचार्य महा-राजने किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७८ ॥

भाव यह है कि मैं एक अकेला निश्चयसे शुद्ध हूं, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण हूं मेरा किसीसे भी ममत्व नहीं है। इसी अपने स्वभावमें ठहरा हुआ, इसीमें लीन हुआ मैं इन सर्व मोहादिका क्षय करता हूं।

श्री आत्मानुशासनमें श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है:—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥
रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
तत्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥
मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभाव है, स्वभावकी प्राप्ति मोक्ष है, इसलिये मोक्षका चाहनेवाला ज्ञानभावनाको भावे। रागद्वेषसे हुई प्रवृत्ति व निवृत्तिसे इस जीवके कर्म बंध होता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा उन राग दोषोंसे मोक्ष होजाती है। जैसे बीजसे अंकुर फूटते हैं ऐसे ही मोहबीजसे रागद्वेष होते हैं इसलिये जो रागद्वेषको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी अग्नि जलाकर इन दोनोंको जला देना चाहिये।

इस तरह स्व परके ज्ञानमें मूढ़ताको हटाते हुए दो गाथाओंके द्वारा चौथी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

इस तरह पचीस गाथाओंके द्वारा ज्ञानकंठिकाका चतुष्टय नामका दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ९७ ॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते हैं दोष रहित अरहंत परमात्मा द्वारा कहे हुए पदार्थोंके श्रद्धानके विना कोई श्रमण या साधु नहीं होसक्ता है। ऐसे श्रद्धारहित साधुमें शुद्धोपयोग लक्षणको धरनेवाला धर्म भी संभव नहीं है।

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो, तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥ ९८ ॥

सत्तासंबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्दधाति न स श्रमणः ततो धर्मो न संभवति ॥ ९८ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई जीव निश्चयसे साधु अवस्थामें सत्ता भावसे एक संबद्धरूप तथा विशेष भावसे भिन्न २ सत्ता सहित इन पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करता है वह भाव साधु नहीं

है-उस द्रव्य साधुसे धर्मका साधन संभव नहीं है।

अन्वय सहित विशेषार्थ- (जो) जो कोई जीव (हि) निश्चयसे (सामण्णे) द्रव्य रूपसे साधु अवस्थामें विराजमान होकर भी (सत्तासंबद्धेदे सविसेसे) महासत्ताके संबंधरूप सामान्य अस्तित्व सहित तथा विशेष सत्ता या अवान्तर सत्ता या अपने स्वरूपकी सत्ता सहित विशेष अस्तित्व सहित इन पूर्वमें कहे हुए शुद्ध जीव आदि पदार्थोंको (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (सो सवणो ण) वह अपने शुद्ध आत्माकी रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक परम सामायिक संयम लक्षणको रखनेवाले साधुपनेके विना भावसाधु नहीं है, इस तरह भावसाधुपनेके अभावसे (तत्तो धम्मो ण संभवदि) उस पूर्वोक्त द्रव्यसाधुसे वीतराग शुद्धात्मानुभव लक्षणको धरनेवाला धर्म भी नहीं पालन हो सक्ता है यह सूत्रका अर्थ है।

भावार्थ-यहां आचार्यने भावकी प्रधानतासे व्याख्यान किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि यथायोग्य भावके विना साधुपना मोक्षका मार्ग नहीं है और न उससे मोक्ष ही प्राप्त हो सक्ता है। हरएक मनुष्यको जो धर्मपालन करना चाहे सम्यक्तकी आवश्यक्ता है। सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र सम्यग्चारित्र नहीं होसक्ता है। इसलिये लोकमें जिन छः द्रव्योंका कथन श्री जिन आगममें बताया है उनका यथार्थ श्रद्धान होना चाहिये। जगतमें पदार्थोंकी सत्ता सामान्य विशेषरूप है। जैसे हाथी शब्दसे सामान्यपने सब हाथियोंका बोध होता है परंतु विशेषपने प्रत्येक हाथीकी सत्ता भिन्न २ है। वृक्ष कहनेसे

सर्व वृक्षोंकी सत्ता जानी जाती है, तथापि प्रत्येक वृक्ष अपनी भिन्न २ सत्ता रखता है। इसी तरह द्रव्योंमें जो सामान्य गुण व्यापक हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व उन सबकी अपेक्षा द्रव्य एकरूप है तथापि अनेक द्रव्य होनेसे सब द्रव्य अपने भिन्न २ अस्तित्वको व वस्तुत्व आदिको भी रखते हैं। इस भेदको जानना चाहिये, जैसे महासत्ता एक है तथा अवान्तर सत्ता अनेक है। महावस्तु एक है। विशेष वस्तु अनेक है। इसके सिवाय विशेष गुणोंकी अपेक्षा छः द्रव्योंके भेदको भिन्न २ जानना चाहिये। सजातीय अनेक द्रव्योंमें हरएककी सत्ताको भिन्न २ निश्चय करना चाहिये जैसे प्रत्येक जीव स्वभावकी अपेक्षा परस्पर समान हैं परन्तु भिन्न २ सत्ताको सदा ही रखते रहते हैं, चाहे संसार अवस्थामें हों या मुक्तिकी अवस्थामें हों। पुद्गलके परमाणु यद्यपि मिलकर स्कंध होजाते हैं तथापि प्रत्येक परमाणु अपनी अपनी भिन्न २ सत्ता रखता है जो परस्पर एक क्षेत्रमें रहते हुए द्रव्योंके सामान्य विशेष स्वभावोंको निश्चय करके अपने आत्माको अपनी बुद्धिसे भिन्न पहचान लेता है वही सम्यग्दृष्टी व श्रद्धावान है। वही क्षीर जलकी तरह पुद्गलसे मिश्रित अपने जीवको अलग कर लेता है। इसी श्रद्धावानके सच्चा भेद ज्ञान होता है, और यही जीव साधुपदमें तिष्ठकर अपने आत्माको भिन्न ध्याता हुआ शुद्धोपयोग या साम्यभाव पर आरूढ़ होकर कर्मबंधका क्षय कर सक्ता है। यही धर्मसाधक है क्योंकि निश्चयसे अभेदरत्नत्रय स्वरूप अपना आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका मात्र

निमित्त कारण है। इसलिये जिस साधुके भावमें निश्चय धर्म नहीं है वह द्रव्य लिंगी है–भावलिंगी नहीं है। भाव लिंगी हुए विना वह परम सामायिक संयम जो वीतराग भावरूप तथा निज आत्मामें तल्लीनता रूप है नहीं प्राप्त हो सक्ता है। जहां सामायिक संयम नहीं वहां मुनिपना कथन मात्र है। साधुपदमें उसी बातको साधन करना है जिसका अपनेको श्रद्धान है। जो निज आत्माको सबसे भिन्न पहचानता है वही भेद भावनाके अभ्याससे निजको परसे छुड़ा सक्ता है। जैसे जो सुवर्णकी कणिकाओंको पहचानता है वही उन कणिकाओंको मिट्टीकी कणिकाओंके मध्यमेंसे चुन सक्ता है इसलिये भावकी प्रधानता ही कार्यकारी है ऐसा निश्चय रखना चाहिये। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र आचार्यने समयसार कलशमें कहा है:—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ॥
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्यसारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥ — ॥
ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथ प्रस्थापिते नात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुला लोकं स्वभावप्रभा
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥ ४८ ॥
व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥४९॥

भावार्थ–निश्चय करके सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप एक यह आत्मा ही मोक्ष मार्ग है जो कोई इसीमें रात्रि दिन ठहरता

है, उसीको ध्याता है, उसीका अनुभव करता है तथा उसीमें ही अन्य द्रव्योंको न स्पर्श करता हुआ विहार करता है सो ही अवश्य शीघ्र नित्य उदयरूप शुद्धात्माको प्राप्त कर लेता है। जो कोई व्यवहार मार्गमें अपनेको स्थापित करके इस निश्चय मार्गको छोड़कर द्रव्यलिंगमें ममता करते हैं और तत्त्वज्ञानसे रहित हो जाते हैं वे अब भी नित्य उद्योतरूप, अखंड, एक, अनुपमज्ञानमई स्वभावसे पूर्ण तथा निर्मल समयसारको नहीं अनुभव करते हैं। जो व्यवहार मार्गमें मूढ़ बुद्धि हैं वे मनुष्य निश्चयको नहीं अभ्यास करते हैं और न परमार्थको पाते हैं, जैसे जो चावलकी भूसीमें चावलोंका ज्ञान रखते हैं वे सदा तुषको ही चावल जानते हुए तुषका ही लाभ करते हैं, चावलको कभी नहीं पाते हैं।

श्री योगेन्द्राचार्यने योगसारमें यही कहा है—

जो अप्पा सुद्ध वि मुणइ असुइसरीरविभिण्णु।
सो जाणइ सत्थइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ॥९४॥
जो ण वि जाणइ अप्प परु ण वि परभाव चएवि।
जो जाणउ सत्थइ सयलु ण हु सिवसुक्ख लहेवि ॥९५॥
हिंसादिउ परिहारकरि जो अप्पाहु ठवेइ।
जो बीअउ चारित्त मुणि जो पंचमगइ णेइ ॥१००॥

भावार्थ—जो अपने आत्माको अशुचि शरीरसे भिन्न शुद्ध रूप ही अनुभव करता है वही अविनाशी अतींद्रिय सुखमें लीन होता हुआ सर्व शास्त्रोंको जानता है। जो आत्मा अनात्माको नहीं पहचानता है और न परभावको ही त्यागता है वह सर्व शास्त्रोंको जानता हुआ भी नहीं जानता हुआ मोक्ष सुखको नहीं

पाता है। जो साधु हिंसादि पांच पाप त्यागकर अपने आत्माको स्थिर करता है उसीके अनुपम चारित्र होता है और वही पंचम गतिको ले जाता है। ऐसा जान शुद्धोपयोगको ही धर्म जान उसी हीकी निरंतर भावना करनी योग्य है ॥ ९८ ॥

उत्थानिका–आगे आचार्य महाराजने पहली नमस्कारकी गाथामें " उवसंपयामि सम्मं " आदिमें जो प्रतिज्ञा की थी। उसके पीछे " चारित खलु धम्मो " इत्यादि सूत्रसे चारित्रके धर्मपना व्यवस्थापित किया था तथा " परिणमदि जेण दव्वं " इत्यादि सूत्रसे आत्माके धर्मपना कहा था इत्यादि सो सब शुद्धोपयोगके प्रसादसे साधने योग्य है। अब यह कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रयमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि सम्यक्तके विना मुनि नहीं होता है, ऐसे मिथ्यादृष्टी श्रमणसे धर्म सिद्ध नहीं होता है, तब फिर किस तरह श्रमण होता है ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हुए इस ज्ञानाधिकारको संकोच करते हैं।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो॥ ९९

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ॥९९॥

सामान्यार्थ–जिसने दर्शन मोहको नष्ट कर दिया है, जो आगम ज्ञानमें कुशल है व वीतराग चारित्रमें लीन है तथा महात्मा है वही मुनि धर्म है ऐसा कहा गया है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो समणो) जो साधु (णिहदमोहदिट्ठी) तत्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्तके द्वारा उत्पन्न निश्चय सम्यग्दर्शनमें परिणमन करनेसे दर्शन मोहको नाश कर चुका है, (आगमकुसलो) निर्दोष परमात्मासे कहे हुए परमागमके अभ्याससे उपाधि रहित स्वसंवेदन ज्ञानकी चतुराईसे आगमज्ञानमें प्रवीण है (विरागचरियम्मि अब्भुट्ठिदो व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाहरी चारित्रके साधनके वशसे अपने शुद्धात्मामें निश्चल परिणमनरूप वीतराग चारित्रमें वर्तनेके द्वारा परम वीतराग चारित्रमें भले प्रकार उद्यमी है तथा (महप्पा) मोक्ष रूप महा पुरुषार्थको साधनेके कारण महात्मा है वही (धम्मोत्ति विसेसिदो) जीना, मरना, लाभ, अलाभ आदिमें समताकी भावनामें परिणमन करनेवाला श्रमण ही अभेद नयसे मोह क्षोभ रहित आत्माका परिणामरूप निश्चय धर्म कहा गया है।

भावार्थ-जो प्रतिज्ञा श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराजने पहले की थी कि शुद्धोपयोग या साम्यभावका मैं आश्रय करता हूं, उसीका वर्णन पूर्ण करते हुए इस गाथामें बताया है कि व्यवहार रत्नत्रय द्वारा प्राप्त निश्चय रत्नत्रयमें तिष्ठनेवाला जो शुद्धोपयोग या साम्यभावका धारी साधु है वही सच्चा साधु है तथा वही धर्मात्मा है, वही महात्मा है, वही मोक्षका पात्र है, वही परमात्माका पद अपनेमें प्रकाश करेगा। इस गाथाको कहकर आचार्यने व्यवहार व निश्चय रत्नत्रयकी उपयोगिताको बहुत अच्छी तरह बता दिया है। तथा यह भी प्रेरणा की है कि जो स्वाधीन होकर निज आत्मीक सम्पत्तिका विना किसी बाधाके सदा ही

भोग करना चाहते हैं उनको प्रथम शास्त्रज्ञानसे तत्वार्थ श्रद्धान प्राप्तकर निश्चय क्षायिक सम्यक्त प्राप्त करना चाहिये, फिर आगमके अधिक अभ्याससे ज्ञान वैराग्यको बढ़ाते हुए व्यवहार चारित्रके द्वारा वीतराग चारित्रको साधन करना चाहिये। यही साक्षात मोक्षमार्ग है। यही रत्नत्रयकी एकता है तथा यही स्वात्मानुभव है व यही निर्विकल्प ध्यान है। यही परिणाम कर्मकाष्टके भस्म करनेको अग्निके समान है।

श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमें कहा है:—

दृगवगमनवृत्तस्वस्वरूपप्रविष्टो ।
ब्रजति जलधिकल्पं ब्रह्मगम्भीरभावं ।
त्वमपि सुनयमत्वान्मद्वचस्सारमस्मिन् ।
भवसि भव भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥ ६३ ॥
यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसङ्गः ।
तदनवरतमन्तर्मग्नसंविग्नचित्तो ।
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥ ६४ ॥

भावार्थ-दर्शन ज्ञान चारित्रमई अपने स्वरूपमें प्रवेश किया हुआ यह आत्मा समुद्र समान ब्रह्मके गंभीर भावमें चला जाता है। तू भी मेरे सार वचनको अच्छी तरह मानकर यदि चले तो तू संसारका अंतकर मोक्षधामका स्वामी हो जावे, यदि कहीं अपने निज स्वरूपसे मन चल जाय तो बाहर ही घूमता है, जिससे सर्व दोषोंका प्रसंग आता है। इससे निरंतर अंतरंगमें मग्नचित्त होता हुआ तू सिद्धधामका पति होजा॥९९॥

उत्थानिका-आगे ऐसे निश्चय रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाले महा मुनिकी जो कोई भक्ति करता है उसके फलको दिखाते हैं-

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि॥

यो तं दृष्ट्वा तुष्टः अभ्युत्थित्वा करोति सत्कारं।
वंदननमनादिभिः ततः सो धर्ममादत्ते॥ १००॥

सामान्यार्थ-जो कोई ऐसे साधुको देखकर संतोषी होता हुआ उठकर वंदन नमस्कार आदिके द्वारा सत्कार करता है वह उस साधुके द्वारा धर्मको ग्रहण करता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जो तं दिट्ठा तुट्ठो) जो कोई भव्योंमें प्रधान वीतराग शुद्धात्माके अनुभवरूप निश्चय धर्ममें परिणमनेवाले पूर्व सूत्रमें कहे हुए मुनीश्वरको देखकर पूर्ण गुणोंमें अनुरागभावसे संतोषी होता हुआ (अब्भुट्ठित्ता) उठकर (वंदण-णमंसणादिहिं सक्कारं करेदि) "तव सिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वंदना तथा "णमोस्तु" रूप नमस्कार इत्यादि भक्तिविशेषोंके द्वारा सत्कार या प्रशंसा करता है (सो तत्तो धम्ममादियदि) सो भव्य उस यतिवरके निमित्तसे पुण्यको प्राप्त करता है।

भावार्थ-द्रव्य और भाव लिंगधारी साधु ही यथार्थमें भक्ति करनेके योग्य हैं। उनकी भक्तिमें भीतरसे जो प्रेमरूप आसक्ति होती है वही बाहरी भक्तिको वचन तथा कायके द्वारा प्रगट कराती है। उस शुभ भावके निमित्तसे महान पुण्यका लाभ

होता है। इसके सिवाय उनका उपदेश व उनकी शांत मुद्रा हमें उसी शुद्धोपयोगरूप धर्मको सिखाती है जिसे ग्रहणकर हम भी मोक्षका साधन कर सकें ॥ १०० ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि उस पुण्यसे परभवमें क्या फल होता है:-

तेण णरा व तिरिच्छा, देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा
होंति ॥ १०१ ॥

तेन नरा वा तिर्यञ्चो देवीं वा मानुषीं गतिं प्राप्य।
विभवैश्वर्याभ्यां सदा संपूर्णमनोरथा भवंति ॥ १०१ ॥

सामान्यार्थ-उस पुण्यसे मनुष्य या तिर्यंच देव या मनुष्यकी गतिको पाकर विभूति व ऐश्वर्य्यसे सदा सफल मनोरथ होते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(तेण) उस पूर्वमें कहे हुए पुण्यसे (णरा वा तिरिच्छा) वर्तमानके मनुष्य या तिर्यंच (देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा) मरकर अन्यभवमें देव या मनुष्यकी गतिको पाकर (विहविस्सरियेहिं सया संपुण्ण मणोरहा होंति) राजाधिराज संबंधी रूप, सुन्दरता, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदिसे पूर्ण विभुति तथा आज्ञारूप ऐश्वर्य्यसे सफल मनोरथ होते हैं। वही पुण्य यदि भोगोंके निदान विना सम्यक् दर्शन पूर्वक होता है तो उस पुण्यसे परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह भावार्थ है।

भावार्थ–आचार्यने इस गाथामें उपासकके लिये धर्म सेवनका फल बताया है तथा यह भी प्रगट किया है कि मोक्षका साक्षात् लाभ वही साधु कर सक्ता है जो निश्चय रत्नत्रयमें लीन होकर शुद्धोपयोगमें स्थिर होता है। वीतराग चारित्रके विना कर्मोका दहन नहीं हो सक्ता है। तब जो गृहस्थ हैं या चौथे पांचवें गुणस्थान धारी हैं उनको क्या फल होगा? इसके लिये कहा है कि वे मनुष्य या पंचेन्द्री सैनी पशु अतिशयकारी पुण्य बांधकर स्वर्गमें जाते हैं, वहांसे आकर उच्च मनुष्यके पद पाकर मुनि हो मोक्ष जाते हैं, अथवा कोई इसी भावके पीछे मनुष्य हो मुनिव्रत पाल मोक्ष जाते हैं। उपासक या श्रावकका धर्म परम्परा मोक्ष साधक है जब कि साधुका धर्म साक्षात मोक्ष साधक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सब ही साधु उसी भवसे मोक्ष पा सक्ते हैं, किन्तु यह है कि यदि मोक्ष होगी तो साधु पदमें परम शुक्लध्यान द्वारा ही मोक्ष होगी। वास्तवमें इस शुद्धोपयोगकी भक्ति भी परमकार्यकारी है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य वृत्ति टीकामें पूर्वमें कहे प्रमाण " एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं " इस गाथाको आदि लेकर ७२ बहत्तर गाथाओंमें शुद्धोपयोगका अधिकार है फिर " देवदजदि गुरु पूजासु " इत्यादि पचीस गाथाओंसे ज्ञानकंठिका चतुष्टय नामका दूसरा अधिकार है फिर " सत्तासंबद्धेदे " इत्यादि सम्यक्दर्शनका कथन करते हुए प्रथम गाथा, तथा रत्नत्रयके धारी पुरुषके ही धर्म संभव है ऐसा कहते हुए " जो णिहदमोहदिट्ठी " इत्यादि

दूसरी गाथा है इस तरह दो स्वतंत्र गाथाएं हैं। उस निश्चय धर्मधारी तपस्वीकी जो कोई भक्ति करता है उसका फल कहते हुए "जो तं दिट्ठा" इत्यादि गाथाएं दो हैं, इस तरह दो अधिकारोंसे व पृथक् चार गाथाओंसे सब एकसौ एक गाथाओंसे यह ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक नामका प्रथम महा अधिकार समाप्त हुआ।
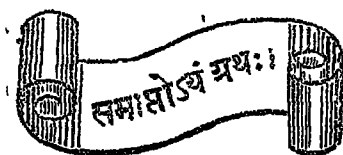
इस ग्रंथके ज्ञानतत्त्व नामके महा अधिकारका सारांश।

आचार्य महाराजने ग्रन्थके आदिमें ही यह प्रतिज्ञा की है कि मैं साम्यभावरूप शुद्धोपयोगका आश्रय लेता हूं, क्योंकि उसीसे निर्वाणका लाभ होता है इसी बातको इस अधिकारमें अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। निश्चय रत्नत्रयकी एकता मोक्ष-मार्ग है। जहां ऐसा परिणाम है उसीको वीतराग चारित्र या मोह क्षोभ रहित साम्यभाव या शुद्ध उपयोग कहते हैं। यह आत्मा परिणामी है, इसके तीन प्रकारके परिणाम हो सक्ते हैं—शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। शुद्धोपयोग मोक्षसाधक है। मंदक-षायरूप, अर्हत् भक्ति रूप, दान पूजा वैयावृत्य परोपकाररूपभाव शुभोपयोग है, जिससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। और हिंसा, असत्य, तीव्र विषयानुराग, आर्त्तपरिणाम, अपकार आदि तीव्र कषाय रूप परिणाम अशुभोपयोग है—यह नर्क या तिर्यंच या कुमानुषके जन्ममें प्राप्त करानेवाला है, अत: यह सर्वथा त्यागने योग्य है। तथा शुभोपयोग, शुद्धोपयोगके लाभके लिये तथा शुद्धोपयोग साक्षात् ग्रहण करने योग्य है। आत्माका निज आनन्द जो निराकुल तथा स्वाधीन है, शुद्धोपयोगके द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी शुद्धोपयोगके द्वारा यह आत्मा स्वयं अर्हंत परमात्मा होजाता है। ऐसे केवलज्ञानीके क्षुधा तृषा आदिकी बाधा नहीं होती है और न इच्छापूर्वक वचन तथा कायकी क्रियाएं होती हैं, क्योंकि उनके मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो

गया है। उनके तथा अन्य जीवोंके पुण्य कर्मके उदयसे विना इच्छाके ही प्रभुकी वाणी खिरती है व उपदेशार्थ विहार होता है। केवलज्ञानीके अतींद्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष होता है जिसकी महिमा वचन अगोचर है, उस ज्ञानमें सर्व जानने योग्य सर्व द्रव्योंके सर्व गुण पर्याय एक समयमें विना किसी क्रमके झलकते हैं। उनको जाननेके लिये किसी तरहका खेद नहीं करना पडता है और न इंद्रियोंकी सहायता ही लेनी पड़ती है, न कोई आकुलता ही होती है-वह केवलज्ञानी पूर्णपने निराकुल रहते हैं-उनका ज्ञान यद्यपि प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्माके ही भीतर है परन्तु सर्व जाननेकी अपेक्षा सर्व गत या सर्वव्यापी है। इसी सर्वव्यापी ज्ञानकी अपेक्षासे केवली भगवानको भी सर्वव्यापी कह सके हैं। केवली महाराजके अनंत सुख भी अपूर्व है जिसमें कोई पराधीनता, विसमता व क्षणभंगुरता व अन्तपना नहीं है। वह सुख प्रत्यक्ष आत्माका स्वभाव है, इन्द्रियोंके द्वारा सुख वास्तवमें दुःख है क्योंकि दुःखोंके कारण कर्मोंको बांधनेवाला है, पराधीन है, अतृप्तिकारी है, क्षणभंगुर है और नाश सहित है। केवली महाराज प्रत्यक्ष ज्ञान व सुखके भंडार हैं। शुद्धोपयोगके फलसे केवली परमात्मा हो फिर शेष कर्म नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं। यह शुद्धोपयोग श्रुतज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। श्रुतज्ञान शास्त्रोंके द्वारा वैसा ही पदार्थोंका स्वरूप जानता है जैसा केवली महाराज जानते हैं अंतर मात्र परोक्ष या प्रत्यक्षका है। तथा परोक्ष श्रुतज्ञान अपूर्ण है अस्पष्ट है जब कि केवलज्ञान पूर्ण और स्पष्ट है तथापि

आत्मा और अनात्माका स्वरूप जैसे केवलज्ञानी जानते हैं वैसा ही श्रुतज्ञानी जानते हैं। इसी यथार्थ आगम ज्ञानके द्वारा भेद विज्ञान होता है तब अपने आत्माका सर्व अन्य द्रव्योंसे पृथक् पनेका निश्चय होता है, ऐसा निश्चय करके जब कोई आगममें कुशलता रखता हुआ मोहके कारणोंको त्यागकर निर्ग्रंथ हो अपने उपयोगको शुद्धात्माके सन्मुख करता है तब वह निश्चय रत्नत्रयकी एकता रूप शुद्धोपयोगको पाता है। यह आत्मा कूटस्थ नहीं है किंतु परिणमनशील है। जब यह शुद्ध भावमें न परिणमन करके रागद्वेष मोह रूप परिणमन करती है तब इसके कर्मोंका बंध होता है, जिस बन्धसे यह जीव संसारसागरमें गोता लगाता हुआ चारों गतियोंमें महादुःखको प्राप्त होता है, इसलिये आचार्यने शिक्षा दी है कि मोहका नाश करके फिर रागद्वेषका क्षय करना चाहिये। जिसके लिये जिन आगमके अभ्यासको बहुत ही उपयोगी बताया है और बारबार प्रेरणा की है कि जो मोक्षका स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहता है उसको शास्त्रका पठन व मनन अच्छी तरह करके छः द्रव्योंके सामान्य व विशेष स्वभावोंको अलग २ पहचानना चाहिये। और फिर निज आत्माका स्वभाव भिन्न देखकर उसको पृथक् मनन करना व उसका ध्यान करना चाहिये। आत्मध्यान ही रागद्वेष मोहका विलय करनेवाला है।

स्वामीने यह भी बताया है कि आत्मामें सुख स्वभावसे ही है। जो सुख इंद्रियोंके द्वारा मालूम होता है वह भी अपनी कल्पनासे रागके कारणसे भोगनेमें आता है। शरीर व विषयके

पदार्थ सुख नहीं देते हैं। सांसारिक सुख भोगनेकी एक प्रकारकी तृष्णाकी दाह होती है उसकी शांतिके लिये इन्द्रादिक देव व चक्रवर्ती आदि भी विषयसुख भोगते हैं परन्तु वह तृष्णा विषयभोगसे कभी भी शांत नहीं होती है उलटी बढ़ती जाती है। उसकी शांतिका उपाय निज आत्माके मननसे उत्पन्न समतारूपी अमृतका पान है। आत्मसुख उपादेय है, विषयसुख हेय है, ऐसा जो श्रद्धानमें लाता है वही सम्यग्दृष्टी है। वही मोहका नाशकर देहके द्वारा होनेवाले सर्व दुःखोंको मेट देता है। जो अरहंत परमात्माके द्रव्यगुण पर्यायको पहचानता है वही अपने आत्माको जानता है। जो निश्चय नयसे अपने आत्माको जानकर भेदज्ञानके द्वारा आपमें ठहर जाता है वही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षके कारण भावको प्राप्तकर लेता है। ऐसे भावको समझकर जो साधु अवस्थामें साधुका चारित्र पालता हुआ वीतराग चारित्ररूप होकर निजानन्दका स्वाद पाता है वही यथार्थमें भाव मुनि है। जिसके निश्चय चारित्र नहीं है वह द्रव्यलिंगी है तथा मोक्षमार्गमें गमन करनेवाला नहीं है। श्री अरहंत भगवान और भावश्रमण ही वारंवार नमस्कार करने व भक्ति करनेके योग्य हैं। उपासक इनकी यथार्थ सेवा करके पुण्य बांध उत्तम देव या मनुष्य होकर परम्पराय मोक्षके पात्र होजाते हैं।

इस ग्रन्थमें आचार्यने शुद्धोपयोग या साम्यभावकी यत्रतत्र महिमा कहकर रागद्वेष मोह तज आत्मज्ञान व आत्मध्यान करनेकी ओर जीवको लगाकर समताके रमणीक परम शांतसमुद्रमें स्नान करनेकी प्रेरणा की है। यही इस ग्रन्थका सार है। जो कोई वारवार इस भाषाटीकाको पढ़ेंगे उनको आत्मलाभ होगा।

भाषाकारका परिचय।

दोहा।

श्री कुंदकुंद भगवान कृत, प्राकृत ग्रंथ महान।
तत्त्वज्ञानसे पूर्ण है, परमानंद निधान ॥ १ ॥
ताकी संस्कृत वृत्ति यह, कर्ता श्री जयसेन।
परमज्ञान रस दान है, सहजहि बोध सुदेन ॥ २ ॥
ताकी भाषा देख नहिं, उपजो ऐसाभाव।
भाषामें कर दीजिये, प्रगटे ज्ञान स्वभाव ॥ ३ ॥
अग्रवाल शुभ वंशमें, गोयल गोत्र मंझार।
मंगलसेन ज्ञानी महा, करत धर्म विस्तार ॥ ४ ॥
पुत्र हैं मक्खनलालजी, तिनका मैं हूं पुत्र।
सीतल नाम प्रख्यात है, सुखसागर भी कुत्र ॥ ५ ॥
जन्म लक्ष्मणापुरीमें, अवध प्रान्त सुखकार।
पढ़ विद्या इंग्लिश सहित खुलो हृदय संसार ॥ ६ ॥
विक्रम पैंतिस उणविसा, जन्म वैश्य गृहधार।
गृह व्यापार हटाय सब, बत्तिस वरष मंझार ॥ ७ ॥
गृहत्यागी श्रावक दशा, सुखसे बीतत सार।
निज आतम अनुभव रहे, नित निज हृदय मंझार ॥ ८ ॥
जिन वाणी अभ्यासमें, अध्यातम एक रत्न।
जिन चीन्हा निज प्रेमसे, किया योगका यत्न ॥ ९ ॥
ताकी रुची की प्रेरणा, भई अपार महान।
आत्म धर्म गृहि धर्म वर, लिखे ग्रंथ गुणखान ॥ १० ॥

समयसार आगम परम, नियमसार सुखदाय।
भाषाटीका रच करो, निज अनुभूति उपाय ॥ ११ ॥
आनन्द अनुभव लेस बहु, और स्वसमरानन्द।
लिखे स्व अनुभव कारणे, भोग्यो निज आनन्द ॥ १२ ॥
पूज्यपाद स्वामी रचित, शतकसमाधि सार।
इष्ट उपदेश महानकी, टीका रची सम्हार ॥ १३ ॥
इत्यादिक कुछ ग्रंथको, पुद्गल शब्द मिलाय।
निज मति परखन कारणे, लिखे परम हरषाय ॥ १४ ॥
विक्रम संवत उनअसी, उन्निससैमें जाय।
कलकत्ता नगरी रह्यो, अवसर वर्षा पाय ॥ १५ ॥
व्यापारी जहं बहुत हैं, धन कण बुद्धि पूर।
आकुलता सागर बनो, उद्यमसे भरपूर ॥ १६ ॥
बृटिश राज्य या देशमें, द्वादश लख समुदाय।
करत सुनिज निज कार्यको, पाप पुण्य फल पाय ॥ १७ ॥
कई सहस जैनी तहां, लक्ष्मी उद्यम लाग।
रहत करत कुछ भक्ति भी, जिन मतकी धर राग ॥ १८ ॥
श्री जिन मंदिर चार तहं, एक चैत्य गृह जान।
नित प्रति पूजा होत जहं, शास्त्र पठन गुणदान ॥ १९ ॥
विद्वद्वर पंडित तहां, श्री जयदेव प्रवीण।
शास्त्र पठनमें चित्त हैं, निज अनुभवमें लीन ॥ २० ॥
संस्कृत विद्या सार धर, झम्मनलाल श्रीलाल।
और गजाधरलाल हैं, नयविद् मक्खनलाल ॥ २१ ॥

अग्रवाल शुभ वंशमें, मुख्य सेठ दयाचंद ।
वृद्धिचन्द बैजनाथजी, रामचंद फूलचंद ॥ २१ ॥
खंडेलवालके वंशमें, मुख्य सेठ रामलाल ।
रामचंद अर चैनसुख, मल गंभीर दयाल ॥ २३ ॥
जैसवाल परवार भी, आदि बसत समुदाय ।
औषधि दाता गुण उदधि, मुन्नालाल सहाय ॥ २४ ॥
आनन्द बार सुप्रेमसे, चर्चा धरम बढ़ाय ।
चार मास अनुमान तहं, रहे सुसंगति पाय ॥ २५ ॥
प्रवचनसार विशाल यह आरंभ्यो तहं ग्रन्थ ।
निज आतम अभ्यासको, खोला अनुपम पंथ ॥ २६ ॥
समय पाय पूरण कियो, एक अध्याय महान ।
फागुन सुदि चौदश दिना, वार शुक्र अमलान ॥ २७ ॥
रांची जिला विशालमें, है तमाड़ एक प्रांत ।
प्राचीन श्रावक बसें, धर्म बोध बिन शांत ॥ २८ ॥
धर्म सुपथकी प्रेरणा, कारण आयो धाय ।
आदोडिह एक ग्राममें, ठहरो मन उमगाय ॥ २९ ॥
श्री जिन प्रतिमा थाप तहं, केशो गृह रुचि पाय ।
ग्रंथ सुपूरण तहं कियो, परमानंद बढ़ाय ॥ ३० ॥
भरधाना ठाकुर यहां, राम सुजीवन सिंह ।
गुणधारी सज्जनसिंह, भक्त वृद्ध मनिसिंह ॥ ३१ ॥
समता शांति सु आतम सुख-को निमित्त यह ठाम ।
तातें नित धर्मीनिसे, पूर्ण रहे यह धाम ॥ ३२ ॥

मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान।
मंगल साधु समूह हैं, मंगल जिन वृष जान ॥ ९३ ॥
भाव द्रव्यसे नमनकर, भाव धरूं यह सार।
नर नारी या ग्रन्थको, पढ़ सुन हों दुःख पार ॥ ९४ ॥
पहचाने निज तत्त्वको, ज्ञान स्वसुख भंडार।
अनुभव करें निजात्मका, ध्यान धरें अविकार ॥ ९५ ॥

इस महान ग्रंथ श्री प्रवचनसारके प्रथम अध्यायकी **ज्ञान तत्त्वदीपिका** नाम भाषाटीका मिती फागुन सुदी १४ की रात्रिको सवेरा होते होते ५ बजे रांची प्रांतके तमाड़ पोष्टके **जादोडिह** ग्राममें पूर्ण की।

शुभं भवतु, कल्याणं भवतु, आत्मानुभवो भवतु।

धर्म रसिकोंका सेवक—

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद।

तारीख २ मार्च १९१३ वार शुक्र वीर सं० २४४९